महामात्य चाणक्य

धूमकेतु

ओ३म्

महामात्य चाणक्य

[मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास]

लेखक :

'धूमकेतु'

अनुवादक :

आ० विभुदेव

प्रकाशक

सत्यधर्म प्रकाशन

सत्य सनातन वेद मन्दिर आश्रम

डी-12, सैक्टर-8, रोहिणी, दिल्ली

सम्पर्क : 09213326552

प्रकाशक :

सत्यधर्म प्रकाशन

सत्य सनातन वेद मन्दिर आश्रम

डी-१२, सैक्टर-४, रोहिणी, दिल्ली

सम्पर्क : ०९२१३३२६५५२

प्राप्ति-स्थान :

१. **आचार्य प्रकाशन**
दयानन्दमठ, गोहाना रोड,
रोहतक-१२४००१ (हरयाणा)

२. **हरयाणा साहित्य-संस्थान**
महाविद्यालय गुरुकुल झज्जर
हरयाणा-१२४१०३

३. **आर्यसमाज मन्दिर काकरिया**
रायपुर दरवाजे से बाहर, अहमदाबाद (गुजरात)

४. **कन्या गुरुकुल महाविद्यालय चोटीपुरा**
जिला ज्योतिषनगर (मुरादाबाद) उत्तरप्रदेश

५. **आर्यसमाज मन्दिर सहजपुर बोधा**
अहमदाबाद (गुजरात)

६. **दयानन्दमठ दीनानगर**
जिला गुरदासपुर (पंजाब)
फोन : ०९४१७३३६६७३

सन् २००६

मूल्य : ११०.०० रुपये

मुद्रक : **सर्वहितकारी मुद्रणालय**
दयानन्दमठ, गोहाना रोड, रोहतक
फोन : ०९२५४०५२१११

प्रकाशकीय

महामात्य चाणक्य केवल मन्त्री ही नहीं अपितु महान् समाज-शास्त्री अर्थशास्त्री और नीतिकार भी था। जहां इसकी चाणक्य नीति और चाणक्य सूत्र प्रसिद्ध हैं वहां इसका कौटिलीयार्थ शास्त्र भी एक महत्त्वपूर्ण कालजयी ग्रन्थ है।

धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार को पुरुषार्थचतुष्टय कहा जाता है। इनकी प्राप्ति मानव जीवन का लक्ष्य है। मनु का धर्मशास्त्र, चाणक्य का अर्थशास्त्र, वात्स्यायन का कामशास्त्र और पतञ्जलि का योगशास्त्र/मोक्षशास्त्र वर्त्तमान काल में प्रसिद्ध हैं और उपलब्ध भी हैं। भारतीय संस्कृति में ऋषि मुनि और नीतिकारों का महान् योगदान है।

चाणक्य महाविद्वान् त्यागी तपस्वी ब्राह्मण था। इसे धन राज्य आदि की प्राप्ति का कोई लोभ नहीं था। चाणक्य अपने कार्य-कलाप के कारण भारतीय इतिहास में विशेष स्थान रखता है। भारत में यवनों के आगमन और आक्रमण के समय अलग-अलग छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त भारत उनके आक्रमण का मुकाबला करने में समर्थ नहीं था। इस नीतिनिपुण ब्राह्मण ने सभी को इकट्ठा करके चन्द्रगुप्त मौर्य को उनका नेता बनाकर आक्रमणकारियों का मुकाबला करके उनको भारत से निकाल दिया और महान् मौर्य राज्य की स्थापना की थी।

इस ऐतिहासिक उपन्यास में धूमकेतु ने अति रोचक शैली में यही बतलाया है कि चाणक्य ने किस प्रकार अपनी नीतिनिपुणता से चन्द्रगुप्त को महान् सम्राट् बनाया था।

—सत्यानन्द नैष्ठिक

विषय-सूची

१
तक्षशिला का वातावरण

तक्षशिला में इस समय दो विचार प्रचलित थे, वृद्ध राजा आम्भिराज, पौरव के समान ही यवनराज से आमरण संघर्ष खेलना चाहता था। इसी भावना से यह यवनेश्वर के शिविर के समीप पर्वतों में अज्ञातरूप से कुछ समय पूर्व रह चुका था। इसी निवासकाल में इसने विदेशी आक्रान्ता सिकंदर की कई बातें जान ली थीं। अलेक्जेंडर सिकंदर—अलक्षेन्द्र का ठीक-ठीक प्रतिकार किया जाए तो, वह कोई देव-पुत्र नहीं है कि पराजित ही न हो। उसकी तो ऐसी हार हो कि गान्धार, कम्बोज और पंचनन्द की ओर आंखें उठाना ही भूल गए।

किन्तु युवराज आम्भिकुमार का विचार अपने पिता से पृथक् था।

पिता-पुत्र के बीच इस विषय में मतभेद उत्पन्न हो चुका था। वृद्ध अम्भिराज, पौरवों एवं अन्यान्य पर्वतेश्वरों के समान, अपने प्रदेश का रण--कीर्ति--ध्वज ऊंचा रखने के लिए उत्सुक बना था।

वह तो सिकंदर का सामना करने के लिए तैयार बैठा था! परिणाम का विचार छोड़कर, वह जीवन के अन्तिम काल में अपनी छोटी-सी सेना लेकर कुछ कर दिखाना चाहता था। उसका मन उत्साह से भरा-भरा रहता था। कुछकाल पूर्व ही यह विदेशियों से मिला था, तभी से तक्षशिला के नाम पर बट्टा न लगे, इसके लिए वह रणभूमि में उतरने जा रहा था! तक्षशिला की सेना सीमित किन्तु बलशालिनी थी।

विस्तता नदी तक पहुंचनेवाले मार्ग को अवरुद्ध करके विदेशी आक्रमणकारियों को आगे बढ़ने से रोककर वह यशस्वी बनना चाहता था।

किन्तु युवराज आम्भिराज को यह रीति-नीति सर्वथा अव्यवहारी लग रही थी। इसमें राजनीति-हीनता की छाया झलक रही थी। वह तो दैवात् मिले ऐसे सुयोग से पूरा-पूरा लाभ उठाना चाह रहा था।

वृद्ध आम्भिराज पुत्र को राज्य सौंपकर तक्षशिला के निकट ही वानप्रस्थ जीवन व्यतीत कर रहा था। सारी राज्य सत्ता और सेना युवराज के हाथों जा चुकी थी। अनेक पर्वतेश्वरों की मुठभेड़ के

समाचार सुनकर तो बूढ़े आम्भिराज महाराज को अपने पुरातन दिनों की याद आ गई। वह सभी उपायों से अपने पुत्र—वर्तमान आम्भिराज को संघर्ष के लिए समझाने-बुझाने में लगा था। वानप्रस्थाश्रम में भी चिर-अभ्यस्त क्षत्रिय- स्वभाव उभार ले रहा था, किन्तु आम्भिकुमार को यह बात ठीक न लगती थी। उसका तो उद्देश्य ही भिन्न था।

विस्तता के पार फैला हुआ पौरव-साम्राज्य शत्रुरूप में इसकी आंखों में कसक रहा था।

पौरवराज की महात्त्वाकांक्षा सर्वविदित थी। वह गान्धार को लेकर शतद्रु तक, एक विशाल साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। इसमें उसे स्वयं की आन बढ़ानी थी। इसमें वह चक्रवर्ती होना चाहता था। अनेक पर्वतेश्वरों ने उसके मार्ग को न रोका होता तो वह आम्भि के प्रदेश को कभी का पचाकर तक्षशिला का स्वामी बन गया होता। अभी-अभी ही तो राजा आम्भि ने सुना था कि वह अभिसार-(कश्मीर का नौसेरा नामक भूभाग)- नरेश के साथ मन्त्रणा कर रहा है। अभिसारराज पौरव की सहायता करने का विचार कर रहा है। ये दोनों यदि संगठित हो गए तो, देर-अबेर तक्षशिला का राज्य इनके हाथों में चला जाएगा। सिन्धु-विस्तता के तटवर्ती छोटे-से अभिसार राज्य की भौगोलिक स्थिति भी ऐसी ही थी कि वहां से किसी भी क्षण तक्षशिला पर आक्रमण किया जा सकता था। और तक्षशिला इसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता था। अभिसारराज पौरव का मित्र था, सिकन्दर को हराने के कार्य में वह तत्काल अपने पौरव मित्र को सहायता देना चाहता था।

आम्भिकुमार ने अभिसार-नरेश को सन्देश भेजा था। उसके प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा थी। आम्भिराज यही चाह रहा था कि किसी तरह से अभिसार नरेश उससे मिल ले। इन दोनों के सहयोग का अर्थ होता था, पौरव की वर्चस्व-शून्यता और सभी पर्वतेश्वरों का राज्य-रक्षण। और शायद पौरव के प्रभुत्वनाश के लिए ही ईश्वर ने सिकन्दर को भेजा। इसलिए सबका हित इसी में है कि उसे आगे बढ़ जाने दें। आम्भिकुमार जानता था कि सिकन्दर अपना राज्य छोड़कर भारत पर शासन करने नहीं आया है। आम्भिकुमार यह सोच रहा था कि सिकन्दर के आक्रमण से पौरव का कचूमर ही निकल जाएगा, फिर

तो शतद्रु से लेकर गान्धार तक का समस्त प्रदेश बिना संघर्ष के, परस्पर विभक्त कर लेंगे— यह विचार था आम्भिकुमार का। वह तो अभिसार के सन्देश की प्रतीक्षा, चातक से जलद-जल की भांति कर रहा था। सर्वप्रथम उसका रुख जान लेना आवश्यक था।

किन्तु तक्षशिला के विश्वविद्यालय में युवराज की पूर्वोक्त भावना का समाचार पहुंचा तो, बुरा हाल हो गया वहाँ का! विद्यालयवासी लज्जा से जमीन में गड़ जाना चाहते थे। जो विद्या-केन्द्र चिरकाल से विश्व के सामने गौरव से सिर उठाए खड़ा रहा, उसी का शासक ऐसी मनोवृत्ति का परिचय दे, तब तो समझो समुद्र में ही आग लग गई!

परन्तु तक्षशिला का कर्ता-धर्ता तो आम्भिकुमार ही था। वृद्ध राजा तो वानप्रस्थ था। तक्षशिला के आचार्य अपने-अपने विषयों में भले ही निष्णात थे, किन्तु शासन में इन्हें कोई पूछने वाला न था। अन्यथा, इनमें कुछ आचार्यों के सहयोग से, जो केवल राजकुमारों को पढ़ाते थे, बहुत सहायता मिल सकती थी। किन्तु आम्भिकुमार सहायता के स्थान पर, दूर-निकट के लगभग एक सौ तीन राजकुमारों को इस संघर्ष से पूर्व ही तक्षशिला से टाल देना चाहता था। इस समय तो यहाँ, यही आन्दोलन चल रहा था कि इन तरुण राजकुमारों को कैसे सुरक्षित रूप से इनके नगरों को भेज दिया जाए। वहाँ इनके माता-पिता कब से प्रतीक्षा कर रहे थे!

आचार्य विष्णुगुप्त के पास इस समय एक बड़ा तेजस्वी कुमार था। वह कहाँ का निवासी है, कोई भी यह ना जानता था। कुछ तो उसे मगध का निर्वासित कुमार मानते थे, कुछ लोग नेपाल का कहते थे, और अनेक तो उसे आभीर एवं आखेटक मानते थे। वस्तुतः वह राजकुमार नहीं है, किन्तु आचार्य विष्णुगुप्त ने उसे राजकुमार बना दिया था,वैसे वह शूद्र था, यह बात भी सुनी जा रही थी। जो कुछ हो, यह बात तो निर्विवाद थी कि आचार्य को लगता था कि देश के महान् भविष्य की निर्माण बेला आ पहुंची है, इस प्रकार आचार्य विष्णुगुप्त एकाकी उसी को अधिक रात बीते तक अपने महान् ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' अनेक सिद्धान्त समझाते रहते,राजनीति के गूढ़तम सिद्धान्त उसे सिखाते। गुरु शिष्य का यह संगम तक्षशिला विद्यानगरी में अलग जैसा हो गया था, आचार्य ने उस राजकुमार को अस्त्र-शस्त्र विद्या में प्रवीण बनाया

था, उसे भीषणतम संकटकाल में सहिष्णुता सिखाई थी, उसे महान् साम्राज्य के नवीन उत्तराधिकारी के रूप में समस्त सज्जा का भी बोध दिया था। आचार्य विष्णुगुप्त तो एकाकी उसी को बारम्बार विविध विज्ञानों में निपुण बना रहे थे। किन्तु यह अध्ययन अन्य अध्ययनों से विचित्र था। आचार्य उसके प्राणों को जगाने का प्रयास कर रहे थे। आचार्य की तीव्र दृष्टि इस राजकुमार में अनूठी तेजस्विता निहार रही थी। आचार्य तो इसे महान् सत्वशाली प्रमाणित कर चुके थे।

आचार्य की इस बात ने तक्षशिला में काफी दिलचस्पी पैदा कर दी थी। कुछ लोगों का अनुमान था कि आचार्य महाविलक्षण नीतिज्ञ हैं। ये राजनीति का ग्रन्थ लिखकर बैठ जाने वाले नहीं हैं। ये तो इस ग्रन्थ को अपने जीवन में भी उतारने वाले हैं। एक तीर से दो निशाना साधने की बात से आचार्य को इस मगध में अधिक दिलचस्पी लगी दीखती है। आचार्य इतने भोले नहीं हैं कि चाहे जिस व्यक्ति को अपनी जीवन सिद्धि का वारसा समर्पित कर दें।

यह मागधी तरुण मगध देश से आया था। अपने समय में मगध सबसे बड़ा सम्राज्य था। अंग,बंग से लेकर ठेठ विस्तता तक इसका फैलाव था, तेरह सौ कोस का भू-प्रदेश इस सम्राज्य में था, यद्यपि तक्षशिला विद्या का महान् केंन्द्र था, तथापि जब तक पाटलिपुत्र की 'नागरिक शास्त्र' परीक्षा उत्तीर्ण न करे, तब तक किसी भी विद्वान् को सच्चा सम्मान नहीं मिलता था।

आचार्य एक महान् ग्रन्थ प्रस्तुत कर रहे थे। इस ग्रन्थ में आचार्य मनु से लेकर उशनस भार्गव और स्वयं तक की राजनीति प्रदर्शित की थी। यह रचना आचार्य की मौलिक कृति थी। पुस्तक का नाम था 'अर्थशास्त्र।' इस ग्रन्थ को लेकर वे मगध की विद्वत्सभा में सम्मिलित होना चाहते थे। उन्होंने सुना था कि मगध सम्राट् महापद्मनन्द ने इतना अथाह धन एकत्र कर रखा था कि अब और धन संचित न करने की विशिष्ट चिन्ता नन्द को घेर रही है। इस संचय से तंग आकर ही सही, राजा इसमें से कुछ धन खर्च करना चाहता है। लोकोत्तियों में फैली हुई नन्द की कृपणता उदारता में बदल रही है।

उसने विद्वानों का एक संघ स्थापित किया। इस संघ को अधिकार था कि वह स्वीकृत महामान्य विद्वानों को एक लक्ष

कार्षापण उपहार में दे। फलतः भारत भर के विद्वान् महापद्मनन्द की सभा में आने लगे थे। पाटलिपुत्र में अपनी प्रतिष्ठा-पताका फहराना विद्वानों के लिए अपने जीवन का एक स्वप्न बनता जा रहा था।

आचार्य भी इसी कार्य के लिए पाटलिपुत्र जाना चाहते थे। इस तरुण राजपुत्र में रस लेने का यही कारण था। तक्षशिला में आचार्य एवं आचार्य के इस प्रिय शिष्य के विषय में ऐसी कानाफूसी चल रही थी। ऐसी दशा में जब सिकन्दर के समाचार आए तो सब आंखें गड़ाए देख रहे थे कि आज-कल में ही आचार्य अपने प्रिय शिष्य के साथ ब्रह्मावर्त की राह चल पड़ेंगे!

किन्तु अभी तक दोनों में से एक भी चलने की तैयारी में न था और यवनेश्वर ससैन्य सन्निकट आता जा रहा था। अतएव आचार्य के मन की गहराई एक नए अनुमान का विषय बनती जा रही थी।

फलतः तक्षशिला का वायुमण्डल इस प्रकार अनिश्चित बन गया था। आम्भिकुमार युद्ध के लिए प्रस्तुत न था। वृद्ध महाराज आम्भि युद्ध के लिए सज्जित थे। उन्हें जीवन अर्पण की लगन लगी थी। चारों दिशाओं से उनके कानों में युद्ध, पराजय ,जीवन समर्पण, वीरता, यवनराज के सामने अनमित रहकर मर मिटने आदि के, विविध रोमांचक समाचार आ रहे थे और वृद्ध महाराज के मन में कुछ-कुछ हो रहा था। उन्हें अपने व्यतीत जीवन की स्मृतियां आ रही थीं। वे स्वातन्त्र्य समर का आह्वान करना चाहते थे। किन्तु पुत्र आम्भिकुमार उनके विचारों से सहमत न था। वह तो अभिसार के सन्देश की बाट देख रहा था।

इतने में जिसकी बाट देखी जा रही वह—अभिसार का सन्देशवाहक एक दिन प्रभात वेला में तक्षशिला के राजमहल-द्वार पर आकर खड़ा हो गया!

२

पिता और पुत्र

आगन्तुक सामान्य व्यक्ति--सा नहीं लग रहा था। वह एक दर्शनीय बाह्लीक अश्व पर आरूढ़ था। अश्वारोही के शस्त्रास्त्र, मुखमुद्रा आदि से उसकी विशिष्टता झलक रही थी। उसका वेश भी भारतीय सैनिक

की अपेक्षा यवन सैनिक-सा लग रहा था। उसके कन्धे पर पिछली और सीधी, लम्बी तलवार लटक रही थी। मस्तक पर यवनों के शिरस्त्राण-सा टोप पहन रखा था। उसकी पाद-रक्षा में विदेशी अनुकरण परिलक्षित था। घुटनों तक, चमड़े से मढ़े मजबूत लम्बे जूते पहन रखे थे। कुर्ता पूरे शरीर को ढकता था। अश्वारोही सैनिकों के समान चौबीस अंगुल लम्बी ढाल उसके पास थी। वह सीधे राजमहल के निकट उतरा। द्वारपाल से उसने उतावली में कहा :

'आम्भिकुमार हैं? मुझे उनसे मिलना है!' द्वारपाल को यह संदेश-वाहक विशेष प्रकार का लगा। उसने दोनों हाथ जोड़े—'प्रभो! महाराज तो अन्दर महलों में हैं।'

'अकेले हैं कि साथ में और कोई है? अत्यन्त आवश्यक कार्यवश मुझे उनसे मिलना है।'

'वृद्ध महाराज बैठे हैं, और कोई नहीं है।'

'कौन वृद्ध महाराज—आम्भिराज स्वयं ही?'

'हां श्रीमान्!'

'तो अन्दर जाकर सूचित करो, मुझे मिलना है, मेरा काम बड़ा जरूरी है।'

किन्तु आगन्तुक ने अपना नाम नहीं बताया था। द्वारपाल आगन्तुक का नाम-ठाम जानने के लिए उसकी ओर हाथ जोड़े देखता रहा। अश्वारोही को ख्याल आया कि उसने अपना नाम-धाम नहीं बताया है। तुरन्त कहा: मैं शासानुशास अलेक्जेंडर सिकन्दर के शिविर से आ रहा हूँ। मेरा नाम है—शशिगुप्त।'

द्वारपाल को यवनेश्वर के शिविर के साथ सम्बद्ध यह नाम अटपटा-सा लगा, उसे लगा कि यवनेश्वर के यहाँ रहने वाला कोई छोटा-मोटा पर्वतराज होगा। न भूलने की गरज से द्वारपाल नाम घोखता-घोखता, दौड़ता हुआ, अन्दर गया।

जाकर उसने समाचार दिया। कक्ष में पिता पुत्र दो ही जन बैठे थे और कोई न था। सारा खण्ड खाली था। परिचारक भी प्रत्यक्ष दिखलाई न देते थे। समाचार सुनकर दोनों एक दूसरे की ओर पल भर देखते रहे। जिस की बाट देखी जा रही थी, अभिसार के उस राजा का कोई सन्देश-वाहक न आया था। यह तो यवनेश्वर का दूत

आ पहुंचा है—यह क्या सन्देश लाया होगा, यह बात तो बिना कहे ही, समझी जा सकती थी। उपहार लेकर अलक्षेन्द्र के शिविर जाने का सन्देश लेकर यह आया है। अभी तक यवनेश्वर की ओर से सभी को पहले पहल ऐसे ही सन्देश मिले थे।

'उसे अन्दर लाओ...।' आम्भिकुमार ने जल्दी में कहा। द्वारपाल ने आम्भिराज के सामने देखा। परन्तु, आम्भिराज कुछ न बोले। वे तो धरती-देखते रहे द्वारपाल के जाने पर वृद्धराजा ने कहा—'बेटा आम्भि! तूने क्या उत्तर देने का निश्चय किया है? वह तो अभी आकर खड़ा हो जाएगा।'

'किन्तु, पहले उसकी बात तो जान लें। तब उत्तर दिया जाएगा। वह क्यों आया है? कौन है? किस ओर से आ रहा है? क्या कहना चाहता है? यह जान लें। आचार्य विष्णुगप्त बारम्बार कहते हैं कि राजा को सोच-समझकर ही कदम उठाना चाहिए!'

'हाँ, तू मानो सब कुछ आचार्य के कहने से करता है! आम्भिराज फीकी हँसी हंस रहे थे। 'आचार्य तो यह भी कहते हैं कि विदेशी शासन मृत्यु से भयंकर है!'

'परन्तु आचार्य ही कहतें हैं कि जहाँ पर शस्त्र काम न करे, वहाँ पर वाणी करे, वाणी काम न करे, तो भेद काम करे। यह व्यक्ति कौन है यह तो जान लें पहले! शशिगुप्त कौन निकल आया है नया?'

'मैं बताए देता हूँ तुझे। मैं इससे मिल चुका हूँ!'

'कहाँ?'

'यवनेश्वर के उस पर्वत-शिविर के समीप। मैं जरा यवनेश्वर का शिविर देखने गया था कि इससे मिलाप हो गया।'

'आप को पता है, कौन है यह?'

'हाँ भाई! यह अभिसार राज का पड़ोसी है। शशिगुप्त है इसका नाम। यवन इसे सीसीकोटस कहते हैं। प्रथम तो इसने अलक्षेन्द्र से युद्ध किया। यहाँ नहीं, ठेठ बलख-बुखारा के पास। लड़ने के लिए किराये पर गया था—यही समझ। किन्तु यह हार गया और फिर यवनेश्वर से जा मिला। इसलिए यह यवनेश्वर की छाया में जीवित रहनेवाला प्राणी है। इससे अधिक और कुछ समझना है? इसका सन्देश तो बिना कहे समझ में आने वाला है। यह कहेगा कि

अलक्षेन्द्र के सामने झुको, उसे सम्राट् मानो, उसे आगे बढ़ने का मार्ग दो। किन्तु तुम्हारा उत्तर—तुम्हारा जवाब क्या होगा आम्भि? सिंह जैसा अथवा सियार जैसा?'

'पिताजी! जिस सियार ने सिंह को कुएं में गिराया था उसी जैसा। सिंह-सा भी नहीं और भीरु सियार-जैसा भी नहीं!'

'अर्थात् इस समय तू यवनेश्वर को मार्ग दे देगा। यही समझूं न? आम्भि! तेरी गर्वोन्नत तीन-तीन पीढ़ियाँ यह देखकर खून के गरम-गरम आँसू गिराएँगी! तुझे रास्ता देना ही है तो स्पष्ट क्यों नहीं कह देता। गो़ल-गोल बातें मत बना ताकि मैं अपना रास्ता पकड़ूँ!'

'देखिए पिताजी! आप व्यर्थ में व्याकुल हो रहे हैं। पौरव अपना ऐसा-वैसा शत्रु नहीं है। वितस्ता के पश्चिम-पारवर्ती अपनी प्रलम्ब भूमि पर उनकी आँखें लगी हैं, वहाँ हरे और कपिश रंग के, ढेर के ढेर अंगूरों की खेती होती है। उच्च कोटि के द्राक्षासव के योग्य अंगूर! इसीलिए पौरव की दृष्टि वहीं पर गड़ी है। उसे यह भूभाग चाहिये। और हम यह भाग उसे देंगे नहीं। हमें भी तो द्राक्षासव चाहिए?'

'तू उसे अपनी भूमि मत दे। तेरी तलवार कहीं भाग थोड़े गई है? उसके साथ तू फिर निबट लेना। तुझे इसकी ना कौन करता है?'

'पिताजी! आया हुआ अवसर तो मूर्ख लोग खोते हैं। और ये मूर्ख रहते हैं स्वर्ग में, किन्तु जीते हैं नरक में। मुझे तो अवसर गवाँ कर मूर्ख नहीं कहलाना है। पौरव को मटियामेट कर देने का यही समय है। बाद में उसके राज्य के बँटवारे का सुयोग आएगा। यह समय निकल गया तो संसार हमें मूर्ख करेगा।'

'अरे! तू क्या गँवाएगा, इसका भी तूने विचार किया है? तू वीरों का वीर कहलाएगा, तेरी कीर्ति मगध तक पहुँच जाएगी। तेरा गौरव-गान पर्वत-सुदरियाँ गाएँगी। सुअवसर तो यही है यवनेश्वर के मार्ग-अवरोध का! तुझे जय-जयकार मिलेगी!'

'जिस जयकार को सुनने के लिए मेरे मृत देह में कान न होंगे। न ही कानों में ज्ञान होगा। मुर्दे को एक लाख गौएँ दान दें तो इससे मृत शरीर को आनन्द मिल जाता है? जीवित मुनष्य ही भद्रदर्शन करता है पिताजी! इस समय यवनों का सामना करने का अर्थ है—मृत्यु को निमंत्रण देना।'

'आम्भि! तू मेरा पुत्र नहीं लगता! यह तेरी वाणी नहीं है! तुझे कौन बुलवा रहा है यह मैं जानता हूँ। मैं जो कुछ भी था, तेरी माँ के कारण था। तू जो कुछ भी है, अपनी रानी के कारण है। यह वीरता तेरी अपनी नहीं, तेरी रानी की है। कुछ भी कहो, आखिर वह बहन तो संजय की है? वही संजय—जिसने प्रथम प्रहार में ही शत्रु के सामने सिर झुकाया था, यही क्यों वह तो शत्रु का सहचर बन गया, दो पाँच ग्राम उसे मिल गयें हैं और थोड़ा सोना दिया है और घोड़े दिए हैं यवन ने। किन्तु ये सब तो चला जाने वाला है, वह स्वयं भी जाएगा और यवनेश्वर भी जाएगा। यहाँ से। हाँ संजय के मुख पर कालिमा शेष रहा जाएगी। तुझे भी कालिख पुतवानी है आम्भि? वत्स! तू हिमालय की उस गोद में बैठा है, जिसके लिए बड़े-बड़े नरपुंगव तरसते हैं। यहाँ आकर तो मानव भी देव बन जाते है और एक तू है कि मानवता से गिर रहा है?'

'पिताजी आप हिमालय के शिखरों को देख रहे हैं। मैं तलहटी देख रहा हूं। क्योंकि मुझे तो तलहटी में ही रहना है; जिसके सामने पार्शवशासानुशास भी न टिक सके उसका सामना क्या करेंगे ये पर्वतेश्वर! आगामी कल वही पर्वतेश्वर पौरव को भूमिसात कर देगा। इसके पश्चात् और आगे बढ़ेगा तो मरेगा। हमारे दोनों हाथों में लड्डू हैं ये खाएँ या वह। स्वाद तो दोनों का सामान है। मैं तो इतना जानता हूँ।'

वृद्ध अम्भिनरेश उठकर खड़ा हो गया। उसका मुख लाल सुर्ख हो गया, होठ काँप रहे थे। उसने भर्राई हुई, दुःखभरी आवाज से कहा, 'यह मुझे कतई नापसन्द है, किन्तु तू राजा है। मैं तुझे राज्य सौंप चुका हूँ। तेरी प्रजा बन चुका हूँ। सो तेरे सामने बोलने का अधिकारी नहीं हूँ। तेरी जैसी इच्छा हो, कर किन्तु बेटे इस वृद्ध की बातें तुझे तब याद आएँगी जब ये यवन तुझे भी हीन समझने लग जाएँगे और मारने लगेंगे। यह सनातन प्रथा है। तेरा कल्याण हो। मैं जाता हूँ! इतना कहकर उन्होंने उतावली में जाने के लिए पैर उठाए।'

'अरे, अरे, परन्तु पिताजी! आप शान्त तो हों, बात तो सुनिए— आप देखें तो जरा—'

'देख लिया बेटा! वृद्ध आम्भिनरेश बोले :—'समूचे भारत का विद्याधाम यहाँ है। दस अलक्षेन्द्र खड़े रहें तो उनके सामने भी न

देखनेवाले योगीराज यहाँ से एक योजन दूरी पर बैठे हैं—ऐसी है यह तक्षशिला नगरी। मैं इसे अपनी सगी माँ मानता हूँ। मैं इसका मान मर्दन नहीं देख सकता। मैं इसे धोखा नहीं दे सकता। तुझे जो ठीक लगे, कर। तू अपनी राह चल, मैं अपने रास्ते चलूँगा...'

'अजी पिताजी......!'

'सब रहने दे अब—तेरा कल्याण हो...' वृद्ध अम्भिनरेश उसे एकाकी छोड़, पूर्वखण्ड में से निकलकर एकदम अदृश्य हो गए।

आम्भिकुमार यह देखकर स्तब्ध रह गया। लेकिन उससे तुरन्त अपने मन पर काबू किया क्योंकि सामने से शशिगुप्त आ रहा था।

३

शशिगुप्त की बात

शशिगुप्त ने एकाकी आम्भिकुमार को अपने सामने देखा। उसका पतला, गौर, तेजस्वी चेहरा प्रथम दृष्टि में ही बड़ा आकर्षक लग रहा था। यह मानो वीरवर का चेहरा प्रतीत होता था। किन्तु इस आकृति में बैठी हुई दो छोटी-छोटी स्वार्थी आँखें देखकर निराश होती थीं—सिंहचर्म में कोई सियार है! समर्पण के विषय में वृद्ध पिता और पुत्र दोनों एकमत न थे, यह बात इसे ज्ञात थी। इसने अनुमान लगाया कि इस समय संघर्ष के कारण ही वृद्ध आम्भिनरेश चला गया है। वृद्ध महाराज को इसने देखा था। वह हठी, दुराग्रही था। वह अनमित रहने की ठान ले तो, मरकर भी किसी के सामने न झुके! उसमें रह रहकर अपनी कीर्ति की कामना जगी थी। प्रथम तो वह भी यवनों के प्रवेश का स्वागत करने को सज्जित था, यह खबर भी इसे मिल चुकी थी, किन्तु इस समय उसका मन बदलने लगा था। वह कैसा भी हो किन्तु बागडोर तो आम्भिकुमार के हाथों में थी, अतः कोई डर न था।

वृद्ध महाराज के मन का परिवर्तन कैसे हुआ—इसका रहस्य भी शशिगुप्त की समझ में आ गया! पड़ोस की मस्कावती नगरी के दुर्गपाल के अत्यन्त वीरतापूर्ण युद्ध ने अनेक व्यक्तियों के मन बदल दिये थे। मस्कावती के अश्वारोहियों ने सारा वातावरण बदल दिया था।

मस्कावती ने तो हदकर दी थी। दुर्ग के पास, महारानी

कृपाणदेवी नंगी तलवार लेकर मैदान में आ डटी। और इसके बाद तो सैकड़ों नागरिकों ने उसके पीछे-पीछे युद्ध में प्रवेश किया। उन्होंने शरण जाने की अपेक्षा, मारकर मरने का नया मार्ग सबको बता दिया। चालीस हजार युद्ध में तो खेत रहे। शवों से गली-कूचे भर गए। अनमित रहनेवाले कैसे अनमित रहते हैं—यह बात दुनिया ने प्रत्यक्ष देख ली। तभी से जैसे इस पर्वत-प्रदेश का वातावरण बदल गया।

पंचनद की ओर से मस्कावती में सैनिक आये थे। इन सैनिकों ने यहाँ की अपूर्व वीरता देखी तो इनके मनों में उनकी वीरता बैठ गई और ये आए तो थे यवनेश्वर की सहायता करने, किन्तु रातों-रात इनके मन फिर गये। ऐसी वीरता से लड़नेवाले अपने स्वबन्धुओं से चंद टुकड़ों के लिए लड़ें? नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता!—ऐसा निश्चय करके ये रातों-रात भागे, किन्तु पकड़े गये। एक-एक कट मरा परन्तु कोई भी यवनों के सामने न झुका। ऐसी बातें जब चारों ओर फैलीं तो, कई पर्वतीय-नरेशों ने लड़ने का निश्चय कर लिया। उस समय प्रत्येक दुर्ग लड़ना चाहता था। वृद्ध आम्भिनरेश को भी यह हवा लगी थी।

परन्तु शशिगुप्त ने अपने सामने युवराज को अकेला ही देखा। उसे यह स्थिति लाभदायक प्रतीत हुई। वह समझता था कि तक्षशिला के आधार पर अभिसार और अभिसार के आधार पर तक्षशिला खड़े हैं। वही अभिसार आज नम रहा है—यही समाचार लेकर वह आया है।

उसने निश्चय कर लिया। आम्भिकुमार के सामने महान् भय उपस्थित करने के साथ ही लोभ भी प्रस्तुत करना चाहिए। अभिसार की द्विमुखी क्रीड़ा की बात भी प्रस्तुत करनी चाहिए। यों, वृद्ध महाराज ने जो कुछ प्रभाव उत्पन्न किया होगा, वह उड़ जाएगा। वह आम्भिकुमार के सामने जाने के लिए आगे बढ़ा। सम्मुख जाकर, दोनों हाथ जोड़कर आम्भिकुमार को नमस्कार किया। मस्तक झुकाए उसके चेहरे के ऊपर आते हुए प्रत्येक भाव को वह तीक्ष्ण दृष्टि से देखता, खड़ा रहा। "क्यों? आओ! तुम कहां से आ रहे हो? तुम्हें किसने भेजा है?" आम्भिकुमार ने पूछा।

शिशुगुप्त ने विचार कर कहा :

"मुझे अभिसार महाराज ने भेजा है। मेरा नाम शशिगुप्त है।"—उसने मस्तक झुकाया—

"मैं सन्देश लेकर आया हूँ। अभिसार महाराज..."

"तुम तो अभिसार नरेश के समीप से आने की बात कर रहे हो? द्वारपाल से तो तुमने और ही बात कही है। इन दोनों में कौन-सी बात ठीक है? तो क्या यवनेश्वर अलक्षेन्द्र के पास से नहीं आ रहे तो तुम?"

"आ रहा हूँ वहीं से।" शशिगुप्त ने अपनी आँख कुछ छोटी करते हुए कहा। वे दोनों एक ही हैं?

वह आम्भिकुमार की प्रत्येक भावभंगिमा और चेहरे पर आते जाते भाव पढ़ रहा था। यदि यह फिर जाए और अभिसार भी फिर जाएगा तो इस समय यवनेश्वर की दशा भयंकर हो ही जाए। और साथ में उसकी भी। इसलिए उसे अत्यन्त निःस्वार्थ भाव से आम्भिकुमार के सामने बात रखनी थी कि कहीं आम्भिकुमार अभिसार राज के पीछे न रह जाए। वह ऐसा ही वातावरण खड़ा करना चाहता था।

"दोनों एक हैं का मतलब? मैंने तो सुना है कि अभिसार नरेश पौरव से वचनबद्ध हो चुके हैं। और उनकी सहायता की तैयारी भी कर रहे हैं।"

"आपने जो सुना है, वह यथार्थ है राजन्!"—शशिगुप्त बोला।

"फिर आपने यह कहा कि दोनों भी एक हैं—अलक्षेन्द्र और अभिसार नरेश, यह भी यथार्थ है?"

"हाँ महाराज! यह बात भी यथार्थ है। युद्ध के वातावरण में मनुष्य कहता कुछ है, मन में रखता कुछ और है। तीसरी बात फैलाता है, करता है चौथी बात। यह आप-जैसे राजनीतिज्ञ से कहीं ओझल थोड़े ही है?"

आम्भिकुमार विचार में पड़ गया। उसे लगा कि अभिसारराज तो उससे भी पहले यवनेश्वर के शिविर में पहुँच गये हैं और यवनेश्वर एक ओर राज्य जीतता है, दूसरी ओर लौटाता जाता है। जिसे देता है, वह निहाल हो जाता है। वह शीघ्रता में बोला : "किन्तु अभिसारराज इस समय कहाँ है?"

शशिगुप्त की आँख में कुछ स्मित चमका। उसने आम्भिकुमार को और लालच देने का निश्चय किया।

"वह तो वहीं पर है महाराज! अब तो वे शासानुशास अलक्षेन्द्र

के दाहिने हाथ बन गए हैं। वे बुद्धिमान् हैं। साथ ही वे पौरवराज से भी वार्तालाप कर रहे हैं।"

"तुम कह रहे हो कि पौरवराज को भी वे सन्देश भेज रहे हैं, क्या वे भी नमन करना चाहते हैं?"—आम्भिकुमार की वाणी शीघ्रता और व्याग्रता से भरी थी।

शशिगुप्त की भूमिका बन गई—"उनके साथ भी सन्देश का आदान-प्रदान हो रहा है।" वह बोला : "उन्होंने कहलाया है कि उनके विषय में भले ही आप कुछ भी सुनें, किन्तु उचित समय पर अनुभव होगा कि अभिसारराज कितना महान् मित्र है?"

"महान् मित्र? हा...हा...हा...!" आम्भिकुमार जोर से हँसा "तब यह खबर ठीक है कि यवनेश्वर के साथ इसकी मैत्री सच्ची है?"

"महाराज! ये दोनों ही बातें सच्ची हैं। दोनों को ये समाचार सच्चे लगते हैं। इसी में अभिसारराज की विजय है। इस समय तो जो वातावरण के अनुसार चलेगा, वही बड़े राज्य का स्वामी बन जाएगा। तीन सहस्र कोस की दूरी से यहाँ आया, यह विजयी महासेनाधिपति दुश्मन होकर जड़ें खोदकर फेंक सकता है। दोस्त बनकर अपना सिर दे सकता है। इसने पर्वतीय अश्वारोहियों के एक ही मरणान्तक प्रहार का प्रत्युत्तर उनके चालीस सहस्र मनुष्यों के संहार से दिया था। महाराज को इस घटना का पता है। मस्कावती से इसने दो लाख तीस हजार बैल लिए और उन सबको मकदूनिया भेज दिया। शत्रु के रूप में इसकी यही रीति है। मित्रता के रूप को तो महाराज स्वयं पहचान लेंगे। तब आपको इसकी उदारता से आश्चर्य होगा! एक कार्षापण का एक सहस्र कार्षापण दे दे, ऐसी दूरदर्शिताभरी मित्रता है इसकी। निर्णय तो आप को करना है। विलम्ब से निर्णय होगा तो महाराज की ही हानि है। अभिसारराज तो ठीक है। शासानुशास अलक्षेन्द्र जानना चाहते हैं कि आप उनके मित्र हैं कि नहीं? मित्र हैं तो, वे मेल-मिलाप की प्रतीक्षा में हैं। मार्ग पाने के लिए आपकी मित्रता और मदद चाहते हैं, और आगे बढ़ना चाहते हैं। किन्तु वर्तमान वातावरण देखते हुए यह आवश्यक है कि आप सर्वप्रथम जाकर उनसे मिल लें। मैं तो उनका सन्देश-वाहकमात्र हूँ। किन्तु, मैं आप को पहचानता हूँ। अतः यह मेरा निज का परिवर्धन है कि अवसर

तो आज है! शायद कल उन्हें आपकी आवश्कता न रहे। और अभिसार की रीति तो आप देख ही चुके हैं! कितनी विचित्र है!''

४
आम्भिकुमार का प्रत्युत्तर

शशिगुप्त को पता था कि आम्भिकुमार क्या उत्तर देगा। अभिसार को ज़ान लेने के बाद और कुछ उत्तर हो ही नहीं सकता। किन्तु एक वीर-मृत्यु अथवा एक महान्-प्रतिरोध वातावरण को कैसे बदल देता है। यह बात भी उस के दिमाग में थी। मस्कावती इसका उदाहरण थी। सिकन्दर को वहाँ दिन में तारे नजर आए थे। चालीस हजार योद्धाओं के कट जाने पर भी इस छोटी-सी पहाड़ी नगरी ने न तो आत्मसमर्पण किया, न सहयोग देना ही स्वीकार किया। न कृपा माँगी, न ही समाधान चाहा।

ऐसा वातावरण सर्वत्र फैल चुका था। वृद्ध आम्भिनरेश को यह हवा लगी थी, युवराज आम्भिनरेश को भी हवा लगने का भय था। अभिसार नरेश दो खेल-देख रहा था। इन दोनों खेलों में कौनसा खेल सच्चा है यह जानना कठिन था। तभी तो शशिगुप्त को स्वयं ही यह सन्देश लाना पड़ा था। उसे लगा कि अभिसार नरेश की कथित द्विपक्षी-नीति का असर आम्भिनरेश पर हुआ है। वह व्याकुलता से उसके प्रत्युत्तर की बाट देख रहा था।

आम्भिकुमार को लगा कि कहीं वह स्वयं न पिछड़ जाए। उसे अब यथाशीघ्र सिकन्दर का साथ देने में ही अपनी राजनीतिक विजय दिखलाई दी।

तभी उसके सामने पिता के वचन साकार खड़े हो गए, वृद्ध पिता का कोपकम्पित चेहरा उसके सामने आया। किन्तु उसे लग रहा था कि अनेक बार मनुष्य बुद्धिमत्ता की बातें करने से ही मूर्ख बन जाता हैं। यह समय तो एक तीर दो निशाने का है। समय बीत जाने पर स्वयं को ही पिछड़ जाना पड़ेगा। उसका मन सोच रहा था कि लाभ या हानि समय निकाल देने में है या समयानुसार कार्य करने में?

शशिगुप्त ने कुछ प्रशान्त शब्दों में कहा : ''वितस्ता के पूर्वी

सीमान्त की पुष्कलावती का सन्देश शंकामय था और यह नगरी सीधे पौरवराज के मार्ग में आ रही थी, सो सिकन्दर को कुछ विचार में पड़ जाना पड़ा। लेकिन अभिसारराज ने विश्वास दिलाया...और बदले में अभिसारराज को भी अपने भाग के लिए निश्चन्त रहने का वचन मिल गया।''

आम्भिकुमार जल्दी में बोला : ''अभिसारराज को कौन-सा वचन मिला?''

''पुष्कलावती का प्रदेश उसे मिलेगा...।''

''उसे मिलेगा?''

''वह सहायता करेगा तो, उसी को मिलेगा! और कौन है पास-पड़ोस में! हाँ, आप हैं तो, आप के प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा की जा रही है! आम्भिकुमार के मन में द्वन्द्व उठा और बढ़ता गया, समय खो देना तो अब हस्तगत वस्तु को त्यागने के समान था। तक्षशिला ने एक सबल विदेशी आक्रान्ता को पीछे धकेल दिया—यह महान् यश है, पिताजी की यही टैक थी, किन्तु वह विदेशी तो तीन हजार कोस पार कर, जीतता हुआ आ रहा है। उसका अश्वारोही दल असामान्य है, जिसने पार्शवशासानुसास-जैसों को मिट्टी में मिला दिया। वह क्या यहाँ से पीछे हटने वाला है? कभी यह सम्भव नहीं है? पिताजी की बात तो आसमान के तारे तोड़ने जैसी है। उसने निश्चय कर लिया कि वह सिकन्दर को सहायता देगा और तुरन्त देगा। किन्तु उसके मन में एक और शंका उठी, पौरव भी झुक गया तो?''

वह भी झुके, अभिसार नरेश भी झुके और पौरव नरेश भी झुके! सब झुकें तो, सबमें अधिक सम्पन्न को ही वैशिष्ट्य मिलेगा।

तब तो पौरव ही विजयी रहेगा। उसका प्रथम स्थान होगा। यवनेश्वर उसे विशेष सम्मान देगा। आम्भि तो सम्मान-क्रम में अन्तिम होगा। परन्तु पौरव झुकेगा?

आम्भिकुमार के कल्पना-नेत्रों के समक्ष आर्यावर्त्त का वह उत्तुंग, विशालवक्ष, व्रजांगी, महाकाय पुरुष खड़ा हो गया! उसके सामने खड़े हुए सभी नीचे लगे, ऐसा कद्दावर किन्तु सप्रमाण एवं समर्थ, वज्र समान बलवान् उसका देव-कलेवर था। उस शरीर पर धारण किये हुए मुकुट, प्रलम्ब तलवार एवं पैरों के टखनों को छूता हुआ कुर्ता

उसको विशेष गौरव और शोभा समर्पित कर रहे थे। उसका जाज्वल्यमान मुखमण्डल अम्भि के नयनों में उतर आया। प्रतापी, वेधक, विशाल और निर्मल पौरवराज के दोनों लोचन प्रत्यक्ष हो उठे।

उन लोचनों में आम्भिकुमार को सिंह-सा स्वाभिमान और गौरव दृष्टिगोचर हुआ।

उसे लगा कि हिमालय भले ही चलायमान हो जाए, पर पौरव चलायमान नहीं होगा, यह सुनिश्चित है!

आम्भिकुमार को यही चाहिए कि पौरव विचलित न हो, और वह अपने गर्व में, दुरभिमान में, अथवा सत्य दर्शन में मटियामेट हो जाए। पौरव के इस स्वभाव दर्शन से वह पुलकित होने-जैसा व्यक्ति नहीं था।

फिर भी विजय उसकी थी। इस सम्पूर्ण प्रदेश का वही एकछत्र सम्राट् बन जाएगा।

मगध सम्राट् महापद्मनन्द भी पैर धोएँ—उसके लिए ऐसी स्थिति बन गयी थी।

किन्तु उसे बुद्धि से काम लेना चाहिए। तुरन्त कदम बढ़ाना चाहिए। निश्चित पद पाना चाहिए।

किन्तु वृद्ध पिता—उन्होंने कुछ का कुछ कह दिया था। स्वयं की राय वे खुद बना लेंगे, ऐसा कहा था, उसका क्या हो? उनका रास्ता क्या होगा?

'जो भी होगा, देखा जाएगा,' आम्भिकुमार ने मन में ही, उतावल में ही प्रत्युत्तर दिया, 'उस समय देख लिया जाएगा'—उसने उत्सुकतापूर्वक शशिगुप्त के सामने देखा।

"महाराज! एक बात कहने से रह गयी थी कि आपका साला संजय मुझे पहचानता है।" शशिगुप्त ने उसे अधिक जल्दी मार्ग बताया।

"उसने भी आपको कहलाया है। यह एक सुअवसर है, विजयी यवनेश्वर तो कल पीछे लौट जाएगा।"

"संजय को तुम जानते हो?"

"हम दोनों मित्र हैं अथवा यूं कहिये कि वहाँ रहकर मित्र बने हैं। दोनों साथ रहते हैं। हमारे मनों में कई योजनाएँ हैं!"

"जैसे?"

"शतद्रु से गान्धार तक एकछत्र राज्य की स्थापना।"

"परन्तु यह कौन करेगा?"

"यह तो महाराज! जो सुअवसर से लाभ उठाएगा वही!"

"तो मेरा यह प्रत्युत्तर है। तुम जाकर कह देना।" आम्भिकुमार ने सहसा शीघ्रतावश कहा : "यवनेश्वर को मैं पाँच सहस्त्र सैनिकों की सहायता दूँगा। तक्षशिला नगरी उनका सत्कार करेगी। परन्तु किसी भी पर्वतेश्वर की अपेक्षा हमारा मूल्यांकन अधिक है, उन्हें यह जानना चाहिए।"

"यह बताना तो मेरा कार्य है महाराज! आप मुझ पर विश्वास रखिए। आप का नाम पहले होगा। पौरवराज की मूर्खता उसी को महँगी पड़ेगी—यह निश्चित है। तो, आपका कोई व्यक्ति साथ चलना चाहिए।"

आम्भिकुमार ने पास में रखा कांस्य-घण्ट बताया।

तुरन्त ही पार्श्ववर्ती कक्ष से एक प्रतिहारी दौड़ाता हुआ आया।

"सचिवराज को बुलाओ...।" आम्भिकुमार ने उसे आज्ञा दी। अभी तक खड़े हुए शशिगुप्त की ओर उसने सादर दृष्टिक्षेप किया।

"आप वहाँ आसन पर बैठिए, अभी सचिवराज आते हैं।"

दोनों पर्वतेश्वर गाढ़ मित्रों के समान वार्तालाप में डूब गए।

५

गुरु और शिष्य

तक्षशिला नगरी का गौरव केवल तत्कालीन मगध की राजधानी पाटलिपुत्र से ही कम था। वैसे अनेक बातों में तो यह पाटलिपुत्र से भी बढ़ी-चढ़ी थी।

एक तो इसका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। यह नगरी भारत के सीमान्त पर थी, विदेशों से आने वालों के लिए यही प्रथम द्वार था, तक्षशिला को बिना जीते, कोई आक्रान्ता आगे बढ़ने का साहस नहीं कर सकता था।

दूसरे, यह विद्या का केन्द्र थी। सारे देश में विख्यात। सुदूर देशों में इसके आंगन में बैठने वाले विद्वानों का सम्मान और ख्याति फैली थी। इन विद्वानों के पास ऐसी-ऐसी विद्याएँ थीं कि जिन्हें सीखा हुआ,

जहाँ भी जाता, वहीं उसे अवश्य महत्ता मिलती। तक्षशिला में अनेक विद्याएँ सिखाई जाती थीं। प्रत्येक विद्या का मानदण्ड तक्षशिला के विद्याधाम के हाथों में था। तक्षशिला का विद्यार्थी होना गौरव की बात समझी जाती थी। यहाँ पढ़ने के लिए कई राजकुमार भी आते थे और वर्षों तक सामान्य विद्यार्थियों के समान गुरुसेवा करते हुए विद्याध्ययन करते थे। विद्याधाम के वायुमण्डल में यह एक विशिष्ट गौरव प्रवाहित था!

इस नगरी का तीसरा महत्त्व, थोड़े से मनुष्य जानते थे, किन्तु जो जानते थे, उन्हें ही पता था कि यह असाधारण विशिष्टता थी। तक्षशिला से दो योजन दूर, प्रगाढ़ वन में उस काल के महान् योगीन्द्र रहते थे। उन योगीन्द्रों ने शरीर और मन पर ऐसी विजय पाई थी कि सम्राटों का सम्राट् भी उनके सामने खड़ा रहने पर भिखारियों का भिखारी प्रतीत होता।

शासानुशास, विश्वविजेता अलक्षेन्द्र सिकन्दर की इच्छा थी और आम्भिकुमार इसके लिए आकाश-पाताल एक कर रहा था किन्तु अभी तक एक भी दिगम्बर योगीन्द्र के सिकन्दर से मिलने की बात थी। दूर सिकन्दर स्वयं भी मिलने आएँ तो भी वह अपने नश्वर शरीर पर एक चिथड़े की पट्टी भी डालने के लिए तैयार न थे! यह था तक्षशिला के योगीन्द्र-धाम का प्रभाव। अन्यत्र जो मोती, मणि, माणिक करोड़ों में बिकते, यहाँ उनकी ओर कोई आँखें उठाकर भी न देखता था। बेचारे हीरे निस्तेज, फीके पड़ जाते कि अरे, हमें तो कोई पहचानता नहीं है! जिस सम्राट् के दर्शन के लिए मानव-मेदिनी एकत्र होती, उसे आँख उठाकर देखने की भी किसी की इच्छा नहीं होती! मानो यहाँ के वातावरण में इच्छा नामक वस्तु ही नहीं है।

यह हवा, यह धाम एवं यह बात—यह तो एक अनोखी सृष्टि ही थी।

यहाँ वर्तमान शासन स्वयं मुर्झा जाता था, वैभव प्रकटन धूलि-कण के समान भी नहीं लगते थे। सशस्त्र व्यक्ति स्वयं को पशु मानने लगता था। यहाँ आने वाला व्यक्ति क्षणभर में समझ जाता था कि वह स्वयं कुछ नहीं है! ऐसी हवा थी इस योगीन्द्रधाम की, और यह धाम तक्षशिला से दो-तीन योजन दूर था।

किन्तु अलक्षेन्द्र के आक्रमण के समाचार से जितना आघात तक्षशिला विद्याधाम को न पहुँचा उससे कहीं अधिक आघात वृद्ध आम्भिराज के मरण-समाचार ने विद्याधाम को पहुँचाया।

उसी साँझ विद्याधाम खाली होने लगा। आम्भिकुमार के संरक्षण में अथवा उसकी छाया में रहना, प्रत्येक विद्यार्थी को हीन लगने लगा। गठरियाँ बँध गई, घोड़े आये, बैलगाड़ियाँ आयीं, रथ दिखलाई पड़े, देखते ही देखते विद्याधाम खाली हो चला।

आचार्यगण भी सुविधानुसार टेढ़े-मेढ़े मार्गों से बिखरने लगे।

विद्याधाम का विसर्जन हो रहा था। किसी विदेशी आक्रमण का सम्मान करने अथवा उसके सामने झुकने के लिए वह प्रस्तुत न था। आम्भिकुमार तक्षशिला धाम में अलक्षेन्द्र का स्वागत करने वाला था, उसे भेंट-सौगात देने वाला था, इस नगरी में यवनेश्वर का निवास भी कुछ समय के लिए होने वाला था, यह समाचार सुन पड़ा था, किन्तु तक्षशिला का राजा भले ही अलक्षेन्द्र का स्वागत करे, यह दृश्य देखने के लिए कोई छात्र यहाँ रहने को प्रस्तुत न था।

एक, दो और तीन दिन हुए, इतने में विद्याधाम पूरा का पूरा रिक्त हो गया। द्रुम-मण्डपों में उठती हुई वेद-ध्वनि अस्त हो गयी। वनौषधि अनुसन्धान करने वाले विद्यार्थी अदृश्य हो गये। धनुर्विद्या की टंकार मूक हो गई। कोलाहल से प्रतिध्वनित विद्याधाम शांत हो गया। उसकी निस्तब्ध, निर्जन, शून्य मढ़ियाँ खाने आती थीं, विद्याधाम के आश्रित हिरण, तोते, मोर, एवं, सुरीले असंख्य पक्षी भी विह्वल बनकर इधर-उधर घूम रहे थे। बन्दर भी कहीं दूर भाग जाने के लिए समूहबद्ध होकर शब्द करते हुए निकल पड़े थे। समस्त विद्याधाम देखते-देखते निर्जन, नीरव बन गया।

कुछ दिन बाद, विद्याधाम के कुछ दूर, योगीन्द्रधाम के मार्ग में, एक ढाक-वृक्ष के निकट छोटी-सी पर्णकुटी खड़ी हो गई। रात में इस कुटी में दीपक जला करता। इसके अतिरिक्त इस भू-भाग में निवास का कोई चिह्न न था। सर्वत्र शून्यता का साम्राज्य था। रात में पतझड़ से ध्वनि निकलती, दूर-दूर उल्लू और चीबड़ी की बोली सुनाई पड़ती थी। सर्वत्र नीरवता छायी थी।

श्रावण वदी अमावस्या का प्रगाढ़ अन्धकार घने बादलों के कारण

काजलग्रही रात्रि से भी अधिक भीषण बना था। चारों ओर शून्यता थी, कहीं से कोई शब्द सुनाई न पड़ता था। किन्तु ऐसा लगता था कि यह नीरवता अभी-अभी आकाश बेध करके आक्रोश कर देगी। भयंकर विद्युल्लेखा आकाश में इधर-उधर दौड़ रही थी, समझ में न आता था कि यह आकाश को सुलगाना चाहती है अथवा श्यामला धरती को जला देना चाहती है उसकी तीक्ष्णता क्षण प्रति क्षण बढ़ रही थी, कोई बाहर पैर रखे तो भय से कम्पित हो उठे, ऐसे समय में इस कुटी में दो जन बैठे थे। झोंपड़ी में एक मन्द दीपक जल रहा था। झोपड़ी में विशेष साधन न थे। एक दो मृगचर्मों के बिस्तर पड़े थे। थोड़े से भूर्जपत्र थे, एक ओर लेखन सामग्री थी, एक छोटा-सा काष्ठपदक वहां पड़ा था।

जाने बाहरी वतावरण का इन दोनों पर कोई प्रभाव ही नहीं हुआ है, ऐसे ये दोनों व्यक्ति किसी विषय पर विचार करते हुए स्थिर हो गए थे। सर्वथा शान्त बैठे थे। दोनों मौन थे।

वे अपने विचारों में इतने तल्लीन थे कि उन्हें पता भी नहीं चला कि कब से एक शलभ-पतंगा दीपक के चारों ओर चक्कर काट रहा था। जब अंधेरा बहुत हो गया तो चकमक और लोहा निकट है कि यह देखने के लिए ही इन्होंने जरा दृष्टि फेरी।

दोनों में से एक प्रौढ़ावस्था का था किन्तु उसे तरुण कहा जा सकता था, ऐसा देखाव था उसके शरीर का। दूसरा तो ऊगते यौवन का युवक था।

इस समय ये किसी महान् मनोमन्थन में पड़े लग रहे थे।

प्रौढ़ व्यक्ति आकृति में सर्वथा अनाकर्षक लगता था। उसकी नाक सीधी और लम्बी थी, किन्तु अन्त में तोते की चोंच-सी मुड़ी हुई थी। यह मोड़ इस कदर ढलुँवा था कि दूर से देखने वाले को लगता था कि इसका नासिकाग्रभाग इसके होठों को छू रहा था।

सूकटिया, थोड़ा कुढंगा सा पतला शरीर, उसमें भी पतली लम्बी मुखमुद्रा, उसमें पतली-लम्बी नाक, और इसमें भी थोड़े आगे निकलते होंठ, चेहरे की अपेक्षा बहुत बड़े हुए कान, इनमें से किसी भी अंग में सौंदर्य नहीं कहा जा सकता था। इन सब के कारण इसकी मुखमुद्रा. देखने वाले पर इसके सर्वसाधारण होने की छाप एकदम पड़

जाएगी। जब यह होंठ चौड़ा करता तो उसका एक दांत भी टूटा हुआ लगता था। ऐसे एक सर्वसामान्य व्यक्ति के सामने आज्ञाकारी के समान एक तेजस्वी युवक बैठा हुआ देखकर सबको आश्चर्य कराने वाली बात थी। यह एक समस्या थी कि ऐसा तभी हो सकता था कि प्रौढ़ जादूगर हो और उसने युवक को वशीभूत बना दिया हो।

किन्तु इस दुबले-पतले प्रौढ़ व्यक्ति को थोड़ा और सूक्ष्मता से देखते ही इसका रहस्य समझ में आ जाता था। इस प्रौढ़ की दो आंखें इतनी तेजस्वी, तीव्र, वेधक और चौंधिया देने वाली थीं कि इन आंखों के सामने देखने वाले यदि अपनी दृष्टि हटाना भी चाहें तो हटा न सकते थे। इनमें तेज तो था ही किन्तु जिसे प्रताप कहते है वह भयंकर प्रताप भी इनमें बैठा हुआ था। ये आंखें थोड़ी-सी फिरीं कि जाने समस्त वायु-मण्डल फिर गया हो। ये आंखें वायु-मण्डल बनाती थीं। ये जब चाहें मनुष्य को खड़ा-खड़ा जला दें। जब चाहें मनुष्य को जमींदोज कर दें। जब चाहें मनुष्य को परवश बालक बना दें।

इसकी आंखों में जरा-सा परिवर्तन होने की देर है कि मनुष्य इसी को अपना प्यारे से प्यारा स्वजन-प्रियजन मान ले। इन आंखों में तब प्रेम निर्झर झरने लगते थे। मानो निज-नयनों में यह एक नूतन सृष्टि लिए बैठा था। इसका यथार्थ व्यक्तित्व तो इसकी आंखों में ही प्रतिभासित होता था और फलतः इसे देखने से उठी छाप कहीं न कहीं उड़ जाती थी, बाद में ऐसा होता था कि यह कोई ऐरा-गैरा प्रतापी पुरुष नहीं है। इसने तो ईश्वर की सृष्टि की सुन्दरता को भी दो खोटे छदाम की बना दी है।

इसके वास्तविक व्यक्तित्व की सूचक इसकी ये दो आंखें थीं, यह तो ठीक है, परन्तु इसके सिर पर प्रथम थोड़ी खड़ी-सी शिखा भी इसकी व्यक्तित्व बोधक हो ऐसा लगता था। इस प्रौढ़ावस्था के व्यक्ति के विषय में शंका होने लगती कि कहीं यह मृगतृष्णा के समान मन के निरर्थक खयाली पुलाव पकाने वाला मनुष्य हो! आश्चर्य की बात तो यह थी, सजीव तेजस्वी आंखों के समान ही इसकी निर्जीव शिखा इसके व्यक्तित्व की सूचक बन जाती थी।

इस प्रौढ़ के सामने बैठा हुआ तेजस्वी तरुण सर्वथा इसके विरोधाभास में हो, ऐसा नख से शिखा तक सुन्दर था। इसका मुख-

मण्डल, इसकी आंखें, इसकी नासिका, इसकी देह, इसके हाथ, इसके पैर, इसकी अंगुलियाँ—कोई अंग ऐसा न था, जिसे कुरूपता की छाप लगाई जा सके। समस्त शरीर परिमाण में सूदृढ़ एवं तेजोमय था। इसके सुन्दर आकर्णान्त नयनों से प्रताप और प्रभाव झरते थे। नासिका केवल चित्रकार के कल्पना में ही रहने वाली वस्तु थी। मुख-मुद्रा देखते ही राजवंशी की छाप जागती थी। प्रौढ़ पुरुष के सामने वह सर्वथा विनीत भाव से बैठा था। उसके नयन धरती पर थे। लग रहा था कि वह किसी गहन-मनोमन्थन में पड़ा है।

उस प्रौढ़ व्यक्ति ने उसके कंधों पर हाथ रखा। उसे जगा रहा हो ऐसे प्रेम भरे शब्दों में वह बोला: 'देख वत्स ! मैं तुझ से कहूँ। इस विश्व में ऐसे तो अनेक घटनाएं घटती हैं जिन्हें तत्काल ही भूल जाना पड़ता है। केवल समय बीतने पर उनका यथार्थ रहस्य हमें मिलता है। यह घटना भी ऐसी है। इसे तू अब भूल जा। मुझे को लगता है कि हम नन्द-नगरी की ओर प्रस्थान कर दें। तू भी मेरे साथ चल।'

युवक ने धरती से आंखें उठाकर ऊपर देखा, उसकी आंखें आंसुओं से भरी हुई थीं, वह मन्द किन्तु दृढ़ स्वर में बोला :

"गुरुदेव! मैं तो यवनेश्वर का सामना करने जा रहा हूँ। नन्द की नगरी भले ही महान् हो, किन्तु मेरा उससे क्या काम?"

"तू एकाकी यवनेश्वर का क्या बिगाड़ सकेगा, बेटा?"

"मैं एकाकी कैसे हूँ? मेरे साथ असंख्य सैनिक खड़े होंगे, तक्षशिला में भी अनेक मेरे साथ आयेंगे। वृद्ध आम्भिनरेश की मौत यहीं बैठी है।" युवक ने अपने वक्षस्थल पर हाथ रखते हुए कहा।

'वृद्ध आम्भिराज के अनेक विश्वस्त आजीवन सेवक हैं, जिन्हें यह मृत्यु हिला चुकी है। ये सब मेरे साथ आक्रमण करने वाले हैं।'

'यह बात वीरताभरी है, मैं इसका निषेध नहीं करता; परन्तु वत्स! जिस शान्त वीरत्व की चर्चा मैंने तुझ से बार-बार की है, वह यह नहीं है। ऐसे कट मर जाने वाले आत्मघाती? गुरुदेव! न तो ये वीर हैं, न ही शूरवीर।'

'वृद्ध आम्भिराज भी आत्मघाती? गुरुदेव! आपने वह दृश्य नहीं देखा है। मैंने देखा है। मेरी आंखों से अभी तक हटा नहीं। तक्षशिला के उत्तर द्वार पर, जहां पर्वतों से आने वाला मार्ग रुकता है वहाँ, जो

तक्षशिला नगर की विशाल प्रस्तर प्रतिमा खड़ी है, उस प्रतिमा के चरणों में ही....युवक का कण्ठ अवरुद्ध हो गया। वह थोड़ी देर में न बोल सका। उसने गला खँखार कर शब्द थोड़े से जमाये।'

वृद्ध ने उसकी शोकपूर्ण-मुद्रा की ओर अपनी स्नेहिल दृष्टि फेरी। उसने प्रेम से अपना हाथ पुनः धीरे से युवक के कंधे पर रखा। आश्वासन दे रहा हो ऐसे ही वह प्रौढ़, मन्द एवं शान्त स्वर में बोला, "वत्स! मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ तक्षशिला नगरी की उस प्रतिमा को, तक्षशिला नगरी का मानो वह प्रत्यक्ष हूबहू प्रतीक खड़ा हो ऐसी सुन्दर बनाई शिल्पी ने। वह शिल्पी तक्षशिला विद्या धाम का ही था। वहां तो सहस्र-सहस्र तक्षशिलावासियों ने नित्य-नित्य मस्तक नमाये हैं। इससे संकट के समय प्रेरणाएँ प्राप्त की हैं, घोर निराशा की वेला में आशा का सन्देश प्राप्त करने के लिए वहाँ आए हैं। मैं यह जानता हूँ, वृद्ध आम्भिराज ने वहां पर नश्वर शरीर चढ़ा दिया है, मुझे इसका पता है......"

"आपको पता चला है गुरुदेव! किन्तु मैंने देखा है। इसमें बहुत अन्तर है। मैंने जो कुछ देखा है वह मेरी आंखों में बैठ गया है वृद्ध आम्भिराज वह उन्नत-विशाल क्षत्रिय शरीर, वहाँ लम्बा होकर धरती की शरण में पड़ा था, माता तक्षशिला की प्रतिमा को अन्तिम प्रणाम कर रहा हो, ऐसा उनका दक्षिण हस्त लम्बा पड़ा था, वह हाथ माता की पदांगुलि का स्पर्श कर रहा था, अपना मस्तक उसने अपने ही हाथों से काट कर माता के चरणों में समर्पित किया था, न समर्पित किया हो, और उसका शरीर अन्तिम प्रणाम करता लम्बायमान होकर वहाँ पड़ा होगा.....और उसके प्राण......"

युवक बोलता-बोलता रुक गया। उसकी आंखों में आंसू आ गये थे। 'यह वीरत्व नहीं देखा जाता.....' वह अवरुद्ध कण्ठ से बोलता-बोलता मूक हो गया।

"तू उस दिन बहुत तड़के तक्षशिला के हालचाल जानने के लिए गया था, मैंने ही तुझे भेजा था, और वहाँ इस दृश्य को देखकर तेरे रोम-रोम में इसका असर हो गया होगा, बेटा! ऐसा होना स्वाभाविक है। मैं तेरी क्षत्रिय परम्परा को जानता हूँ। तुझे इस समय भी वृद्ध आम्भिराज का मृत देह तड़पता हुआ दीख रहा होगा। किन्तु पुत्र! ये

सब बातें भुला देनी चाहियें, ऐसा वातावरण है कि इस समय वृद्ध आम्भिराज ने पराजित तक्षशिला की झाँकी सजाने की अपेक्षा मृत्यु को अधिक प्रिय माना। स्वयं पुत्र का विरोध करे, तक्षशिला को गौरवहीन बनता देखे, अथवा यवनेश्वर का वहाँ स्वागत सत्कार होता देखे, इनमें से कोई भी बात उसके गले से नहीं उतरी। उसने स्वतन्त्र तक्षशिला का दर्शन करके नश्वर देह ही छोड़ दिया सम्भवतः उसने यह भी सोचा हो कि यह मूक समर्पण आम्भिकुमार पर विशेष प्रभाव रख सके—ऐसा भी हो सकता है; किन्तु वत्स! यह बात इस समय भूल जाओ!"

"परन्तु मुझसे यह बात भुलाई नहीं जाती गुरुदेव! मैं तो एकाकी ही अलक्षेन्द्र को रोकने के लिए आगे बढ़ूँगा!"

"कब?" गुरु ने शान्ति से पूछा।

"अभी, आज्ञा दें तो अभी।"

"और आज्ञा न दूँ तो?"

"तो गुरुदेव, मुझे योगीन्द्रों के जंगल बुला रहे हैं। या तो मैं वहाँ जाऊँ, नहीं तो अलक्षेन्द्र का सामना करूँ। और तीसरा मार्ग मेरे लिए अब नहीं है।"

गुरु ने और भी अधिक-स्नेह से उसके कंधों पर दोनों हाथ रखे, उसकी आंखों में आंखें पिरोयीं : "देख पुत्र! मैं अपनी बात तुझसे कह देता हूँ, वह तू ध्यान से सुन ले। बाद में तू चाहेगा तो मैं तुझे जाने की आज्ञा दे दूँगा। यह जो कुछ तू कहता है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय लगता है। यह और कोई नहीं बोल रहा है केवल तेरा सत्व बोल रहा है। मैं तेरे उसी सत्व को कुछ कहना चाहता हूँ। देख, पता है कि तुझे तू कौन है?",

"मैं? मैं कौन हूँ? मैं क्षत्रिय तो हूँ! निन्दक तुझे भले ही शूद्र कहें, तो तुझे भी तो लगता है कि मैं क्षत्रिय तो अवश्य हूँ।"

"तू केवल क्षत्रिय ही नहीं है, चन्द्रगुप्त! वत्स! तू राजकुमार भी है। तुझ पर तो बहुत भारी पितृ-ऋण है। वह ऋण तुझे उतारना है सर्वप्रथम ! तू राजपुत्र है, तेरा राज्य मगध के हाथों से नष्ट हुआ है। तेरा पिता मगध के हाथों मारा गया है। तेरे ऊपर यह ऋण है। यह तुझे उतारना है—तू इसे उतारता है कि यहाँ रहता है—यह तू स्पष्ट बता, फिर मैं तुझे जाने की आज्ञा दे दूँ और अपना मृगचर्म उठाकर अपनी राह पकड़ूँ।"

६

चन्द्रगुप्त को सौंपा हुआ कार्य

आचार्य की वाणी शान्त हुई। चन्द्रगुप्त यह सुनता रहा। जिस बात ने इसे कम्पायमान कर दिया था, वह यह थी—

तक्षशिला के वृद्ध महाराज आम्भिराज ने जब अपने पुत्र को डिगते देखा, तो उसका दिल खट्टा हो गया।

उसे विश्वास हो गया कि अलक्षेन्द्र का तक्षशिला में प्रवेश देखने के लिए ही उसे जीवित रहना होगा। यह असाधारण गौरव-हानि थी। उसके मन में कई विचार उठे, एक विचार तो ऐसा आया कि कोई न आये, चिन्ता नहीं, वह स्वयं एकाकी ही, अलक्षेन्द्र को नगर में प्रवेश करने से रोकने के लिए अश्वारोही बनकर आगे बढ़ेगा। बाद में जो कुछ होगा देखा जाएगा। इस काल्पनिक दृश्य ने उसे हिला दिया। किन्तु इस कार्य में उसने समस्त तक्षशिला नगरी का सामना करने के लिए सज्जित कर दिया होता, यह दूसरी बात थी। इसे यवन विश्वास भंग मानकर ही सारी नगरी को खाक कर देंगे। यवनेश्वर को इस विदेश में सहस्त्रों शत्रुओं के बीच में बिना ऐसा किए सफलता नहीं मिल सकती। तो भी स्वयं अपनी आंखों से तक्षशिला के गौरव को विनष्ट होते देखने के लिए क्षण भी जीवित रहना नहीं चाहता था। उसकी इच्छा यह थी कि वह अलक्षेन्द्र की प्रवेश-वेला में स्वयं यहाँ न रहे! जीवन में ऐसे गौरवहीन दृश्य देखने की रत्तीभर भी इच्छा उसमें न थी। तक्षशिला नगरी की जो अद्‌भुत प्रतिमा शिल्पी ने उत्तर द्वार पर खड़ी की थी, उसके चरणों में एक दिन प्रभातकाल उसने अपने ही हाथ से अपना सिर काट कर सौंप दिया। और वह स्वतन्त्र तक्षशिला को देखता-देखता सदा के लिए स्वतन्त्र हो चला गया।

सर्वप्रथम यह दृश्य चन्द्रगुप्त के देखने में आया, आम्भिराज प्रतिमा के पाद-पद्मों में लम्बा होकर पड़ा था, उसका सिर माता के चरणों में था, हाथ चरणों को छू रहे थे। धड़ से शोणित बह चुका था। दृश्य भयंकर था! यह देखकर इसके तरुण हृदय में कुछ का कुछ होने लगा। इसे ज्ञात हुआ कि इस प्रकार का जीवन समर्पण करने वाले वृद्ध आम्भिराज के बलिदान के बाद कोई न कोई तो उठेगा,

ऐसी आशा रखी होगी मरते समय महाराज ने। वह वीर था, जो स्वतन्त्र रहकर चला गया। पीछे रहने वाले सब भीरु थे।

उसे अलक्षेन्द्र के सामने जाकर अकेले ही जूझने की जुंग छिड़ गई। हजारों की सेना के सामने अपना एकाकी घोड़ा दौड़ रहा हो, इस कल्पना में भी वह रंग गया। वह तक्षशिला से दूर जाना नहीं चाहता था, गुरु-शिष्य इस समय इसी विषय में मनोमन्थन कर रहे थे, चाणक्य ने देखा कि चन्द्रगुप्त का तेज प्रकट हो रहा था, किन्तु यदि इसे उचित मार्ग नहीं बतलाया गया तो यह भी अन्य क्षत्रियों के समान, अकेला ही निरर्थक नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। आज यह अलक्षेन्द्र आया, और पर्वतेश्वर एक के बाद दूसरे झुकते-डिगते, अथवा उसके सामने जूझ कर मरते जा रहे हैं। कल दूसरा अलक्षेन्द्र आएगा। एवं यही इतिहास पुनरावृत्त होगा, पर्वतेश्वर मरेंगे, आगन्तुक आक्रमणकारी विजयश्री वरेंगे।

धीरे, शान्त, किन्तु प्रेमल शब्दों के साथ आचार्य ने थोड़ी देर बाद राजकुमार की तेजस्विता को स्पर्श करते हुए कहा : "चन्द्रगुप्त! वत्स!" इसके शब्द इसके आंखों के समान ही अपना विशिष्ट व्यक्तित्व धारण करने लगे। इस समय इन शब्दों में चन्द्रगुप्त की ओर पितृ-प्रेम प्रकट हो रहा हो, ऐसा भासित हो रहा था। शब्दों में अनेक भाव विकसित करने की क्षमता इसमें थी। इन शब्दों का स्वामी कोई ऐरा-गैरा न था।

"चन्द्रगुप्त ! वत्स! बेटा!" उसने आशाप्रेरक ध्वनि में कहा। इस ध्वनि में भविष्यवेत्ता का निश्चयात्मक गुंजन था, यह आत्मविश्वास प्रेरक प्रेम था—"तेरे लिए मैं एक अनोखा भविष्य निर्माण देख रहा हूँ। इसलिए तुझसे कहने जा रहा हूँ। तू देख रहा है कि एक के बाद एक पर्वतेश्वर इस अलक्षेन्द्र के सामने नम रहे हैं, डिग रहे हैं, मर रहे हैं। ये पर्वतेश्वर कोई सामान्य वीर थोड़े ही है, तो भी ऐसा क्यों हो रहा है?—इस पर तूने कभी विचार किया है?"

"यवनेश्वर बहुत वीर होना चाहिए।" चन्द्रगुप्त ने कहा।

"नहीं, यवनेश्वर बलवान् नहीं है, वह बलवान् है और बलवान् नहीं भी है। तीन हजार कोस से आया मनुष्य चाहे कितना भी बलवान् हो, तो भी स्थानीय राजाओं की समता में निर्बल ही गिना जाएगा, फिर भी वह विजयी बन रहा है। कारण? वह बलवान् है,

इसलिए नहीं, पर्वतेश्वर निर्बल हो, ऐसा भी नहीं है, किन्तु वह संगठित है और पर्वतेश्वर विभक्त हैं, अव्यवस्थित हैं। यही मुख्य कारण! अन्य कारण भी है!"

"उसने नवीन पद्धति से सैन्य-रचना की है, नवीन व्यूह-रचना की है, युद्ध में नवीनता प्रविष्ट की है—ये दूसरे गौण कारण हैं। इसकी युद्ध-रीति तुम्हें भी सीख लेनी चाहिए, जिससे वह दुर्बल से भी दुर्बल हो जाए। तुम संगठित बनो, उसका नाश हो। चन्द्रगुप्त! वत्स! इसके सिवाय अन्य मार्ग अपनाना, भले ही उसमें वीरता हो, परन्तु है वह आत्महत्या! हमारी सेनाएं लड़ती नहीं हैं, आत्महत्या कर रही हैं; कारण कि वे हेतु के बिना और विचार के बिना निर्बल हैं। आज तो यह अलक्षेन्द्र है, परन्तु भविष्य में और कोई अलक्षेन्द्र आक्रमण करेगा, तब भी ऐसा ही होगा। इसे रोकना हो तो किसी को उसके निकट जाकर यह विद्या सीखनी पड़ेगी। मैं किसी ऐसे ही को खोज रहा हूँ, जो विद्या को लेने जाए, तू भविष्य में महान् होने वाला है, ऐसा भविष्य मेरी आंखों के सामने है। यह भार वस्तुतः मुझे उठाना होगा। तू एकाकी दौड़े और एकाकी मृत्यु का ग्रास बने, वस्तुतः इसमें न तो वीरता है, न ही राजनीतिमत्ता। मैं ऐसी शूरवीरता चाहता हूँ, जिसमें सर्वदा सामने मौत दीखती हो और सदा मृत्यु का सामना करके प्रतिक्षण जीवन-लाभ लेना पड़े। तू बोल, इस कार्य को कर सकेगा? और कोई इसे कर सकता है, तो तू भी कर सकता है। करने योग्य कार्य तो यही है! इसे तू कर लेगा तो भविष्य में कोई भी अलक्षेन्द्र इस दिशा में नहीं फटकेगा; और मगर यह तू कार्य नहीं करेगा तो ऐसे-ऐसे अलक्षेन्द्र तो आते ही रहेंगे; यहाँ के लोग छिन्न-भिन्न होकर लड़ते ही रहेंगे; जनता बेचारी भेड़-बकरियों की तरह मरती ही रहेगी। अब तू बता कि तू क्या करना चाहता है? तब मैं तुझसे पूरी बात करूँ।"

चन्द्रगुप्त विचारों में खो गया, यह द्विविधा में फँस गया, आचार्य के ऐसे शब्द इसने अनेक बार सुने थे किन्तु आज तो आचार्य ने इसके सामने कोई नई बात रखी। उसके ऊपर एक महान् पितृ-ऋण भी झूल रहा था, यह बात आचार्य ने आज ही तो स्पष्ट रूप से बताई थी। स्पष्ट ढंग से पहले भी कई बार कही थी। इस बात में इसे नवीनता लग रही थी।

इसे आचार्य की बात यथार्थ लगने लगी, ये पर्वतेश्वर छिन्न-भिन्न होने से ही मृत्यु के ग्रास बन रहे थे, इन्हें एक सूत्र में बाँधने का कार्य अभी से क्यों न किया जाए? इसके मन में ये विचार आये थे कि आचार्य ने कहा :

"मैंने तुझसे एक बार एक बात कही थी, याद है न तुझे वह बात चन्द्रगुप्त?"

"कौन-सी बात गुरुदेव?"

"असुर के घर में विद्यार्जन के लिए गये युवक कच की।"

"हाँ गुरुदेव! वह बात याद है।"

"तो तुझे भी कच की भांति काम करना होगा। वह समय आ गया है, यह अलक्षेन्द्र जिस तरह अपने नाम पर नगरों को बसा रहा है, कीर्ति स्तम्भ खड़े कर रहा है, सब के साथ मेल बढ़ा रहा है, यह देखते हुए लगता है कि वह यहाँ पर रहने के लिए ही आया है। वैसे तो पार्शव शासानुशास के क्षत्रपति माने जाते हैं, अलक्षेन्द्र स्वभावतः स्वयं को इन विजित प्रदेशों का शासक मानेगा, वहाँ पर क्षत्रप खड़ा करेगा। हमें उसकी युद्ध-व्यवस्था, शस्त्रास्त्र एवं उसकी समर-रीति, रंग-ढंग इत्यादि समझ सीख लेना चाहिये, यह भविष्य में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। बोल है तू कच बनने के लिए तैयार? असुरों जैसे यवन के शिविर में जाना है, मित्र बनकर रहना है, सब कुछ जान लेना है, शंका से दूर रहकर काम करना है, तू जाने को प्रस्तुत हो जा। वास्तविक वीरत्व यही है। आम्भिनेरश की यही इच्छा रही होगी।"

'कहाँ? यवन के शिविर में जाना है?'

'केवल शिविर में ही नहीं जाना है, वहाँ निवास ही नहीं करना है, उसकी समस्त युद्ध-कला सीख कर आना है। तक्षशिला विद्यावास तुझे और कुछ नहीं पढ़ा सकेगा। उस शिविर में नयी-नयी कलाएँ हैं, वहाँ जाकर सब कुछ ले आना है!'

चन्द्रगुप्त के मस्तिष्क में एक नवीन ज्योति जगमगाने लगी। भारत के भावी निर्माण की बातें एक स्वप्न दृष्टि की भांति, आचार्य अनेक बार उसे कह चुके थे। आज तो ये बातें सर्वथा नवीन रूप में आ रही थीं, आचार्य नवीन परिस्थिति देख रहे थे। और उसका सामना करने के लिए यह नींव रख रहे थे। आज उसे आचार्य में एक नूतन

दृश्य का प्रथम बार दर्शन हुआ। आचार्य के पास अपनी ही पृथक् दृष्टि थी, इस दृष्टि के तेज में आचार्य जो वस्तु रखते उसका मूल्य नए सिरे से बढ़ जाता। चन्द्रगुप्त के मन में अभी तक पर्वतेश्वरों के सामने की वीर-गाथा बहुत मूल्यवान् बन कर बैठी थी। आचार्य ने इस वीर-गाथा का मूल्य सर्वथा गिरा दिया था, और एक नवीन परिस्थति उसकी आंखों के सामने साकार बन गई, वह धीरे से बोला :

'गुरुजी! क्या यही समय नहीं है कि आपको और मुझे इन सभी पर्वतेश्वरों को संगठित करने का प्रयास आरम्भ कर देना चाहिए?'

आचार्य जोर से हंसकर बोले :

'चन्द्रगुप्त! कभी तेज द्वेषियों का संगठन कहीं होता सुना है? ये होता ही नहीं है, हो भी जाए तो जीवित नहीं रहते। जीवित भी रहें तो परस्पर एक दूसरे को विध्वस्त करने के लिए, ये जीते हैं। तेजोद्वेषियों के किए महान् सर्जनात्मक कार्यों की बात कभी सुनी है? ये सभी पर्वतेश्वर एक-दूसरे से द्वेष रखते हैं, इन्हें पौरव से तेजोद्वेष है, मगध से तेजोद्वेष है, मगध के मन में ये सब भिक्षुक से हैं, इन भिक्षुकों के मन में मगध के हाथी के नाम-निशान मिटा देने वाले चिह्न उग गए हैं। किन्तु ये सब अपने ही लिए हैं। दूसरे का नाम आया तो गया समझो? सम्प्रति ये एकताबद्ध नहीं होंगे। इस समय जो कोई इन्हें संगठित करने का प्रयास करेगा, वही निष्फल होगा, अधिकांश तो ऐसे ही हैं जिन्हें शासन से ही सिखाया जा सकता है। यवनेश्वर की युद्ध-कला जान ही ली जाए तो वह पर्वतेश्वरों को वशीभूत करने में काम आएगी। ये लोग इसी ढंग से संगठित होंगे। अपना एक ध्येय है चन्द्रगुप्त! एक महान्, सशक्त साम्राज्य की स्थापना! मगध साम्राज्य महान् तो है, किन्तु शासन महान् नहीं है। यदि तू यह यवन के शिविर में नवीन युद्ध व्यवस्था सीख ले तो मगध का सेनापति तेरी प्रतीक्षा कर रहा है। मैं वहाँ इसीलिए जा रहा हूँ। वहाँ जाकर भूमिका रचूँगा, वहाँ जब स्थान स्थिर हो जाए, तो तू आ जाना। समय पर यदि यवनेश्वर आगे बढ़े तो, तू ही मगध का महाबलाधिपति बन जाएगा। तेरे पास अनुभव हो जाएगा तो बाद में क्या करना होगा, अन्दर रहकर कैसे भूमिका रचनी होगी, इन सारी बातों को वहीं जाकर निश्चित करेंगे। तू सज्जित होगा, यवनेश्वर के शिविर में जाने के लिए अभी समय है, मैं तुझसे यही कहना चाहता था।'

आचार्य की विशाल रूपरेखा चन्द्रगुप्त के मन में बैठ गई। आचार्य अनेक बार उससे कहा करते थे कि कोई भी, बिना एक भी हथियार उठाए मगध के साम्राज्य को हस्तगत कर सकता है, इतना निर्बल है मगध। आचार्य का प्रयत्न इसी ओर था, आचार्य की बातों की प्रतिध्वनि उसे छू गई। वह एकाकी आम्भिनरेश के लिए मरे, इसमें कोई लाभ थोड़े ही हो जाने वाला है। आचार्य की बात में योजना थी, साहस था, इससे चन्द्रगुप्त आकृष्ट हुआ। उसने दोनों हाथ जोड़े: देव! मैं जाऊँ तो सही, किन्तु मुझे वहाँ किसी बात का तो अता-पता ही नहीं है, वहाँ पर जो पर्वतेश्वर हैं, वे तो अलक्षेन्द्र के आश्रित हो गए हैं। मेरी स्थिति बेढंगी हो जाएगी।

''तुझे यह ध्यान रखना होगा, चन्द्रगुप्त! अलक्षेन्द्र के महान् स्वप्नों को ही देखा करना, समझना और इन्हीं विषयों पर वार्तालाप करना। पर्वतेश्वर की किसी छोटी-सी बात को छूना तक नहीं। तू मगध से आ रहा है। अलक्षेन्द्र आगे बढ़ना चाहता है, ऐसा सुनने में आ रहा है, वह आगे बढ़ेगा तो उस समय क्या होगा, यह तो एक बड़ी पञ्चायत है। तू मागध है अतः इस बात से तेरा मार्ग सरल बन जाएगा। बाद में तो वहाँ की जैसी परिस्थिति हो, जैसी हवा हो—तदनुसार वत्स तुझे निवास करना होगा। जड़ चलते फिरते नहीं हैं। जंगम फिरने से नहीं डरते। स्थिति के अनुसार चलनेवाले सुरक्षित रहते हैं। यह सूत्र सर्वदा कण्ठस्थ रखना। तू वहाँ की हवा देखकर बात करना। किन्तु ध्येय तो एक ही है कि यवनेश्वर की युद्ध कला सीखना, यह बात क्षण भर भी न भूलना।''

गुरु शिष्य गम्भीर बन गए। चन्द्रगुप्त के मन में इस समय अनेक संस्मरण जाग रहे थे। वह जब छोटा था, मुश्किल से सात-आठ वर्ष का तभी से इसने आचार्य को अपने पिता के स्थान पर देखा था, माता के स्थान पर भी उन्हीं को समझा था। आचार्य चन्द्रगुप्त इतने प्यार से क्यों पाल रहे थे इसका सच्चा उद्देश्य चन्द्रगुप्त की समझ में अब आया। भारत के महान् निर्माण का अपना स्वप्न उन्हें संचालित कर रहा था। वह ऐसे महान् आचार्य का प्रीतिभाजन था, यह बात साधारण न थी, अनेक कोमलभाव उसके मन में उत्पन्न हो रहे थे।

'गुरुदेव!' उसने दोनों हाथ जोड़े। 'मैं आप से एक बात पूछूँ?'

'क्या?'

'मेरी माँ जीवित है? वह कहाँ है? कौन है?'

आचार्य प्रश्न सुनकर घड़ी भर विचारों में डूब गए। उनके नयनों के सामने एक सुन्दर राजरानी आई।

मयूर नगर की वह रानी कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) में रहती थी। उसके साथ उसका एकमात्र पुत्र था। मगध के गुप्तचरों को चकमा देने के लिए महारानी ने अपना पुत्र पड़ोसी अहिर को सौंप दिया था।

किसी को खबर भी न थी कि यही मयूर का राजकुमार है। उसे सब अहिर का लड़का मानते थे।

किन्तु एक दिन उस सात आठ वर्ष के लड़के ने एक खेल रचा। स्वयं राजा बना, शासक हुआ, और अनेक गोपाल बालों को दण्ड देने लगा। किसी घुमक्कड़ गुप्तचर ने यह दृश्य देखा। उस समय आचार्य विष्णुगुप्त वहाँ आए थे। उन्हें इस दृश्य से आनन्द आ रहा था। बालक की प्राकृतिक प्रतिभा देखकर उसका उज्ज्वल भविष्य देख रहे थे।

इस बात की चर्चा चली तो महारानी को चिन्ता हुई। उन्होंने चन्द्रगुप्त को तक्षशिला ले जाने के लिए आचार्य से विनती की।

मगध में उसके ऊपर मृत्यु झूल रही थी। रानी ने गुप्तचरों की शंका निर्मूल करने के लिए पाटलिपुत्र में ही रहने का निर्णय किया। चन्द्रगुप्त आचार्य के साथ चल दिया। महारानी ने आचार्य से गद्गद होकर कहा कि विद्या-समाप्ति तक आप इसे कुछ न बताएँ, इस ओर आप उसे न भेजें, मगध के गुप्तचर बड़े पक्के हैं। यह मयूर नगर का राजकुमार है, यह समाचार मिलते ही वे इसे पकड़कर कारावास में बन्द कर देंगे, अथवा मार डालेंगे।

तब से चन्द्रगुप्त विष्णुगुप्त के साथ ही रहा। इस बात को वर्षों बीत गए, तब से यह पाटलिपुत्र की ओर गया ही न था। पाटलिपुत्र को यह भूल भी गया था। इसकी माँ थी कि नहीं, इस विषय में इसके मन में स्पष्ट स्मरण न था।

आचार्य कुमार का प्रश्न सुनते रहे यदि वे स्वयं यथार्थवादी होकर कह दें तो इसका हृदय पाटलिपुत्र की ओर खिंच जाएगा। यदि असत्य कहें तो यह हतोत्साहित हो जाएगा। सम्भवतः इसका जीवन ही नीरस हो उठे। आचार्य घड़ी भर तक मूक भाव से धरती की ओर ताकते रहे!

आचार्य के शब्द सुनने के लिए अधीर चन्द्रगुप्त एक दृष्टि से उन्हें देखता रहा!

७

आचार्य ने अपनी बात कही

सर्जक-श्रेष्ठ आचार्य विष्णुगुप्त मानव-भावों के साधारण जानकार थे। वे समझ गए, तरुण चन्द्रगुप्त के मन में एक प्रेम घटा छा गई है। वे उसे यवनेश्वर के शिविर में भेजना चाहते हैं। इन दोनों बातों में मेल होना कठिन है। उसने चन्द्रगुप्त के सामने देखा, आचार्य ने उसकी आंखों में माता के लिए तरसता बालक देखा। तक्षशिला विद्याधाम के समस्त शिष्य जिस दिन अपने-अपने घरों के लिए चल दिए, उस दिन से इसे भी घर की याद आई। माता-पिता की छाया उसे आकर्षित कर रही थी। वे सब खेल रहे थे। अकेला चन्द्रगुप्त अपने आश्रम की ओर आ रहा था, किन्तु तब आचार्य को लगा कि इसके पैर मन-मन के हो गए हैं, आंखों में एक प्रकार की प्रीति-करुणा समाई है, मन में अवाक् लगन थी, आचार्य ने उसे अपनी छाती से लगाया—"बेटा!.....चन्द्रगुप्त! हमें भी अब यहाँ से चल देना चाहिए।" आचार्य ने उससे कहा था। और बड़ी देर तक वे उसके सिर पर प्रेमपूर्वक हाथ फेरते रहे थे।

आचार्य को वह दृश्य याद आया। उस समय जो व्याकुलता चन्द्रगुप्त के मन में व्याप्त हो गई थी, इस समय वही आचार्य को नजर आ रही थी। सम्भवतः यह अकेला ही अलक्षेन्द्र का सामना करना चाहता था। इस उन्मत्त वीरत्व के पीछे भी ऐसी कोई निराशा काम कर रही है।

आचार्य ने प्रेमपूर्वक शब्दों में कहा—चन्द्रगुप्त! वत्स! तुझे एक बात कहूँ? सुनने लायक है।—अपने इस विद्याधाम से काफी दूर, पर्वतों के मध्य में एक छोटी-सी कुटिया है, उस कुटिया में एक बुढ़िया रहती है। उसकी उम्र बहुत हो गई है। अस्सी के आगे बढ़ गई है। वह बड़ी कठिनाई से अपना काम-काज कर सकती है।

उस वृद्ध बुढ़िया का बेटा था। बेटे में अनेक शक्तियाँ थीं। अनेक स्वप्न थे। अनेक योजनाएँ थीं। जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे बेटे के मन में उसके स्वप्न नयी-नयी मनःसृष्टि रचने लगे।

बुढ़िया ने यह देखा, वह प्रेममयी माँ थी। उसके ही एक लड़का था। उसकी दुनिया बसाने की स्वाभाविक इच्छा थी, उसके दिल में यही स्वप्न था, इसी स्वप्न के आधार पर वह जीवन बिता रही थी। किन्तु पुत्र के मन में और ही बात थी। उसे तो समस्त भारतवर्ष बुला

रहा था, इसके लिए उसे कुछ न कुछ करना था, परन्तु माता पुत्र को अपनी वत्सल-छाया में ही रखना चाहती थी। एक दिन उसकी बूढ़ी माँ ने रोते-रोते बेटे से कहा—"बेटा! तेरे जीवन में मुझे राज-योग दीखते हैं। तू राजा बनने के लिए उत्पन्न हुआ है!"

लड़के ने साश्चर्य पूछा—"किन्तु माँ, इसमें रोने की क्या बात है?'

माता बोली-"तू राजा बनेगा, किन्तु राजा बनने पर तू मुझ बुढ़िया को भूल जाएगा। मैं एकाकिनी हो जाऊँगी। इसलिए मैं रो रही हूँ।"

लड़के ने कहा—"माँ! मैं राजा नहीं बनूँगा। हीनांग को कोई राजा नहीं बनाता, यह तुम जानती हो ना?"

माँ ने कहा—"किन्तु तू हीनांग कहाँ है?"

पुत्र बोला—"मैं हीनांग हूँ माँ!" ऐसा कहकर उसने पास में पड़ा शिलाखण्ड उठाया और अपना एक दाँत ही तोड़ लिया।

लहू की धारा बह निकली। माँ "अरेरे! करती हुई, उसे छाती से लगाने दौड़ी। किन्तु पुत्र, जैसे कुछ हुआ ही न हो, ऐसे शान्त स्वर में कहा—माँ अब तुम धैर्य रखो। मुझ हीनांग को कोई राजा नहीं होने देगा। अब तुम मुझे, कहीं भी जाने का आशीर्वाद दो। अपने लिए मुझे कुछ दीख रहा है। अब मैं राजा नहीं बनूँगा और तुमको नहीं भूलूँगा। यहाँ तुम्हारी वात्सल्यमयी छाया में बैठने के लिए मैं हमेशा आता-जाता रहूँगा। किन्तु माँ! प्रेम के नाम पर अपने पुत्र को पंगु न बनाओ। अब मुझे जाने की आज्ञा दो! भारतवर्ष की विशाल धरती व्यवस्था चाहती है। स्वतन्त्र सुतन्त्र चाहती है। सुशासन के लिए तड़प रही है। मेरे हृदय में ये सारी बातें अंकुरित हो गई हैं। मेरा यह कार्य-क्षेत्र है। अब मुझे जाने दो। मैं तुम्हारी छाया में आता रहूँ, आता रहूँगा, हाँ आता रहूँगा।"

"माता ने अपने लाडले को जाने की आज्ञा दे दी। वह प्रेम-पाश में बँध गई होती, तो उसका पुत्र कुछ भी न कर पाता। जानते हो, उस वृद्धा का इकलौता बेटा कौन है?"

चन्द्रगुप्त आचार्य के सामने देखता रह गया। आचार्य स्निग्ध, मधुर हँसी हँस रहे थे। और उनका एक भग्न दाँत, उनके चेहरे को कुरूपता के स्थान पर प्रेम की मोहिनी दे रहा था।

"वह पुत्र मैं हूँ!" आचार्य बोले।

"और बुढ़िया माँ?" चन्द्रगुप्त ने पूछा।

"बुढ़िया माँ अभी तक जीती है। मैं उनके पास जाता हूँ। किन्तु चन्द्रगुप्त! वत्स! प्राकृतिक रूप में जिसे कुछ मिला है, उसके लिए यह जीवन कला समझने योग्य है।"

आचार्य की ध्वनि पकड़ने में चन्द्रगुप्त को विलम्ब न लगा। वह तुरंत खड़ा हुआ। उसने अपने वस्त्र सँभाले। शास्त्रास्त्र सजाए। हाथ जोड़कर वह बोला—"गुरुदेव! मैं जा रहा हूँ।" उसमें सिंह-सी तत्परता थी।

आचार्य ने उसके कंधे पर प्रेम से हाथ रखा—"चन्द्रगुप्त! मैंने तुझमें सिंह देखा था। आज उस बात की विशेष प्रतीति हो गई है। बेटे! तेरी माँ जीवित है, पाटलिपुत्र में है। मैं उससे मिलने वाला हूँ। तेरा सन्देश कहने वाला हूँ। तू माँ के लिए कोई निशानी देगा? अपनी यह अँगूठी मुझे दे, मैं तेरी माँ को बताऊँगा यह। तू कैसे महान् कार्य के लिए गया है, यह बात भी न उनसे कहूँगा। तू सिंह शावक है, यह आज निश्चित हो गया है। किन्तु हाँ सुन ले, जहाँ जा रहा है, वहाँ तुझे मार्ग मिल जाएगा परन्तु बाद में संभाल करनी होगी। ऐसे महान् विजेताओं के कान कच्चे होते हैं अथवा गर्वीले होते हैं। थोड़ी भी हवा बदली हुई लगे तो एक क्षण भी चूके बिना अपनी राह चल देना। युद्ध कला सीखने में एक क्षण को भी प्रमाद न करना। मैंने सुना है कि उसकी अश्वरोही सेना एक साथ दो कार्य करती है। वह जिस क्षण आक्रमण करता है, उसी समय उसकी सेना वेग से आगे बढ़ती है और साथ-साथ बाण-वर्षा भी करती है। इस प्रकार अश्वों को आगे बढ़ाना और तत्काल बाणों की वर्षा करना—इस युद्ध कला ने कई लोगों को विस्मित कर दिया है और पराजित कर दिया है। चन्द्रगुप्त! बेटा! उसकी ऐसी जो भी युद्धकला हो तो तू अवश्य सीखना। अब तक तो मेरी विद्याधाम तक्षशिला था, आगे से अलक्षेन्द्र का शिविर रहेगा। तेरा कल्याण हो!"

८

वैशाली में

रास्ते पर चलते हुए आचार्य विष्णुगुप्त को अनेक विचार आते रहे। आम्भिराज के, आम्भिकुमार के, अलक्षेन्द्र के, तक्षशिला के, ऐसे अनेक विचार आए। किन्तु चन्द्रगुप्त की याद तो रह-रहकर सताती

रही। उन्हीं ने तो उसे यवनेश्वर के शिविर में भेजा था। वह तेजस्वी था। किन्तु स्वयं चन्द्रगुप्त की माँ से मिलेंगे तब क्या उत्तर देंगे? यह बड़ी उलझन थी। उसकी माँ अभी तक पाटलिपुत्र में थी—ऐसा समाचार उन्हें तक्षशिला में ही किसी विश्वस्त साथी चर से मिल चुका था। उसी दूत से आचार्य को यह समाचार भी मिला था कि राजा नन्द ने विशाल दानशाला की स्थापना की है और विद्वानों के मान-सत्कार के लिए एक संघ स्थापित किया है। पाटलिपुत्र जाने पर चन्द्रगुप्त की माँ को क्या प्रत्युत्तर देंगे? इस विषय पर रास्ते भर उनके मन में संकल्प-विकल्प उठते रहे।

कुछ दिनों के प्रवास के पश्चात् ब्रह्मावर्त के शस्यश्यामल प्रदेश को पार कर वे आगे बढ़े।

कुछ क्षेत्र छोड़ने पर पाँचाल आया। वहाँ से वत्सदेश को एक ओर छोड़ उन्होंने सीधा श्रावस्ती का मार्ग पकड़ा। उनका विचार वैशाली होकर पाटलिपुत्र जाने का था। मगध ने अपना समस्त महान् राज्य स्थापित कर लिया था। पांचाल, कोसल, वत्स, अंग, बंग एवं अवन्ती तक मगध के एक-छत्र साम्राज्य का विस्तार था। तो भी इस विषय का सर्वाधिक विद्वेष यदि कहीं पर है, तो वह लिच्छवियों में है, ऐसा चाणक्य का अनुमान था। अतः वे सर्वप्रथम वैशाली की ओर जाना चाहते थे।

वैशाली नगरी में एक दो सप्ताह ठहर जाएँ तो पाटलिपुत्र के राजनैतिक वातावरण के अनेक समाचार उन्हें ज्ञात हो सकेंगे। फिर पाटलिपुत्र जाना ठीक होगा।

वैशाली के लिच्छवी अभी तक कितने शाक्तिशाली थे, इस बात का ज्ञान उन्हें था। लिच्छवियों में मनों में मगध के प्रति भयंकर तिरस्कार होना चाहिए। वैशाली-सी समृद्ध नगरी का विनाश मगध के एक शासक ने किया था—इस बात को लिच्छवियों-सी युद्धप्रिय जनता कभी नहीं भूल सकती, यह बात आचार्य के ध्यान में थी। जिस-जिस प्रदेश को पार कर आचार्य आगे बढ़ रहे थे, वहाँ-वहाँ प्रजा में मगध का गुप्त विरोध विद्यमान था। परन्तु खुल्ला विरोध करने की क्षमता किसी में न थी। सर्वत्र ब्राह्मण और क्षत्रिय विद्वेष उन्हें नजर आया और विविध उत्सवों के समय, ब्राह्मण-द्वेषियों को मगधराज के द्वारा उत्तेजन मिलता था, यह भी आचार्य ने देखा।

मगधपति महापद्मनन्द के हृदय में एक वैरभाव घर कर चुका था। उसे शूद्रपुत्र कहकर अपमान करने वाले ब्राह्मणों को वह निर्मूल करना चाहता था। क्षत्रियों और ब्राह्मणों के अपमान पर उसे आनन्द आता था। चाणक्य जिस मार्ग से आए उस मार्ग में उन्हें पूर्वोक्त सत्य का अनुभव हुआ। उनकी आत्मा को बड़ी व्यथा हो रही थी। किन्तु वे बिना कुछ बोले अपनी राह पर बढ़े जा रहे थे। श्रावस्ती से आगे का मार्ग विकट था और उसमें चोर डाकुओं का आतंक सदा बना रहता था। अतएव वे सार्वथाह एवं जनसंघों के साथ आगे बढ़ते रहे।

इस प्रकार वे एक साँझ वैशाली नगरी पहुँचे।

उन्होंने देखा कि नगरी का वैभव लुट गया है। उसका महत्त्व घट गया है। फिर भी आचार्य ने नगरी में ऐसा कुछ देखा कि वे आनन्दित हो उठे।

उन्हें इस नगरी में पहले-पहल वातावरण में अन्तर दृष्टिगोचर हुआ। अन्यत्र तो इसने मगधराज का भय हवा में उड़ता हुआ देखा था। जाने कि पास की भीत के भी कान हों, ऐसे नन्द विषयक बातें करते हुए लोग डरते थे, यहाँ की हवा में तो नन्द के सत्ता की स्वीकृति थी, तो भी उस सत्ता को 'अच्छा अब' इस प्रकार की अपमान भरी उपेक्षा से साधारण मनुष्य भी देख रहा था, यहाँ की हवा में प्रथम बार उसने स्वतन्त्रता देखी। मनुष्यों में वाणीस्वातन्त्र्य की सामर्थ्य देखी।

यहाँ एक सप्ताह भी रह लिया जाए तो पाटलिपुत्र के बारे में बहुत सारा जानने को मिले, चाणक्य के इस विचार में दृढ़ता आ गई। किन्तु वैशाली में इसका किसी से परिचय न था। वैशाली से अनेक युवक तक्षशिला में अध्ययनार्थ जाते थे, किन्तु ऐसे समय में उन्हें बुलाना चाणक्य को उचित न लगा।

नन्दराज, क्षत्रियों का काल, दूसरा परशुराम माना जाता था, इसलिए चाणक्य को लगा कि कुण्ड ग्राम अथवा ब्राह्मणकुण्डपुर की ओर स्वयं जाना चाहिए। वहाँ कोई न कोई अतिथि सत्कार करने वाला मिल ही जाएगा और वहाँ से प्राप्त जानकारी विशेष मूल्यावान् होगी।

ऐसा विचार कर आचार्य ने नगर का मार्ग छोड़ दिया। वह वैशाली के उपनगर की ओर चल पड़ा।

उसने ब्राह्मण कुण्डपुर की तरफ जाने वाला मार्ग पकड़ा। रात

हो चुकी थी, और लोग अभी तक जाग रहे थे। किन्तु अधिकांश खिड़कियाँ बन्द हो चुकी थीं। खिड़कियों के साँधों से देखने से, भीतर जलने वाले दीपक दीखते थे।

आचार्य विष्णुगुप्त बेरोक जा रहा था। एक स्थान पर वह अपने से ही रुक गया। इसने वैशाली के युवक छात्रों से, ब्राह्मण संस्कृति के प्रदीप को टिमटिमाते रखने में प्रयत्नशील एक ब्राह्मण आर्यमिश्र नामक महान् तपस्वी की विद्योपासना की प्रशंसा सुनी थी। उसी आर्यमिश्र का निवास स्थान इतने में ही था। दिशा एवं स्थान की याद तो आचार्य को ठीक-ठीक थी। फिर अन्य किसी के मिल जाने से अपने कार्य में विघ्न उपस्थित होने का उसे भय था। एक सप्ताह बिताना चाहता था। परन्तु ऐसे स्थान पर नहीं जहाँ किसी को शंका हो जाए, तभी तो विद्योपासना-संलग्न आर्यमिश्र का स्थान आचार्य को पसन्द आया।

यह आर्यमिश्र समृद्ध वैशाली के सुप्रसिद्ध विद्वान् आर्यक का वंशज ही था।

आचार्य एक पुराने-से द्वार के सामने जा खड़े हुए। इस द्वार पर दस्तक दूँ या न दूँ, ऐसी शंका मन में उठती रही। वह स्वयं समझ ही रहा था कि वह अब ऐसे राजतन्त्र में आ गया है जो पूर्णतया तक्षशिला द्वेषी है। अतएव तक्षशिला के आगन्तुक के प्रति सबको शंका होनी स्वाभाविक ही है। यदि पाटलिपुत्र के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध रखने वाला कोई व्यक्ति उसे मिले तो बना बनाया काम समाप्त हो जाए।

देखा जाएगा, सोचकर उसने साहस के द्वार पर दस्तक दिया और जोर से आवाज दी: 'भन्ते! आर्यमिश्र ब्राह्मण पण्डित यहाँ कहाँ रहते हैं?'

चाणक्य ने अनुमान से नाम लिया था, किन्तु चाणक्य के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब सामने से उत्तर मिला: 'हाँ, हाँ, कौन है जो पण्डित आर्यमिश्र का घर पूछ रहा है?'

'यह मैं हूँ, ब्रह्मावर्त से आने वाला अतिथि! दालान में खड़ाऊँ की आवाज सुनाई दी और देखते-देखते घर का द्वार खुल गया।'

धुँधले प्रकाश में आचार्य ने अपने सामने एक विद्वान्, श्रोत्रिय ब्राह्मण खड़ा देखा। उसके भाल पर चन्दन चर्चित त्रिपुण्ड था। स्कन्ध पर जनेऊ लटक रहा था। उसके हाथ में किसी पुस्तक के पत्रे थे।

ऐसा लग रहा था कि वह पढ़ते-पढ़ते खड़ा होकर बाहर आया है। चाणक्य के मन में एक प्रकार का आनन्द छा गया।

अपने प्रथम अकटलपच्चू काम की सफलता से आचार्य को आगे पाटलिपुत्र की यात्रा की सफलता पर भी विश्वास हो आया।

आगे-आगे पण्डित आर्यमिश्र और पीछे-पीछे आचार्य, इस प्रकार दोनों अन्दर गए। घर सर्वथा सादा था, दालान में स्वच्छता थी, आचार्य के बैठने के लिए आर्यमिश्र ने कक्ष के बाहर दालान में आसन बिछाया, जलपात्र पास में रखा, और कुछ दूरी पर हाथ-पैर धोने के स्थान बताते हुए कहा :

'पधारिए, भन्ते ब्राह्मण, आइए, यहाँ पर है जल!'

चाणक्य आसन पर स्वस्थ होकर बैठ गया। आर्यमिश्र ने उसके चेहरे की ओर देखा, दीपक का प्रकाश सीधे आगन्तुक के मुख पर पड़ रहा था, वह थोड़ी देर देखकर हाथ जोड़ते हुए बोला : 'भन्ते विष्णुगुप्त! आचार्य को देखने वाला मुझे मिला है यह मेरा अनुमान सच्चा है, भन्ते पण्डित?'

चाणक्य एक क्षण के लिए स्तब्ध हो गया। परन्तु तक्षशिला के आचार्यों की मानसिक आकृति वहाँ से देश देशान्तरों के विद्यार्थी अपने-अपने घरों को ले जाते थे। इसलिए ऐसी ही किसी बात के आधार पर, आर्यमिश्र ने मुझे पहचान लिया होगा, यों आचार्य ने अनुमान लगाया।

'भन्ते आर्यमिश्र! आपका अनुमान सच्चा है। मैं विष्णुगुप्त हूँ। पाटलिपुत्र जाते हुए इधर से आ निकला। आपने मुझे खूब पहचाना?'

'सूर्य को कौन नहीं पहचानता भन्ते आचार्य? आपकी ख्याति तो वैशाली के घर-घर में फैली है। यहाँ पर आपके पढ़ाए सैकड़ों छात्र आपकी कीर्ति गाते हैं। तक्षशिला विद्यालय की बात गाते हैं। जब बात करते-करते आचार्य विष्णुगुप्त का नाम आता है तो उनके मस्तक आज भी श्रद्धा से झुक जाते हैं। इधर से क्या पाटलिपुत्र जाना है? या यहीं तक? आपके यहाँ महान् उपद्रव सुना है, यह बात सच्ची है?'

'यह सत्य है भन्ते आर्यमिश्र! हमारी ओर यवनेश्वर बढ़ा आ रहा है, विद्याधाम खाली हो गया है, मैंने सुना है कि मगधेश्वर ने एक विद्यादानशाला स्थापित की है, वहाँ पर ग्रन्थ-परीक्षण-संघ है, जो ग्रंथ-

परीक्षण करके विद्वानों का सत्कार करता है, इस समय विद्याधाम उबलते हुए चरू की भांति संतप्त हो उठा है। इसलिए सोचा कि यह प्रवास-यात्रा कर लूँ, प्रवास का प्रवास और विद्योपासना की विद्योपासना। नन्दराज ने यह बहुत अच्छा कार्य किया है, मैंने एक ग्रंथ लिखा है।'

आर्यमिश्र ने सारी बात सुनकर कोई प्रत्युत्तर न दिया, उसकी आकृति से लगता था कि उसे ये बातें अच्छी न लगीं, वह कुछ पूछना चाहते थे कि तभी आर्यमिश्र के एक सेवक ने फलाहार और दुग्धाहार की सूचना दी।

आर्यमिश्र पिछले भाग में जलाशय बताने के लिए विष्णुगुप्त को साथ में ले गया। मगधराज के बारे में उसने अभी तक एक भी शब्द न कहा था। परन्तु चाणक्य को उसकी मुखाकृति से पता चल गया कि पाटलिपुत्र की सत्ता का तिरस्कार करने वाला एक व्यक्ति यहाँ पर अवश्य है। उसके मन में आनन्द हुआ आचार्य को यही तो जानना था। आचार्य ने सुना था कि स्वयं पाटलिपुत्र में भी नन्द के भयंकर शत्रु बैठे हैं। इसी कारण तो नन्दराज्य की गुप्तचर व्यवस्था प्रबल बन गई थी। और थोड़ी ही असावधानी रखने वाला व्यक्ति देखते-देखते अदृश्य हो जाता था, फिर जाने वह कहाँ चला जाता? फलतः चाणक्य ने अति सावधान रहने का निर्णय कर लिया था। किन्तु पण्डित आर्यमिश्र तो आचार्य को सच्चा न लगा।

९

चाणक्य की नींद उड़ गई

स्नान एवं फलाहार के पश्चात् अतिथि और यजमान दोनों, दीपिका के मन्दालोक के पास बैठकर विद्या गोष्ठी करते-करते किसी पुरानी पुस्तक के पन्ने पढ़ रहे थे।

इतने में एक शंका-स्थल आते ही आर्यमिश्र रुक गया और चाणक्य की ओर देखने लगा। चाणक्य ने 'जिह्वाग्रे वसति सरस्वती' के अनुसार शंका निराकरण तुरन्त कर दिया। आर्यमिश्र उसे सुनता रहा। उसका मन नाच उठा यह देखकर कि आचार्य की विद्याकीर्ति

जैसी सुनी थी, वैसी ही निकली। भले ही कीर्ति के अनुसार इनकी मुखमुद्रा न थी, शरीर बेडौल था, आकृति को देखकर आचार्य के प्रति अनास्था उपज जाती थी, पर प्रश्नोत्तर सुनकर तो आर्यमिश्र गद्गद हो गया। ज्ञानोदधि था आचार्य तो! परन्तु आर्यमिश्र को यह जानकर दुःख हुआ कि इतना बड़ा समर्थ विद्वान् द्रव्य एवं कीर्ति लाभ के लिए पाटलिपुत्र जा रहा है। अभी तक यह दुःख आर्यमिश्र के चेहरे पर झलक रहा था। ठीक है नन्द की विद्वत्सभा की बात, परन्तु आचार्य के समान विद्वानों का वहाँ जाना आर्यमिश्र को असह्य लग रहा था। आचार्य के ज्ञान से साश्चर्य आर्यमिश्र थोड़ी देर तक आचार्य का मुख देखता रहा।

फिर धीरे से बोला, "भन्ते आचार्य, बुरा न मानें तो एक बात पूँछूँ!"

'भन्ते आर्यमिश्र प्रसन्नता से पूछो।'

'इस शूद्रोद्भव नन्द को आप भी सम्मानित करेंगे भन्ते आचार्य?'

आर्यमिश्र के शब्द सुनकर चाणक्य को हैरानी हुई। वह निर्भयता से कह रहा था, अतः यह और भी आश्चर्य की बात थी। 'तुम तक्षशिला जैसे विद्याधाम के आचार्य, नन्द की विद्वत्सभा अधिकारी बनोगे? फिर होगा क्या? यह शूद्रोद्भव यही मानेगा कि यही महान् है? उसके पास विद्वान् आते हैं, अतः वह महान् है।'

यह सुनकर चाणक्य का मन प्रफुल्लित हो गया। परन्तु आकृति पर ऐसा दिखावा किया कि कोई अप्रिय बात सुनी हो, वह जोर से बोले!

'भन्ते आर्यमिश्र! मैं तुम्हारी बात समझता हूँ, परन्तु जो नन्दराज अब किसी प्रकार उदार होना चाहता है, उसे हम उदार भी न होने दें क्यों यही न? एक बार किसी पर कुलहीनता की छाप पड़ गई तो क्यों वह छाप कभी मिट ही नहीं सकती? उसको मिटाने के लिए इतनी इतनी विद्योपासना करे तो भी? यह कहाँ का सत्य है? और यह छाप किंवदन्ती ही न है? महा पद्मनन्द की प्राकृतिक शक्ति तो ऐसा कहती है कि ये बातें सर्वथा असत्य होनी चाहिएं।'

'तुम्हें भी भन्ते आचार्य, श्रमण-साधु की नयी हवा छू गई है, ऐसा होना शक्य भी है' आर्यमिश्र ने कुछ खिन्नता से कहा, 'यह मेरा रंक घर पाँच छः पीढ़ियों से बात बनाए हुए था; विद्या की उपासना की, जाति शुद्धि की। किन्तु इस मगध राज्य में अब किसी का

टिकना कठिन है, जो चमड़े पर, गोदे पर, वृक्षों पर, पत्थर पर भी कर लेता हो—वही आदमी अपनी अतुल सम्पदा थोड़ी इस प्रकार खर्चे तो उसे विद्या का मान रखने वाला माना जाएगा। ठीक है, जैसा युग वैसा राजा, जैसा राजा वैसी प्रजा। महा पद्ममनन्द ने एक योजना घड़ी है, सारे देश के विद्वानों को अपने यहाँ बुलाने की। इस प्रकार नन्दराज की अकुलीनता छिप जाएगी, और विद्वान् अकुलीनता छिपा ही देंगे, किन्तु उसकी बर्बरता कम नहीं हुई, इसका क्या इलाज? वह स्वयं बहुत कुछ तो है, शक्तिशाली है, यह बात यथार्थ है, परन्तु अन्त में जातीयता के गुण धर्म कहाँ जाते हैं? अपनी आंखों राजपुत्रों को आप देखेंगे तो आप को विश्वास हो जाएगा। इस समय वे सबके सब मिलकर गाड़ी खींच रहे हैं, किन्तु जब आप इन्हें एक बार देख लेंगे तो वास्तविक बात समझ जाएंगे। निरा बर्बर और अनार्य संघ भरा पड़ा है, अच्छा तो मैं जानना चाहता था कि आप कब जाना चाहते हैं? पाटलिपुत्र तो यहाँ से पत्थर फेंकने के बराबर दूर है। इसलिए आप शान्ति से जाइए। किन्तु जब वहाँ जाएँ तो ठाट-बाट से सजी शिविका में बैठकर जाएँ। मेरी यही इच्छा है अतः आप से पूछा। मैं सुन्दर शिविका सज्जित करा दूँगा। इतनी बात तो चल पड़े कि नन्द नगरी में विद्वान् विद्वानों के ढंग से जावें।'

चाणक्य को लगा कि इस व्यक्ति के मन में आग भरी है, विद्वान् है अतः निर्भय है और उग्र भी लगता है। इससे पाटलिपुत्र की अनेक बातें जानने को मिल जाएँगी। प्रतिवाद करने पर तो रहस्य और भी प्रकट हो सकेगा, यह विचार आया आचार्य के मन में। फिर चाणक्य ने कुछ कृत्रिम स्वर में तुरन्त कहा—

'भन्ते आर्यमिश्र! तुम्हारी इस नगरी को बौद्धों-श्रमणों ने अपना रखा है, तभी इतनी टिकी है, श्रमण और साधुओं को नन्दराज विशेष सम्मान देता है, इस हेतु से भी हमें नन्दराज से द्वेष हो गया है, किन्तु जो मनुष्य दोनों हाथों से धन लुटाने को बैठा हो, लाखों कार्षापण खर्च करता हो, ऐसे व्यक्ति को अब हीन कुल का मानते जाना तो हद की बात है, उसका कुल तो कभी का पवित्र हो चुका है।'

आर्यमिश्र कुछ न बोला, उसके मन में उद्वेग छा गया था, यही तो चाणक्य चाहते थे कि किसी प्रकार आर्यमिश्र बोले।

'मृत मगधपति महानन्द के मन्त्रीश्वर शकटार पाटलिपुत्र में अभी तक रहते हैं, और सुना है कि इस विद्वत्सभा की आयोजना का विशेष गौरव उन्हें ही मिलता है, क्यों यह बात सच्ची है पण्डित?'

'सब सच्चा आचार्यदेव! सब सच्चा है, इस नन्दराज में सब सच्चा है!' आर्यमिश्र बिना लगाव के, बोला।

मन्त्रीश्वर शकटार जब तक पाटलिपुत्र में हैं, तब तक मगधेश्वर महा पद्मनन्द की रेखा पर चलता हुआ लगता है। मैं जिन प्रदेशों से होकर आया हूँ वहाँ सर्वत्र नन्दराज के इस कार्य की प्रशंसा हो रही थी।'

'नन्दराज के किसी भी कार्य की अप्रशंसा तुम्हें कहीं पर भी सुनने को नहीं मिलेगी। आचार्यदेव! यह राज्य जैसा-तैसा नहीं है, तो भी जनता ने भयभीत होकर एक ही शब्द में सब कुछ कह दिया है: 'नन्द के फन्द गोविन्द जाने,' ऐसा है यह राज्य। तुम इसे महा पद्मनन्द कहकर चढ़ाते हो, किन्तु यहाँ पर तो लोग इसे धन का दास मानकर धन-नन्द कहते हैं। इस राजा के जीवन में कोई बड़ा से बड़ा आनन्द है तो धन संचय का। इस धन को देखते रहने का, इस धन में दफनाए जाने का, इस धननन्द ने सम्पदा के बल पर अकल्पनीय को भी सम्भव कर दिया है। गंगा-जैसी पवित्र नदी में किसी को धनसंचय की कभी इच्छा न होगी, किन्तु धननन्द ने वह भी करके दिखा दिया है। अब और अधिक कुछ जानना है इस धननन्द के विषय में? किन्तु यहाँ तो भींत के कान हैं। वृक्ष भी सुनते हैं, और पक्षिगण भी दासत्व करते हैं, यहाँ किसके दिन फिरे हैं कि तुम्हें विरोध में एक भी शब्द कहे, यहाँ पर तो सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है, सर्वत्र ही सुख सन्तोष है। नन्द राजा महादानेश्वर हैं। मन्त्री महाप्रज्ञ हैं, अब आपको और कुछ जानना है अधिक?'

'भन्ते आर्यमिश्र! मैं तो प्रवासी हूँ, तक्षशिला विद्यालय से आ रहा हूँ, इस प्रदेश से अपरिचित हूँ, मैंने जैसा सुना, वैसा कह दिया तुमसे, किन्तु आपने जो कुछ कहा इस में क्या सच है, क्या झूठ है, मैं यह नहीं कह सकता। शकटार मन्त्रीश्वर का कोई स्थान नहीं है? तो यह विद्वत्सभा भी गप?'

'विद्वान् आचार्य जी!' आर्यमिश्र ने मन्द स्वर को और मन्द करते हुए।

'मेरी बात मानो तो तक्षशिला लौट जाओ। वहाँ का यवनराज इस

मलेच्छ-नन्दराज से कहीं उत्तम है, यहाँ आपकी विद्या की परीक्षा के लिए मगधराज ने विद्वत्सभा की स्थापना थोड़े ही की है, वह तो इस बहाने से मंत्रीश्वर शकटार को पाटलिपुत्र में रोक रखना चाहता है!'

'रोक रखना चाहता है? भन्ते पण्डितराज! आप यह क्या कहते हैं?'

'मैं ठीक कहता हूँ'—आर्यमिश्र ने कहा : 'यह शकटार महामंत्री एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात जानता है। उस बात को साथ के लिए उसका बाहर जाना अनर्थकारी है, और उस बात के साथ ही शकटार मन्त्रीश्वर को गाड़ दिया जाए तो ये भी अनर्थ है, अतः यह तो पाटलिपुत्र में सुवर्ण पिंजरे में बन्द एक विहंगम है। पाटलिपुत्र में तुम देखोगे कि राजप्रासाद में अनेक पक्षी सुवर्ण-पिंजरों में दास बनकर बन्द हैं। ऐसे ही दास शकटार मन्त्रीश्वर हैं, यह विद्वत्सभा इसीलिए चलाई गई है कि शकटार मन्त्रीश्वर को लगे कि, हाँ उसे भी राजा सम्मानित करता है। साथ ही शकटार का पाटलिपुत्र में रहना लाभदायक है। बाहर चले जाने पर अथवा मार देने पर भी बुराई है, अतः शकटार मंत्रीश्वर का इस प्रकार के नन्दराज के गुण-गान करते हैं और मौज-मजा मनाते हैं! इसी का नाम है 'नन्द के फन्द गोविन्द जाने' आचार्य जी!' चाणक्य विचारों में खो गया। इतनी विशेष बातें केवल आर्यमिश्र ने कही थी आचार्य से। अन्यत्र तो सभी स्थलों में नन्द की मौखिक प्रशंसा थी और मूक धिक्कार था!'

'इस नगरी का सिर फिर गया है, तभी नन्द के विषय में इतना सुन सके हैं आप। शेष तो आप और मैं दोनों, कौन जाने कभी के जमींदोज हो गए होते। अच्छा अब बहुत रात हो गई है। आज की इतनी ही बातों से आपको नींद नहीं आएगी, और अधिक सुनोगे तो अनिद्रा के रोगी बन जाओगे। आपके लिए पिछले बरामदे में शैया प्रस्तुत है, वह आपको ठीक रहेगी न? वहाँ पर मैंने भी दो-तीन सुरीले पक्षी रखें हैं। रात के शेष रहते ही वे बड़े मधुर स्वर में प्रभाती गाएंगे, वे आपको अच्छे लगेंगे? आपको ठीक न लगते हों तो आपकी शैया इस ओर कर दूँ!'

चाणक्य बोले : 'मेरे लिए साथ ठीक है। आपकी बातों से मुझे बहुत लाभ हुआ है आज!'

'अभी और सुनोगे तो और ज्ञान बढ़ेगा।' इतना कहकर आर्यमिश्र चाणक्य के निकट सरककर कान में बोला : 'यह नगरी किसी के

आधीन नहीं रही है ओर रहेगी भी नहीं, यहाँ पर जो शान्ति दीखती है, वह शांति नहीं है, आप ब्राह्मण हैं, मैं भी ब्राह्मण हूँ, आपको पता नहीं कि मेरी छठी पीढ़ी पूर्व, यहीं पर आर्यक ब्राह्मण हो गए हैं। मैं उन्हीं का वंशज हूँ। आर्यक महाभाग के श्रमण गौतम के उस युग में भी कहते हैं—ब्राह्मण मार्ग को समुज्ज्वल रखा था। मुझे कुछ न कुछ उनके पद-चिह्नों पर चलना चाहिए। यह नन्दराज रहेगा तो पृथ्वी पर दो जातियाँ नहीं रहेंगी, ब्राह्मण और क्षत्रिय की। यह तो स्वयं शूद्रोद्भव है। इसकी सन्तान शूद्रोद्भव है। इसका पिता शूद्रोद्भव था। इसके पास इतनी बड़ी सत्ता है कि कोई इसके सामने अंगुली नहीं उठा सकता। इतना सुवर्ण है इसके पास कि कोई इसके सामने मुंह नहीं खोल सकता। इसके पास इतनी विशाल सेना है कि सम्राटों का सम्राट् भी इसकी ओर आंख नहीं उठा सकता। यवनेश्वर भी इधर आ जाए तो उसकी शक्तिशाली सेना इसकी नौ-नौ हजार गज सेना के पैरों तले रौंद दी जाए। इसने भिषागाचार्यों से ऐसे-ऐसे कल्प तैयार कराए हैं कि उनसे यह न तो वृद्ध होगा, नहीं दुर्बल, यह इसकी सन्तानें एवं इसके मन्त्रीश्वर समस्त भारत खण्ड को खूंदने वाले हैं। हम तो यह मानते थे कि हम वहाँ तक्षशिला विद्याधाम में इस संस्कारद्रोही को दण्ड देने वाला कोई न कोई प्रकट होगा, पौरवेश्वर के समान कोई न कोई खड़ा होगा, किन्तु वहाँ से तुम ऐसे राजा को मान देने के लिए यहाँ आ रहे हो! कभी न कभी तो इसके भी दिन पूरे होकर ही रहेंगे? अच्छा अतिथि देव! अब बहुत रात बीत गई है, चलो सो जाएँ। मेरे मन में आग भरी है, इसलिए बहुत बोल गया, किन्तु आप यह भूल जाएँ और आराम से नींद लें, चलें तो.....'

आर्यमिश्र आगे और चाणक्य पीछे, इस प्रकार दोनों पिछले बरामदे में जा पहुंचे । वहाँ पर एक छोटा-सा दीपक जल रहा था। एक कोने में एक पिंजरे से एक साथ दो पक्षी बोल उठे: 'पधारो अतिथिदेव! सुखी स्वप्नों की निद्रा आपको सुलभ हो! चाणक्य दोनों पक्षियों की शुद्ध वाणी सुनकर चकित हो गए, आर्यमिश्र आचार्य की सुख-निद्रा की कामना करता हुआ वहाँ से लौट गया तो चाणक्य शैयासीन हो गए।'

पक्षियों की घनी सुरीली तान में चाणक्य को सुखी स्वप्नों की

कामना थी, परन्तु चाणक्य का मन फिरकनी पर चक्कर लगा रहा था। मन्त्रीश्वर शकटार के पास ऐसी कौन सी बात है कि धननन्द जैसा समर्थ राजा भी न तो उसे तहखाने में बन्द कर पाता न ही मृत्यु-सुख में पहुँचाता है, और न ही उसे पाटलिपुत्र से बाहर जाने देता है, न ही स्वतन्त्र रहने देता है, ऐसी कौन-सी बात है?

नन्द की शूद्रोद्भव बात में कोई विशेष भीषण बात तो न छिपी होगी?

अथवा इसके जीवन-मरण की कोई बात उस वृद्ध मन्त्रीश्वर ने जान ली होगी? क्या होगा? और क्या हो सकता है?

चाणक्य ने बहुत मनोमन्थन किया, प्रश्न को उलट-पुलट कर ढूंढा, आर्यमिश्र के शब्दों को बार-बार याद किया। बारम्बार प्रश्नों का समाधान ढूंढना चाहा, नन्दविषयक दन्तकथाओं के साथ उन बातों को मेल साधा, फिर भी कोई समाधान न मिला। उन्हें लगा कि आर्यमिश्र का आतिथ्य और किसी बात के लिए नहीं, तो कम से कम इस समस्या के समाधान के लिए तो अभी और आवश्यक है।

आधी रात बीती-सी लग रही थी, अतः वे सोने की तैयारी करने लगे थे कि उनकी नींद सर्वथा उड़ गई। एक ऐसी घटना उनके सामने खड़ी हो गई। वे सोने की तैयारी में थे, आंखें मींच चुके थे, थोड़ी-सी नींद की खुमारी में पड़े थे कि उन्होंने अपने सामने छोटे से घर में दीपक जलता हुआ देखा। इस घर की ओर पहले भी आचार्य की दृष्टि गई थी, किन्तु उस समय वह निर्जन-सा लग रहा था। आर्यमिश्र ने इस घर के बारे में कुछ न कहा था।

ये चौंक पड़े। इन्हें लगा कि किसी ने उन दोनों की बातें सुनी हों, पाटलिपुत्र से उन्हें पकड़ने के लिए गुप्तचर न आए हों?

वे सावधान हो गए। परन्तु चुपचाप बिस्तर पर ही पड़े रहे। उनकी नजर के सामने के गवाक्ष पर थी, वहाँ एक दीपक प्रकाशित था।

९

विष-कन्या

आचार्य विष्णुगुप्त को आश्चर्य हुआ। आर्यमिश्र के सामने के एक तलबन्द घर को चाणक्य ने सर्वथा निर्जन देखा था। इस घर में भी

आचार्य ने आर्यमिश्र एवं उसके एक सेवक के सिवाय और किसी को चलते-फिरते न देखा था।

इसलिए सामने के निर्जन घर में अभी कोई आ गया होगा अथवा पहले भी वहां पर कोई रहता होगा और इस समय जागा होगा।

आचार्य को शंका हुई कि नन्द का कोई गुप्तचर आया हो और आर्यमिश्र को उठा ले जाने की व्यवस्था कर रहा हो तो आश्चर्य नहीं! आर्यमिश्र का नन्द कुल के प्रति तिरस्कार आचार्य ने देखा था। उसकी प्रकट रूप से बातें करने का ढंग भयजनक था, शायद आर्यमिश्र की बात की कुन्जी किसी ने पकड़ ली है।

तब तो वे स्वयं भी सुरक्षित नहीं है। वे अति शीघ्र कुछ करना चाहते थे, आर्यमिश्र को जगाने की इच्छा हुई, किन्तु उन्होंने थोड़ी प्रतीक्षा करना ठीक समझा। वे किसी को देखने के लिए ध्यानावस्थित हो गए। वे बिस्तर पर पड़े-पड़े गवाक्ष की ओर एकटक देखने लगे।

अब तक भीतर कोई न दिखा। किन्तु दीपक के प्रकाश ने किसी की उपस्थिति सूचित अवश्य की। एक क्षण भी असावधानी में न बीते, इसलिए आचार्य अपने एक हाथ का सहारा लेकर थोड़ा-सा सिर उठाए खाट पर पड़े-पड़े स्थिर देखने लगे।

आचार्य को विशेष बाट न देखनी पड़ी। थोड़ी ही देर में कोई व्यक्ति गवाक्ष के दीपक के पास खड़ा हुआ जान पड़ा। प्रकाश खड़े हुए व्यक्ति के मुख पर पड़ रहा था। और गवाक्ष की ओर देखते ही आचार्य जैसे छले गए हो, इस प्रकार जँचा और वे विस्मित होकर उठ बैठे। आचार्य को अपनी दृष्टि पर विश्वास ही न आया। वे बड़ी हैरानी से उसे ताकते रहे। उन्होंने बड़ी बारीकी से देखा तो उन्हें लगा कि कोई भ्रम हो रहा है।

उन्होंने प्रकाश में एक स्त्री को खड़ी देखा। उसका मुख प्रकाश से आलोकित हो रहा था। फिर भी चाणक्य को अपनी आँखों पर विश्वास न आया और वे अपलक निहारते रहे!

एक अत्यन्त रूपवती तरुणी सामने खड़ी थी, दीपक के पूर्ण प्रकाश से उसका मुख स्पष्ट दीख रहा था। वह अपनी हथेली फैलाकर कुछ देख रही थी।

'कौन है यह?' आचार्य के मन में शंका उठी। स्त्री के रंग-ढंग

और रूप-लावण्य विचित्र थे। आर्यमिश्र के घर की कोई स्त्री नहीं हो सकती है।

'फिर यह कौन होगी यह? दासी भी तो नहीं लगती?' आचार्य को उस स्त्री के मुख पर पड़ते प्रकाश से जगमगाते सौन्दर्य को देखकर और भी हैरानी हुई। उन्हें लगा कि यह स्त्री तो सर्वथा नई-नवेली है। पहले तो वे इस स्त्री को देखकर दृष्टि की न्यूनता ही समझ रहे थे।

किन्तु अब, जब उन्हें विश्वास हो गया कि यह भ्रम नहीं है, तब, 'कौन है यह?'—जानना आवश्यक था। अति निकट से देखने पर ठीक परिज्ञान हो सकेगा। अतः वे अपनी शैया से नीचे उतरे और बिना आवाज किये सामने के घर की ओर चल पड़े—बहुत आहिस्ते से। सुरक्षा की दृष्टि से वे नीचे बैठकर चलने लगे।

इतनी दूरी तय करने में विशेष समय न लगा। वे गवाक्ष के अति निकट आ गए थे, परन्तु सच्ची मुसीबत तो अब थी! उस स्त्री को देखने के लिए तो वे इधर आए थे, परन्तु अब तो उसे देख भी नहीं सकते थे, क्योंकि आचार्य जिस स्थान पर थे, वह बहुत नीचा था। अतः सिवाय गवाक्ष के दीपक की रोशनी के, और कुछ न दीखता था।

इस समस्या का समाधान ढूंढने के लिए चाणक्य ने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। अन्त में एक वृक्ष पर नजर आया। उसकी एक शाखा गवाक्ष तक फैली हुई थी। आचार्य की दृष्टि उस वृक्ष तक गई और वे सोचने लगे कि इस शाखा पर बैठकर तो नजर अन्दर तक जा सकती है।

वह शनैः-शनैः वृक्ष पर चढ़े। बहुत धीरे से वृक्ष के पिछवाड़े से वे चढ़ने लगे। लेश मात्र भी आवाज न हो, इस प्रकार सावधानी और शीघ्रता की आवश्यकता थी। दीपक के पास खड़ी हुई स्त्री कब अदृश्य हो जाए यह कैसे कहा जा सकता था? वह मन्द किन्तु दृढ़ कदमों से शाखा पर आये, तक्षशिला के वन्य अनुभव उन्हें लाभकारी सिद्ध हो उठे। हाथों का उचित सहारा लेकर, शाखा पर बैठकर वह शनैः-शनैः आगे सरकने लगे।

अब वे ठीक गवाक्ष के सामने आ गये थे। वह रूपवती स्त्री अब, मुश्किल से दस-पन्द्रह कदम की दूरी पर खड़ी थी। वह अपनी हथेली की वस्तु पर विशेष दत्ता थी, ध्यान लगा रही थी।

आचार्य ने अत्यन्त तीक्ष्ण दृष्टि से नारी का निरीक्षण आरम्भ

किया। निरीक्षण करते-करते सहसा आचार्य को विद्युत्कोप का झटका लगा और से सुन्न हो गये।

सामने खड़ी हुई स्त्री, स्त्री थी और दृष्टिभ्रम नहीं था, यह बात निःशंक हो गई थी।

किन्तु आचार्य को इस स्त्री में इतना अधिक अनिर्वचनीय रूप दिखा कि उन्हें आश्चर्य हुआ। यदि वह स्त्री है भी तो इस दुनिया की तो नहीं होगी।

स्वर्ग से उतर आई है, तभी ऐसा रूप हो सकता था।

वह स्त्री अपनी हथेली में एक नील मणि थामे थी और वह उसे देख रही थी, उसकी हथेली में धरे मणि पर दीपक का प्रकाश पड़ रहा था एक अजीब दृश्य उपस्थित था। आचार्य देखते ही रह गए!

लगता था, इस नील मणि की सुन्दर स्वच्छ नीली तेजधारा उसकी हथेली पर बह रही थी। मणि अत्यधिक मूल्यवान् लगता था!

उसकी शोभा वस्तुतः अवर्णनीय थी। ऐसा लग रहा था कि प्रकाश का एक छोटा-सा स्रोत इस रूप भरी हथेली से प्रवाहित हो रहा है।

किन्तु सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह था कि जाने क्यों आचार्य को इस नील तेज में नील विष के प्रवाह का भास हो रहा था।

आचार्य इस स्त्री की ओर स्थिर दृष्टि से देखते रहे। अब ये युवती को नहीं—किन्तु उसकी रूप राशि को देखने लगे, मानो वे इस रूपवती नारी के रूप का पृथक्करण करने लगे हों। उनके मन में शंका उठती थी कि यह स्त्री तो दीखती है—परन्तु यह स्त्री नहीं है। इसका यह रूप किसी सामान्य स्त्री-सा नहीं, नहीं।

प्रश्नों का प्रश्न यह था। यह रूप था या कुछ और था? और कुछ और था तो क्या था?

इस रूप पर मणि की मुखाकृति के ऊपर इतनी अत्यधिक मोहकता आच्छादित थी कि एक बार मनुष्य की उस पर पड़ी दृष्टि फिर वापस लौट नहीं सकती थी। उस दर्शक का मन मूर्च्छित हो उठा हो ऐसे गड़ी की गड़ी रह जाती। इतनी बड़ी विवशता इसके रूप को देखकर व्याप जाती थी। आचार्य की यह अनुभूति नवीन ही थी, उन्हें लगा कि उनकी दृष्टि को कोई खींच रहा है। दूसरी ओर दृष्टि फिराने में कठिनाई

होती थी। आचार्य को इसमें भय दर्शन होने लगा। उन्हें विश्वास हो गया कि यह नारी नई है, आश्चर्यमयी है। चाहे जो यह हो।

इस स्त्री के रमणीय लालित्य में आचार्य ने दूसरी नवीन वस्तु देखी। इसका रूप-लावण्य भी इसकी मुखाकृति के सामने गौण हो रहा था। जाने यह कान्ति प्रकाश में जगमगा रही थी, सैकड़ों विषधारी की तेजस्विनी-सी भयंकर आलोकित आँखें, जगमगा रही थीं।

जैसे पूर्वोक्त नीलम से नीली आकर्षक, किन्तु भीषण लगने वाली तेज धारा बह रही थी, ठीक वैसी ही धारा उसके चेहरे से भी निकलती हुई लग रही थी! घड़ी भर तो ऐसा ही लगता था कि इस स्त्री का शरीर ही नहीं है, और इसके कलेवर से नीला काँच-सा सुन्दर तेज बह रहा है, इस तेज में से ही इसका सुन्दर शरीर प्रकट हुआ है!

निरन्तर प्रवाहित होनेवाली कान्ति का यह निर्झर मुनष्य की दृष्टि को पकड़ लेता था, बाँध लेता था, उसे परवश बना लेता था, मनुष्य को जैसे मूर्च्छावस्था में डाल देता था। आचार्य आश्चर्य में डूब गए।

इसका दर्शन मृत्यु थी, किन्तु देखकर उस पर से दृष्टि हटाना तो मानो मृत्यु के बाद की और कोई मृत्यु थी!

इस नारी में कुछ ऐसा था कि मनुष्य जानता भी हो कि इसका दर्शन मृत्यु है, तो भी इस मृत्यु का आलिंगन दौड़कर करने की विवशता उस द्रष्टा में आविष्ट हो जाती थी! उसे ऐसा प्रतीत होता था कि इसका.....................मरना पड़े तो मरना चाहिए!..............नहीं, सच्चा जीवन है। ऐसी मोहिनी थी इसमें!

आचार्य को इस अनुभूति ने दिङ्मूढ़ बना दिया, उन्हें लगा कि जिसकी मुखकृति इतनी भीषण है उसकी दृष्टि से न जाने कैसी विषज्वाला निकलती होगी? ऐसी स्त्री का निवास आर्यमिश्र के घर के पास था, इस प्रश्न से आचार्य क्षण भर के लिए व्यग्र हो उठे। अपनी सुरक्षा के विषय में भी उन्हें आशंका होने लगी। यह स्थान यथाशीघ्र छोड़ने-योग्य है, ऐसा आचार्य को लग रहा था।

थोड़ी देर में, उस स्त्री की खेलने की इच्छा हुई हो, ऐसा दीखा। उसने अपने मोहक केशों की माँग में वह नील मणि लगा लिया, तो इससे उसका रूप इतना आकर्षक, सम्मोहक हो गया कि जाने बादलों के अन्तर्हित चन्द्रमा ने किसी स्वर्गीय.........को रूप की तूलिका से रंग दिया हो! उसका चेहरा अब सर्वथा सामने आ गया था।

किन्तु इसी समय आचार्य की दृष्टि उसके स्मित पर जा टिकी, और आचार्य को एक नूतन भय-कम्पन होने लगा।

इस स्मित में इतना मारक, भीषण, मोहक आकर्षण था कि इसकी तुलना में उसकी अन्य सभी मोहनियाँ किसी गिनती में न थीं।

यह स्मित सर्वथा अनोखा था।

इस स्मित की एक खूबी थी, इसमें स्थिरता थी, लगता था कि यह मानस-लहरों से उत्पन्न नहीं हुआ है और इसी स्त्री के साथ उत्पन्न हुआ हो! इस स्मित को लेकर ही यह भूतल पर अवतीर्ण हुई है। इतना अधिक, वह इसमें स्थिर, आकर्षक एवं मोहक रूप में विराज रहा था।

और इस मोहक, मौन, मधुर हास्य में, थोड़ी-सी सुघर वक्रता लिए हुए इसके दोनों ओष्ठों में—शत सहस्त्र-फणियों का मारक विष संचित था, किन्तु दर्शक को तो लगता था कि यह सुधा-बिन्दु प्रकट हो रहा है, परन्तु यह ऐसा अमृत बिन्दु था कि इसमें हलाहल के महासागर समाविष्ट हो सकते थे!

आचार्य ने इसके हास्य-स्मित में विचित्र ही देखा कि विष में से सुधा प्रकट हो रही है, आचार्य विचारों में डूब गये। अपने ही मन से पूछ बैठे : 'वस्तुतः यह स्त्री कौन है?' इसका असाधरण रूप कि वह हास्य इसे छोड़ना ही न चाहता हो। इस समय इसकी आँखों में वही भयंकरता नाच रही है, जो मनुष्य को देखते ही अवश बना देती है। आचार्य को अब पूर्ण विश्वास हो गया। उन्होंने शास्त्र पढ़े थे, राजनीतिज्ञों के लेख पढ़े थे, वैद्यराजों के विचार समझे थे, अतः इनके मन में पूर्ण-रूपेण निर्णय हो गया कि यह तो कोई भीषण विष-कन्या है और कोई इसे पाल रहा है यहाँ। यह किसी का भयंकर शस्त्र है।

इतने में तो वह गुंजना करने लगी, उसकी मीठी तान सुनाई दी। वह पक्षी को अपना राग सुना रही थी। उसकी तान सुनकर प्रथम तो वह पक्षी आनन्द से नाचता रहा, और वह आनन्द में नाच भी ना पाया था कि उसके सुरीले स्वरों ने उस पक्षी को मूर्च्छित कर दिया और उसकी गर्दन एक ओर झुक गई!

स्त्री छोटे से झरने के जल कलरव के समान, सुन्दर हँसी हँस रही थी। इसकी हास्य-लहरी से लगता था कि दीपक भी निष्प्रभ बन रहा है।

अब आचार्य को हैरानी न रही। स्तब्धता भी न रही। अब तो आचार्य को एक बात का परिचय चाहिये था कि यहाँ पर इस विषकन्या का पालन कौन कर रहा है, यह एक भयंकर विषकन्या थी, इस में कोई कोर कसर नहीं थी।

आचार्य को आर्यमिश्र का संवाद याद आया। आर्यमिश्र को नन्दराजा के प्रति जो तिरस्कार था शायद है उसी ने आर्यमिश्र को विषकन्या पालने की प्रेरणा प्रदान की होगी? अथवा मन्त्रीश्वर शकटार का यह एक प्यादा होगा? या किसी नन्दकुमार का यह कृतघ्नता भरा हुआ कार्य होगा? इस कन्या को यहाँ कौन लाया होगा? यह कहाँ से आई होगी?

विषकन्या का पालन असाधारण था, यह दो-चार दिन में थोड़े ही बन जाती है।

जन्म से ही नवजात कन्या को जब माता के दूध के साथ अतिशय छोटी मात्रा में भयंकर शौकिलकेय विष का पान कराया जाता है तब विष कन्याएँ बनती हैं। आयु के साथ विष की मात्रा बढ़ती जाती है, पूर्णता के लिए तो विषकन्या को विषज्वर के संहारक विष का भी पान करना पड़ता था। अमृतनिधान से हलके सम्मोहक, सुस्मित में भीषणतम विषबिन्दु झरता था।

हलाहल विष में पली यह कन्या वर्षों की तपस्या का परिपाक थी।

आचार्य ने सुन रखा था कि ऐसी कन्या के विष से महान् साम्राज्य मिट जाते थे।

यह विषकन्या, मारक रूप की स्वामिनी थी। इसकी दृष्टि में शस्त्र थे, इसके..............किसी के बचने की सम्भावना ही न थी।

जो दशा उस पक्षी की हुई, वही दशा मनुष्य की होती। मनुष्य आनन्दोन्मत्त होकर वहीं ढल पड़े। और विषकन्या उस समय पक्षी के कान्त कलरव के समान सुन्दर, मनोहर सुरीला हास्य हँसती रहती।

आचार्य विचार में पड़ गये। आर्यमिश्र, उनकी बातें, पाटलिपुत्र का शकटार मन्त्रीश्वर, उसका रहस्य, यह विषकन्या—इन विषयों पर अनेक विचार और प्रश्न आचार्य के हृदय में उठने लगे। इस विषकन्या ने उस पक्षी को पल भर में मूर्च्छित कर दिया था—एक सुरीली तान मात्र से! यह उसकी विष-शक्ति का मापक था। इस

समय वह अपना अभ्यास करती प्रतीत हो रही थी। पक्षी के मूर्च्छित होते ही वह उसे रखने के लिए अन्दर गई।

किन्तु जैसे ही वह अन्दर गई, वैसे ही लौट आई। आचार्य को यहाँ पर, अधिक रुकना निरापद न लगा। वह तुरन्त नीचे उतरने के लिए धीरे से पीछे हटे, और उतरकर सावधानीपूर्वक अपने वास-कक्ष में चले गए।

आचार्य अपनी शैया पर पहुँचे और शरीर को लम्बाया। किन्तु उनका मस्तिष्क निष्क्रिय हो गया। अभी तक वह पूर्वोक्त दीपक सामने टिमटिमा रहा था। विषकन्या कोई अभ्यास कर रही होगी!

आचार्य के सामने भयंकर सर्पिणी की आँखें आ रही थीं!

थोड़ी देर में दीपक बुझ गया, आचार्य ने करवट बदल लेने की चेष्टा की, लेकिन उनकी नींद उड़ गई थी।

बहुत रात बीते आँख लगी ही थी कि आर्यमिश्र के पक्षियों के मधुर स्वर उन्हें जगाने लगे।

भोर हो गई थी।

१०

पाटलिपुत्र में

विषकन्या की घटना के बाद चाणक्य को वहाँ रहने में धोखा महसूस हुआ। इन्होंने तक्षशिला में ही महा पद्मनन्द के अमात्य राक्षस के बारे में बहुत कुछ सुन लिया था। महामात्य वक्रनास के विषय में भी सुना था। ये दोनों महान् सशक्त गिने जाते थे। इन दोनों के सहारे नन्दराज्य टिका था। इन दोनों की आँखों को धोखा देना सामान्य बात न थी। इनकी नजर के बाहर एक पत्ता भी नहीं हिल सकता था। चाणक्य को लगा कि विषकन्या की बात, उन दोनों के ध्यान में होनी चाहिये।

यह विषकन्या कौन थी, कहाँ से आती थी, कब आती थी, कब जाती थी, कहाँ रहती थी, उस निर्जन घर में एकाकिनी रहती थी कि बाहर से आती थी? उस घर में कोई भूगर्भ-मार्ग है क्या? आर्यमिश्र की जानकारी के बाहर यह सब हो रहा था क्या? इस प्रकार अनेक

प्रश्न आचार्य के मन में उठने लगे। परन्तु इन प्रश्नों का निराकरण तो अब पाटलिपुत्र में जाकर प्राप्त करना होगा, यहाँ नहीं। इस विषकन्या पर किसी न किसी की दृष्टि होनी ही चाहिये। सुदीर्घ काल तक नन्दराज्य में यह बात छिपी नहीं रह सकती। ऐसी कोई पूछताछ हुई कि अपना सारा काम समाप्त हो जाएगा और ऊपर से मूर्ख भी बनना पड़ेगा। वह नन्दराज्य में समुचित स्थान प्राप्त करने के बाद भूमिका तैयार करना चाहते थे। यहाँ अधिक ठहरने में खुद के पकड़े जाने की सम्भावना थी।

अतः आचार्य ने तत्काल पाटलिपुत्र का मार्ग पकड़ने का निश्चय किया।

आर्यमिश्र ऐसा बर्ताव कर रहा था, जैसे रात्रि की बात जानता ही न हो। चाणक्य को आर्यमिश्र की बातों से पूर्वोक्त विषकन्या के विषय की चर्चा की तनिक गन्ध भी न मिली। फलतः चाणक्य को भी मौन रहने में ही कल्याण दिखा। परन्तु आचार्य को भय लग रहा था कि आर्यमिश्र के अबेर-सबेर बन्धन में पड़ने में कोई आश्चर्य नहीं है। आर्यमिश्र जितनी भयंकर क्रान्ति का निर्माण कर रहा था उसके अनुरूप उसमें तत्वरता का आभास लग रहा था। परन्तु चाणक्य को एक बात स्पष्ट दीख रही थी—आर्यमिश्र, विषकन्या एवं शकटार इन तीनों में किसी न किसी प्रकार की श्रृंखला अवश्य होगी।

यह श्रृंखला चाहे जैसी हो, अधिक स्पष्टता करने में स्वयं पर जोखिम की सम्भावना थी। यहाँ रुकने में भी भय था, आर्यमिश्र के विशेष सहवास में भी भय था। अतः आचार्य ने पाटलिपुत्र की ओर प्रस्थान करने का निर्णय कर लिया। आर्यमिश्र ने जो बातें मन्त्रीश्वर शकटार के विषय में कही थीं, वे बातें आचार्य ने अपने ध्यान में रखीं। पाटलिपुत्र में मन्त्रीश्वर शकटार का स्थान महत्त्वपूर्ण था। वह नन्द की इच्छा न होने पर भी बचा था, नन्द के ऐश्वर्यशाली राज्य के अर्न्तद्वन्द्व में विद्यमान था। इन बातों का परिचय आचार्य को आर्यमिश्र से मिल चुका था, और एक आचार्य वैशाली से पाटलिपुत्र के लिए चल पड़े।

आर्यमिश्र की सुवर्ण शिविका यों की यों धरी रह गयी। चाणक्य ने साधारण वेश में ही पाटलिपुत्र में प्रवेश करना उचित समझा। इस

बात को आचार्य ने महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने मन्त्रीश्वर शकटार से वार्तालाप के लिए आर्यमिश्र की मुद्रा अपने पास में रख ली। आर्यमिश्र की आज्ञा लेकर वे पाटलिपुत्र के लिए चल पड़े। आर्यमिश्र इस समय कुछ विचारों में खाये हुए लग रहे थे, चाणक्य ने पाटलिपुत्र का मार्ग पकड़ा।

वैशाली गंगातट के दक्षिण में डेढ़ योजन दूर थी। गंगा के दक्षिण तट पर पाटलिपुत्र बसा था। दोनों नगरों के मध्य का यातायात अधिकांशतः नौकाओं से चलता था, आचार्य को गंगा-शोण के संगम पर बसे हुए महान् मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में गंगा को लाँघ कर जाना था। पाटलिपुत्र के दुर्जेय दुर्ग के बारे में आचार्य ने बहुत कुछ सुन रखा था।

एक बात से आचार्य को बड़ी शांति मिल रही थी कि उनके साथ-साथ सहस्त्रों पथिक पाटलिपुत्र जा रहे थे, किन्तु इनमें से किसी का भी ध्यान आचार्य की ओर न था।

आचार्य ने जब गंगा पार कर और पाटलिपुत्र को प्रथम बार देखा तो इन्हें नन्द राजा की वास्तविक शक्ति का आभास हो गया। आज तक आचार्य ने अपने ग्रन्थ में पर्वतीय दुर्गों को महाशक्तिशाली सिद्ध किया था, किन्तु पाटलिपुत्र को देखकर वे स्तब्ध रह गये।

चाणक्य ने अपने ग्रन्थ में पर्वतीय दुर्गों की तुलना में संगमों पर बने जलीय दुर्गों को तुच्छ कहा था, किन्तु महा पद्मनन्द की रचना-चातुरी को देखकर, आचार्य को अपने ज्ञान में अपूर्णता लगी, और उन्होंने नवीन ज्ञान प्राप्त किया।

गंगा-शोण के संगम पर बसे पाटलिपुत्र की रचना ऐसी थी कि दोनों नदियों का जल इसकी रक्षा करता था। वास्तविक रूप से तो अचिरवती और गण्डकी के जल प्रवाह भी पाटलिपुत्र की रक्षा के लिए बन रहे थे। इस दुर्ग को जीतना तो शत्रु के लिए दिन में तारे दर्शन की तरह कठिन था।

आचार्य को विश्वास हो गया कि नन्द राजा की सामर्थ्य परीक्षा महान् दुष्कर है। पाटलिपुत्र में बड़ी सावधानी से रहने की बात भी उन्होंने निश्चय कर ली। उन्होंने सर्वप्रथम जो दुर्ग देखा था, वह मिट्टी से बनाया गया था, परन्तु यह था वज्र के समान दृढ़तर। इसके निर्माण

काल में इस पर अनके बार गजराजों के कृत्रिम आक्रमण कराये गये होंगे। इन आक्रमणों को सहकर यह दुर्ग इतनी सबलता प्राप्त कर सका था।

वप्र दुर्ग की छः दण्ड (३६ फुट) ऊँचाई और बारह दण्ड चौड़ाई देखकर आचार्य उसे देखते ही रहा गये। दुर्ग की इतनी ऊँचाई भी जैसे कम हो, इसलिए उसके ऊपर कँटीले वृक्ष थूहर और भयंकर विषैली नागफनी की पंक्तियाँ उगायी गयी थीं जिनसे यहाँ सघन वन खड़ा हो गया था। दर्शकों को यही लगता था कि यह एक भयंकर वन खड़ा है। इस वन को लाँघ कर पार जाने वाला कभी पार नहीं जा सकता था। निकल भी गया तो चलनी चलनी होकर ही। अथवा झाड़-झंखारों लता वल्लरियों में उलझकर रह गया हो। विषैली नागफनियों की दूध-वर्षा से अन्धा ही बन गया हो! रचना की इतनी अपूर्वता आश्चर्यकारिणी थी। दुर्ग के ऊपर की यह रचाना आचार्य को अत्यद्भुत लग रही थी। इन्होंने सुन रखा था कि यह सब अमात्य राक्षस की योजनानुसार हुआ था। आचार्य को उसकी क्षमता का परिचय मिला।

वप्र दुर्ग के बाद प्राकार दुर्ग इससे भी दृढ़ बना था। दृढ़ता में यह वप्र दुर्ग से बढ़ा-चढ़ा था। दोनों दुर्गों के मध्य में भूगर्भ-मार्ग थे और दोनों के बीच में थोड़ा अन्तर था। यह पत्थराकार ईंटों से बना था। बीच-बीच में अट्टालिकाएँ थीं, गलियाँ थी, धनुर्धरों के खड़े होकर युद्ध करने के लिए रक्षा स्थान थे, जिनमें थोड़ी-थोड़ी दूरी पर तीन-तीन धनुर्धर खड़े थे।

आचार्य ने सुना था कि अमात्य राक्षस इन दोनों दुर्गों के बाद तीसरा लौह दुर्ग बनाने की योजना गढ़ रहा है, इस समय वह योजना नजर नहीं आ रही थी, किन्तु असीम सुवर्ण स्वामी महा पद्मनन्द के लिए ऐसा कार्य कठिन न था। इस कार्य के लिए सिंहल-द्वीप से आने वाले शिल्पियों की प्रतीक्षा की जा रही थी।

वप्र दुर्ग के चारों ओर तीन परिखाएँ थीं। प्रथम परिखा में पानी दस पुरुसा खड़ा था, दूसरे में बारह पुरुसा, और तीसरे में बीस पुरुसा पानी भरा था। लगता था जैसे अथाह जलवाहिनी नदी बह रही हो। इनमें नगर का जल आता था, और शोण नदी की एक उपशाखा इनमें पानी भरती थी। इसके से दोनों पार्श्व पत्थरों और ईंटों से इतने सुदृढ़

बनाए थे कि कोई भी उनसे एक कँकरी नहीं हिला सकता था। परिखाओं के पानी में परमाकर्षक पद्मवन बरबस नयनों को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे।

शत्रुओं के लिए इन परिखाओं के अगाध गंभीर पानी में पयोजों के नीचे असंख्य प्राणग्राही भयंकर सर्प और मगर मच्छ घूमते थे, दस-दस पुरुसा नीले काले गम्भीर जल को देखते ही मनुष्यों के प्राण सूख जाते थे। परिखा के ऊपर काष्ठ-सेतु था, इसके हटा देने से तीन सौ गज चौड़ाई को पार करना दुष्कर था। कुशलतम तैराक एक बार तो बैठ ही जाता! ऐसा था यह जल! भयंकर, डरावना, गहरा काला, नीला।

खाइयों-परिखाओं के चारों ओर लकड़ी की दीवारें थीं। उनके पीछे खड़े हुए धनुर्धारियों के भीषण वाण-वर्षण के समय कोई तैराक अथवा नाविक इसमें से पार होने का साहस नहीं कर सकता था। और गजराजों के लिए तो ऊँची, सीधी चट्टानों जैसे तट बड़े भयंकर थे। सिर पटकने पर भी इससे कंकरी का हटना अशक्य था। शत्रु भले ही पानी में भटकता फिरे, किन्तु दूसरे पार जाना असम्भव था। दुर्ग की रचना अद्भुत थी, आचार्य उसे देखते रहे।

ऐसी जल परिखाएँ एक नहीं, दो नहीं तीन थीं।

दुर्ग के चौंसठ द्वार थे, पाँच सौ सत्तर गलियाँ थी। दो गलियों के बीच में मुश्किल से तीन गज की दूरी थी, और इन गलियों में धनुर्धर सज्जित खड़े रहते थे। अतः दुर्ग की इंच-इंच भूमि सुरक्षित थी। आक्रमण से, बढ़ाव से, नौकादल से, गजसेना से, पदातियों से, एक साथ किए गए प्रचण्ड प्रवेश से भी किसी प्रकार दुर्ग पर अधिकार करना असाध्य था।

आचार्य विष्णुगुप्त नन्दराज की इस दुर्ग रचना को देखकर मन में सहम गये। नन्दराज की नगरी अभेद्य थी, वह स्वयं अजेय था, उसके अमात्य प्रबुद्ध थे।

यहाँ की दुर्ग रचना लगभग सम्पूर्ण थी। आचार्य को लगा कि नन्दराज का विनाश बाह्यशक्तियों से तो नहीं हो सकता, जो ऐसा समझता है वह उन्मत्त है!

इतनी सज्जा भी अपूर्ण थी, ऐसा मानकर दुर्गों में अनेक गुप्त मार्ग भी बनाए थे, शस्त्रागार थे, संकट समय में उपयोगिनी अनेक साधन-

सामग्रियाँ इनमें एकत्र थीं, नगर पर आक्रमण होने पर शत्रुदल दुर्ग के निकट ही रुक जाए और नगर का दैनिक व्यवहार निर्बाध चलता रहे, ऐसी भूगर्भ व्यवस्था भी रखी गई थी।

पाटलिपुत्र की यह निपुण दुर्ग-रचना देखकर चाणक्य चिंतित हो गए। इतना सुरक्षित दुर्ग आचार्य ने अन्यत्र कहीं न देखा था, न ही इसकी कल्पना की थी। तक्षशिला के आस-पास के दुर्गों को अधिकृत करने में ही यवनेश्वर को लेने के देने पड़ गए थे, परन्तु पाटलिपुत्र के दुर्गों जैसा एक भी दुर्ग उनमें न था। इसकी निर्माण कला का कहना ही क्या?

किन्तु वैशाली के अनुभव ने चाणक्य को सजग कर दिया था। इन्हें तो सर्वप्रथम परिषद् में स्थान प्राप्त करना था और इसी प्रकार श्रीगणेश करना था। बाद की बात बाद में, अधिक समय दुर्ग के पास खड़ा रहना भी मुसीबत मोल लेना था।

सीधे मन्त्रीश्वर शकटार के पास जाने से भीषण परिणाम आ सकता था। और चन्द्रगुप्त की माता की खोज में गोपाल निवास की ओर जाना भी खतरे से खाली न था।

इन्हें तो पण्डित परिषद् में अपना पद स्थिर करना था। बाद में स्थानीय रंग-ढंग देखकर अन्य कार्य करना था। सम्प्रति किसी पथिकाश्रम में जाना आचार्य को उचित लगा। वे पथिकाश्रम की खोज में नगर से बाहर नदी तट की आरे चल पड़े।

पथिकाश्रम-सराय मिलने में चाणक्य को विशेष विलम्ब न हुआ। नदी किनारे उसका लंगर लगा था। वहाँ से शोणनद दीख रहा था। यहीं पर आचार्य ने एक सराय के एकान्त स्थान में अपना निवास किया।

इनके चारों ओर विशेष पथिक न थे। जो थे, वे अपने-अपने कार्यों में संलग्न थे।

किन्तु थोड़े समय के बाद, दो राज्याधिकारी वहाँ आए। ये दोनों नगरपति थे, विदेशियों पर निगरानी रखते थे। प्रथम ये चारों ओर घूमे, फिर जिन्हें पूछना आवश्यक समझा उनसे प्रश्न पूछने लगे। घूमते-फिरते ये दोनों आचार्य के पास आए। उन्होंने आचार्य को देखा, फिर सामान देखा, ग्रन्थ आदि देखकर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ, वे वहाँ खड़े हो गये, एक ने प्रश्न किया : 'कहाँ से आ रहे हैं?'

"तक्षशिला नगर से"—आचार्य ने प्रत्युत्तर दिया। 'तक्षशिला से?' इन्हें तक्षशिला नाम से कुछ आश्चर्य हुआ। तक्षशिला से कभी कोई भूला-भटका यहाँ आता था।

'हाँ'

'किन्तु कहते हैं कि वहाँ पर तो यवनेश्वर आ पहुँचा है, यह बात सच्ची है?'

'मैं यहाँ आया हूँ यही बताता है कि बात सच्ची है।' आचार्य ने प्रत्युत्तर दिया! रास्ते में वे वैशाली के आर्यमिश्र के यहाँ ठहरे थे यह बात उन्होंने न बतायी। दोनों नगराध्यक्षों को तक्षशिला की बात में आनन्द मिल रहा था।

'ब्राह्मण हो?'

'हाँ'

'तक्षशिला में क्या करते हो? यहाँ किस काम से आये हो? यहाँ किस से परिचित हो? यहाँ से कहाँ जाने का विचार है? यहाँ कितने दिन ठहरोगे?'

'यहाँ आया हूँ अपनी विद्या-परीक्षा के लिए।' आचार्य ने कहा: 'सुना है कि महाराज मगधेश्वर विद्या-समिति द्वारा ग्रन्थ-परीक्षण कराते हैं। मेरे पास एक ग्रन्थ है, उसे लेकर आया हूँ।'

'यहाँ किसी को जानते हो?'

'नाम से बहुतों को जानता हूँ।' आचार्य ने कहा : 'परिचित तो किसी से नहीं हूँ।'

'तुम्हारे यहाँ यवनेश्वर आया है, उसकी कितनी सेना है? बहुत बड़ी सेना है उसके पास? वह इधर आने वाला है?'

आचार्य को हुआ कि इनसे यवनेश्वर की बात करने से ये अन्य प्रश्न नहीं पूछेंगे। अतः आचार्य ने बात बहुत आकर्षक ढंग से कहना शुरू किया: 'यवनेश्वर विजय पर विजय प्राप्त करता चला जा रहा है। तक्षशिला भूमि का महाराजकुमार आम्भि शायद उसका स्वागत करने वाला है, अतः यवनेश्वर वितस्ता की ओर बढ़ने वाला है। वितस्ता पार करने पर वह अवश्य ही यहाँ पर आएगा। वह वितस्ता पार न कर पाया तो अपने देश लौट जाएगा। उसकी अश्व सेना बड़ी बलवती है। वह नवीन नगर बसाता आ रहा है। विजित प्रदेशों में,

अपने कीर्ति-स्तम्भ खड़े करवा रहा है। विद्यापुरी खाली हो गई है, मैं तभी तो यहाँ आया हूँ। यहाँ पर महाराज नन्दराज उदारतापूर्वक विद्वानों को आश्रय प्रदान करते हैं, मैंने सुना है, यह सत्य है?'

दोनों नगरपतियों को आगन्तुक ब्राह्मण में अब शंका-सन्देह की कोई बात न लगी। अत: वे बोले : 'इसके लिए ग्रन्थ परीक्षण होता है, भन्ते पण्डित जी! तुम मन्त्रीश्वर शकटार को जानते हो?'

'मन्त्रीश्वर शकटार? चाणक्य ने आश्चर्य से पूछा : 'ये भला कौन है? हमने तो महामात्य वक्रनास का नाम सुना है। अमात्य राक्षस का नाम सुना है। महाराज का नाम प्रसिद्ध है। यह नाम तो आज ही सुना है। क्या देव वक्रनास अब महामात्य नहीं रहे?'

'महामात्य तो वे हैं ही।' दोनों अध्यक्षों के ब्राह्मण को सर्वथा अनजान समझते हुए कहा—'देव वक्रनास तो महामात्य हैं, और राक्षस अमात्य हैं। किन्तु पण्डित परिषद् का कार्य मन्त्रीश्वर शकटार को सौंपा गया है। इसने भी धड़ाके से अपनी टाँग अड़ा रखी है।' अन्तिम वाक्य में वे मुख ही मुख में बोले। चाणक्य ने सुना है न सुना बराबर रखा, किन्तु ये वाक्य अंकित कर लिए।

'किन्तु यहाँ तक्षशिला के ब्राह्मण को कौन जानता है? तक्षशिला पर विपत्ति न आई होती, तो मुझे आज यहाँ क्यों आना पड़ता? देशविपत्ति आ पड़ी, जिससे मुझ जैसों को मारे-मारे फिरना पड़ रहा है। सुना है कि अब तो सम्राट् महा पद्मनन्द ब्राह्मणों से कम चिढ़ते हैं—यह सत्य है? विद्या-दानशाला का नाम सुनकर ही मैं यहाँ आया हूँ। और जाऊँ भी कहाँ? और है भी कौन ऐसा? तक्षशिला से यहाँ तक सर्वत्र ही महाराज का यशोगान सुनने में आया है।'

'विद्वानों ब्राह्मणों का स्वागत-सत्कार अब होने लगा है, भन्ते पण्डित जी! पहले और बात थी। आजकल और है। महादेवी स्वयं भी विद्वानों का सत्कार करती हैं।'

'अच्छा? तब तो मैंने जो सुना था, ठीक ही सुना। विद्या-दानशाला की स्थापना के पश्चात् अब सब कुछ बदल गया लगता है? भन्ते अध्यक्षो! मैं ठेठ तक्षशिला का, जो यहाँ से एक सहस्त्र कोस दूर है, निवासी हूँ। यहाँ की बातें क्या जानूँ? अज्ञानी और अन्धा बराबर है। देश-विपत्ति किससे कहूँ?' चाणक्य निराश होकर बोल रहा हो, ऐसे

आकाश की ओर देखता रहा। इतने में एक स्त्री इस ओर आ निकली। उसे देखकर दोनों नगरपति आगे-पीछे करने लगे। किन्तु आगन्तुक नारी की नजर इसी ओर थी। उसने इन्हें तुरन्त बुलाया : 'अरे नगराध्यक्षो। कोई प्रवासी विद्वान् ब्राह्मण आया है क्या?'

'क्यों आपका क्या कार्य है? प्रवासी चाहिए? और वह भी ब्राह्मण, और फिर विद्वान् भी, ढूँढना पड़ेगा।'

'तो ढूँढो, महादेवी की आज्ञा है।' उस स्त्री की वाणी में आदेश-भावना व्यक्त हो उठी।

'इसी को बता दें?' दोनों नगरपति आपस में बोलने लगे।

'यह भी ठीक है।' दूसरे ने कहा। और वह आगे कहने लगा : 'इस जैसा कुरूप कौन मिलेगा? आकृति देखते ही महादेवी माँ का मोह उतर जाएगा, और महाराज को भी ठीक लगेगा।'

'तो कह दूँ इसका नाम? लेकिन इसका नाम क्या है?'

चाणक्य इन दोनों की पूरी-पूरी बातें पकड़ रहा था। परन्तु उसकी दृष्टि अभी तक आकाश की ओर लगी थी। जैसे वह जलधरों की क्रीड़ा निहार रहा है।

इतने में एक नगरपति बोला : 'भन्ते पण्डित? तुम तक्षशिला से आ रहे हो?'

'चाणक्य ने अब थोड़ी-सी उपेक्षा बताई, वह समझ गया था कि महादेवी का अपना आदेश है, अतः वे अब उसे नगर में ले जाकर ही मानेंगे। वे आकाश में यों देखते रहे मानो नगरपति का प्रश्न न समझे हो। अध्यक्ष ने फिर कहा—'भन्ते पण्डित! तुमने तो कहा था कि तुम तक्षशिला से आ रहे हो?'

'तो अब तक तक्षशिला की बातें मैंने तुमसे यों ही कीं, नगरपति?' तुम्हें विश्वास न हो तो मैं नगर इसी क्षण छोड़ दूँ। मैं सामने परले पार कोटिग्राम में चला जाऊंगा, मुझे तो सर्वत्र समान ही है।'

'अरे नहीं, आर्य नहीं! भन्ते पण्डित! तुम्हें महादेवी के पास भेजना ही है अतः हम तो विश्वास करने के लिए पूछते हैं। आपका नाम क्या है?'

'मेरा नाम विष्णुगुप्त आचार्य है।' इतने में वह दासी आ पहुँची। उसने नाम सुनते ही एक प्रकार का आनन्द व्यक्त किया। वह

तक्षशिला की कीर्ति जानती थी। बोली : 'तक्षशिला के विष्णुगुप्त आचार्य जिन्हें कहते हैं, आप ही हैं?'

विष्णुगुप्त ने बिना बोले सहमति जताई। आचार्य को लगा कि कुछ भी कहो, पर धननन्द की राज्यसभा में ब्राह्मणों के सम्मान का वातावरण कहीं न कहीं से पैदा हो गया है। एक अध्यक्ष ने दासी की ओर देखकर कहा—'ये विद्वान् हैं, ब्राह्मण हैं, प्रवासी हैं। इन्हें मुरादेवी के निकट ले जाना चाहो तो, ले जाओ। आज ही आए हैं। और तो वैशाली से कुम्हार आए हैं, जिनके गधे—वे रहे सामने!'

स्वयं को विद्वान् ब्राह्मणों का सत्कार प्रिय न था। किन्तु महादेवी की आज्ञा के विरुद्ध उनका अपमान भी न कर सकते थे, अतः अपने अन्तर को सन्तुष्ट करने के लिए, इन्होंने वैशाली से कुम्भकार और गधे को दासी को बताकर, अपनी आत्मतुष्टि की।

किन्तु तभी दूसरे नगरपति ने जल्दी से पहले नगरपति के कन्धे पर हाथ रखकर कहा—'अरे! तुम जल्दी क्यों कर रहे हो? प्रथम सूचना मन्त्रीवर और शकटार को देनी चाहिए? नियमभंग कैसे कर सकते हैं? तुम क्यों भूल गये? अरी यवनी दासी!' उसने दासी से कहा : 'इस विद्वान् प्रवासी ब्राह्मण को हम मन्त्रीश्वर शकटार के पास ले जाते हैं। इनके पास ग्रन्थ हैं, इसीलिए ये आए हैं। उनके सामने ग्रन्थ प्रस्तुत कर ये महल में आ सकेंगे। महादेवी से निवेदन करना है।'

'क्या उससे पहले नहीं जा सकते?' दासी बोली : 'यह कहाँ की बात है? महादेवी की स्पष्ट आज्ञा है कि कोई भी विद्वान्, ब्राह्मण प्रवासी आया हो तो, उसे अविलम्ब महालय में ले आओ। आज शुभ मुहूर्त है और तृतीय राजपुत्र का अक्षरारम्भ करना है।'

दोनों नगरपति हँसे—'अरी पगली! आज अक्षरारम्भ करने का मुहूर्त नहीं है? अठारहवें वर्ष में कहीं अक्षरारम्भ होता होगा? उसे विनयशील बनाने के लिए किसी श्रोत्रिय विद्वान् के पास बिठाना होगा। शकटार मन्त्रीश्वर के प्रासाद में जाकर, ये आचार्य भी सीधे महल में आएंगे। जा तू महल में एक शिविका भेज दे। हम इन्हें लेकर मन्त्रीश्वर शकटार के पास जाते हैं।'

दासी दौड़ती हुई चली गई। ये बातें चाणक्य को आश्चर्यजनक लग रही थीं। आचार्य को ऐसे वातावरण की स्वप्न में भी आशा न

थी। यह सब तो नया था। इनकी समझ में कुछ न आया। दोनों नगरपति एक दूसरे के कान कतर रहे थे। चाणक्य अपनी आंखें ग्रन्थ पर गड़ाए शान्त बैठे थे। किन्तु कान तो उन दोनों की बातों में लगे थे। वे धीरे-धीरे बोल रहे थे, इसलिए स्पष्ट कुछ समझ में नहीं आता था। किन्तु आचार्य ने जो कुछ भी सुना, उससे उसके कान खड़े हो गए।

'अरे! किसे पता है कि इससे क्या-क्या गुल खिलने वाले हैं?' एक ने कहा। दूसरे ने प्रत्युत्तर दिया : 'इस समय तो एक की 'हाँ,' और दूसरे की 'ना'—ऐसी बात है। महादेवी विद्वान् ब्राह्मणों को बुलाने लगी हैं, तो महाराज इसे बन्द कर देना चाहते हैं। शकटार मन्त्रीश्वर विद्या-दानशाला का एक स्थायी वाचस्पति निर्वाचित करके उसी को संघपति बनाना चाहते हैं। और सभी राजकुमार एकत्र होकर आचार्य को आगे कर देते हैं। कहते हैं कि यह सबसे अधिक विद्वान् है, जैसे ही बड़े भारी विद्वान् हो! ऐसे झमेलों में पड़कर क्या करेंगे? हम आए हैं, इन्हें नियमानुसार मन्त्रीश्वर के पास ले चलते हैं। फिर दानशालाध्यक्ष जाने, विद्यापति जाने, शकटार मन्त्रीश्वर जाने, महाराज जाने कि महादेवी जाने, हमें छुट्टी!'

इतने में शिविका आती हुई दिखलाई पड़ी।

'लो भई! शिविका आ गई। यवनी दासी बड़ी निपुण है। शिविका तुरन्त भिजवा दी। भन्ते पण्डित! तुम्हें यह ग्रन्थ के लिए सर्वप्रथम मन्त्रीश्वर शकटार से मिलना पड़ेगा। हम वहीं चलें। यह वाहिका आई, विराजिए!'

अपना ग्रन्थ सँभाल कर, चाणक्य चलने को प्रस्तुत हुए।

११

मन्त्रीश्वर शकटार

चाणक्य मन्त्रीश्वर शकटार के महालय के समीप आ गया। यहाँ से महाराज महा पद्मनन्द के उत्तुंग, भव्य राजमहल 'सुगंगप्रासाद' के सैकड़ों कँगूरे नजर आ रहे थे। इस भव्यता को निहार कर, चाणक्य स्तब्ध रह गया। ऐसा उत्तुंग, भव्य महल तो अमरावती में भी असम्भव है। गंगा और शोण का संगम नीर इसे एक दिशा से समीरण

देता था। शोण की एक उपशाखा राजप्रासाद के निकट जा कर, उसे नमन कर रही थी और आगे तो दृष्टिगोचर भी न होती थी। इस उपशाखा में महाराज की मयूर नौका, लगता था कि राजप्रसाद के निकट ही तैर रही है। वह यहाँ से दीखती थी। चाणक्य यह सब भी न देख पाया था कि एक द्वारपाल सामने खड़ा दीखा। नगरपति इनसे वार्तालाप कर रहे थे। चाणक्य को सौंपकर वे दोनों वहाँ से चल दिए। उनका काम पूरा हो गया था।

आचार्य ने द्वारपाल के साथ, सावधानीपूर्वक मन्त्रीश्वर के महल में प्रवेश किया।

सैकड़ों कक्षों को पीछे छोड़ता हुआ चाणक्य आगे बढ़ता गया। मन्त्रीश्वर के महल में ये सैकड़ों कक्ष यों ही खाली पड़े थे। मानो इनमें कोई रहता न हो। ठेठ ऊपर के कक्ष में द्वारपाल आया। चाणक्य को वहीं खड़ा कर, उसने दूसरे द्वारपाल को चाणक्य के विषय में सूचित करने को कहा। उस द्वारपाल ने अन्दर जाकर सूचना दी।

'यही वह मन्त्रीश्वर शकटार हैं या उनकी प्रतिछाया है, यह सब है क्या?' इस विचार और उलझन से चाणक्य निकल भी न पाया था कि उनके सामने एक विद्वान् ब्राह्मण-जैसा कोई व्यक्ति आ खड़ा हुआ। द्वारपाल ने दोनों हाथ जोड़े—भन्ते वाचस्पति! तक्षशिला से आए हैं, ये विद्वान् ब्राह्मण! पथिकाश्रम से नगरपतियों ने इन्हें आपकी सेवा में भेजा है। ये परीक्षण ग्रन्थ लाए हैं। महामन्त्री को सूचना दे दीजिए। भन्ते पण्डित! आप यहाँ विराजिए।

वाचस्पति से इतना कह, द्वारपाल अपने स्थान पर पीछे जाकर, पूर्ववत् खड़ा हो गया। द्वारपाल की बात सुनकर वाचस्पति अन्दर गया। वह मन्त्रीश्वर शकटार का निकटवर्ती लगता था।

अब चाणक्य को आर्यमिश्र के पूर्वोक्त शब्द याद आए। शकटार का यह निवास आचार्य को सर्वथा विचित्र लग रहा था। मन्त्रीश्वर केवल महत्ता की छाया पर ही जी रहा है, ऐसा लगता था। उसके हाथ में कोई सत्ता हो सो बात नहीं। कहीं किसी के होने का पता न चलता था। यहाँ का वातावरण ही इसका प्रमाण था। यहाँ का एकान्त भी चाणक्य को शोकजनक लग रहा था। वह विचार करने लगे। तभी विषकन्या की बात याद आ गई। मन्त्रीश्वर को नन्दराज

क्यों कुछ नहीं कहते, यह बुझौवल भी समझ में आ गई। मन्त्रीश्वर शकटार का निवास स्थान सर्वथा समीप है। शायद उसी क्षेत्र से जुड़ा हुआ। यह स्वाधीन प्रतीत होता था, और किसी के निरीक्षण में था। उसे मुक्ति लगती और था वह बन्धन। आचार्य को ऐसी विचित्र अवस्था का परिचय मिला। मन्त्रीश्वर शकटार किस प्रकार उनके सहयोगी बन सकते हैं, यह समस्या फिर से विचारणीय थी।

आचार्य इसका समाधान सोचना चाहते थे कि वाचस्पति आया। उसने आगे बढ़ने की प्रार्थना की, फिर दोनों जन एक विशाल कक्ष में प्रविष्ट हुए।

यह कक्ष की महत्ता की परछाई की परछाई के समान ही रिक्त था। नीचे काम्बोज एवं पार्श्व देश के बहुमूल्य वस्त्र प्रसारित थे, और सम्पूर्ण कक्ष रिक्त था। एक ओर एक काष्ठ आसन पड़ा हुआ था, उस पर सुकोमल शैयासन बिछा था। कक्ष में और कोई भी चिह्न न था। आचार्य आश्चर्यचकित हो गए। उन्होंने ऊपर दृष्टि उठाई, केवल एक मूक पशु बैठा था—एक मूक पिंजरे में। स्यात् यह बैठा-बैठा सब कुछ देख रहा था। वाचस्पति चाणक्य को इस स्थान पर रुकने को कहकर, फिर तिरोहित हो गया।

चाणक्य काँप उठा। यह पक्षी किसका होगा? आर्यमिश्र ने कहा तो था कि नन्द के प्रासादों में तुम विहगों को भी स्वतन्त्र न देख सकोगे। वे दासत्व करते हुए बंधे होंगे। यह नन्दराज की चाकरी करता हुआ यहाँ पर बैठा हो तो, आर्यमिश्र की प्रदत्त मुद्रा यहाँ पर बताना भीषण परिणाम खड़ा है। आचार्य व्याकुल हो उठे। कोई दास, द्वारपाल, सेवक, अनुचर अथवा सायुधा यवनी इत्यादि, जैसा कहा जाता था, यहाँ पर कोई नहीं था।

कम्पन उत्पन्न करने वाली ऐसी नीरवता यहाँ होगी, आचार्य को इस बात की कल्पना भी न थी। वे तो स्वयं यह समझ रहे थे कि मन्त्रीश्वर शकटार के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त होगा। थोड़े समय के बाद सामने का एक द्वार खुला, वहाँ पर जीर्ण-शीर्ण, वलित शरीरयष्टि एक वृद्ध दीखा, उसकी मुखाकृति इकहरी, तीक्ष्ण एवं तीव्र लक्षित हो रही थी। किसी समय वह व्यक्ति प्रतापी रहा होगा, सम्प्रति को वह भयंकर लग रहा था। लगता था, उसके शरीर में कहीं भी चेतनता

न बची है। उसके हाथों में एक स्थूल दीर्घ दण्ड था। दण्ड के सहारे वह आगे आ रहा था। उसे देखकर चाणक्य ने सोचा कि यह मन्त्रीश्वर शकटार होंगे। आगन्तुक की आकृति म्लान और शरीर जर्जरित था, फिर भी बिच्छू के डंक-सी उसके स्वभाव की उग्रता स्पष्ट झलक रही थी। वह वृद्ध, चाणक्य के सम्मुख आकर खड़ा हुआ।

उसने उन्हें देखा। उसके मुख पर चाणक्य की दृष्टि पड़ी, चाणक्य ने अनेकानेक चेहरे देखे थे, किन्तु इस मुख पर एक ऐसी तीव्र वैर-लालसा अधिष्ठित थी कि जिसकी झलक नीरस, फीके, पतले निर्जीव-से चेहरे पर बैठी दो आँखों से झरनेवाली अग्नि-ज्वाला की वर्षा से मानो प्रकट हो रही थी।

लगता था इसके शरीर को वैर लालसा ही प्राण दे रही है। चाणक्य ने इस बात में रहस्य देखा। वे जानते थे कि समृद्ध साम्राज्यों को समूल उन्मूलित करने में ऐसी वैर-भावना ही समर्थ होती है। इसी की खोज में तो ये यहाँ आए थे। आचार्य को मन्त्रीश्वर के प्रति आकर्षण हो रहा था।

मन्त्रीश्वर ने आगे बढ़कर चाणक्य के सामने देखा—मौन भाव से, नख से शिख तक। थोड़ी देर बाद, मन्त्री ने हंसकर पूछा—"ब्राह्मणदेव! कहाँ से, तक्षशिला से आ रहे हैं?"

मन्त्रीश्वर की वाणी में शीतलता, मन्दता होते हुए भी, उष्णता भरी थी। इसने आचार्य के मन को छू लिया। वृद्ध मन्त्रीश्वर में समृद्ध स्नेह था। 'ब्राह्मणदेव' शब्द में संमान था। चाणक्य ने दोनों हाथ जोड़कर, प्रत्युत्तर दिया : "हाँ देव! मैं तक्षशिला से आ रहा हूँ।"

बैसाखी के सहारे वह आगे बढ़ा और पीछे मुड़कर उसकी आंखों में आंखें डालकर बोला : "तक्षशिला का विख्यात आचार्य विष्णुगुप्त तू ही है न?"

"हाँ देव! मेरा ही नाम विष्णुगुप्त है.!"

वृद्ध फिर आगे बढ़ गया। लगता था, उसे पीछे मुड़-मुड़कर बात करने की आदत है। मन्त्रीश्वर की बात ठीक ढंग से समझने के लिए चाणक्य उसके पीछे थोड़ा-सा आगे बढ़ा।

"तूने कोई पुस्तक लिखी है?"

"हाँ देव! एक ग्रन्थ लिखा है।"

"उसका नाम क्या है?"

"अर्थशास्त्र!"

"अर्थशास्त्र? यह कैसा नाम है? किसी राजा का नाटक नहीं लिखा? क्या विषय हैं इसमें? कैसे अर्थ की बात है? धन की बात है? तू यहाँ धनपति से धन की बातें करने आया है? अच्छा बता, क्या है इस ग्रन्थ में?"

"सुखस्य मूलं धर्मः। सुख का मूल धर्म है।"

"हाँ और आगे?"

"धर्मस्य मूलं अर्थः—धर्म का मूल धन है। निर्धनता सारी व्याधियों की जड़ है।"

"कहते चलो मैं सुन रहा हूँ!"

"अर्थस्य मूलं राज्यम्।—अर्थ का मूल्य सुराज्य है, बिना व्यवस्था के अर्थ नहीं है।"

"और—राज्यमूलमिन्द्रियजयः।"

"हें? तूने लिखा है यह?" अन्तिम वाक्य सुनते ही मन्त्रीश्वर शकटार थम गया। वह गर्दन घुमाकर चाणक्य की ओर देखने लगा। उसे तक्षशिला के इस आचार्य में शक्ति एवं दृष्टि के दर्शन हुए। तक्षशिला संस्कारों की भूमि थी। आचार्य देश-विपदा के कारण ही यहाँ आए। फिर भी एक उपयोगी है! वह पीछे मुड़ा, चाणक्य के पास आकर, उसके कन्धे पर हाथ रखकर, उसकी आंखों में आंखें डालकर मन्त्रीश्वर बोला : "तुम्हारे इस अन्तिम सूत्र में गहरा रहस्य भरा है! अब तक तुम कहाँ छिपे पड़े थे? अब शकटार के शब्दों से तू हट गया था। उसे आचार्य में कुछ दीखने लगा। उसे चाणक्य में कुछ शक्ति झलकने लगी। आर्यमिश्र ने भी उसे कहला भेजा था। उसके हृदय की बात मुंह पर आ गई। मुझे तुम जैसा कोई आदमी मिल गया होता, तो इस करुणाजनक दृश्य की नौबत न आ पाती आचार्य!"

आचार्य सुन्न हो गए। मन्त्री के दिल का दुःख बाहर आया। आचार्य ने देखा कि मन्त्रीश्वर शकटार के दिल में महान् वेदना बैठी है। यह अब पता पड़ा इन्हें। पूर्वोक्त वैर के साथ ही इस वेदना का सम्भव था, किन्तु मन्त्रीश्वर जल्दी में बोलकर, फिर मौन हो गए और धरती पर आंखें गड़ाए खड़े रहे। आचार्य मन्त्रीश्वर के चेहरे को

देखकर उसके मन में उठने वाली उथलपुथल को समझ गए। इसके मन में तरुण पुत्र की मृत्यु की तीव्र वेदना थी, जिसका सम्बन्ध निश्चितरूप से नन्दवंश के साथ हो सकता है।

'आज वह तुम्हारे बराबर होता! इस राज्य की शासन सत्ता का संचालक होता। यहाँ उसने संस्कार साम्राज्य की स्थापना भी कर दी होती। उसने बर्बरता का शमन कर दिया होता, उसके द्वारा नन्द वंश का भी उद्धार हो चुका होता। वह एकाकी था—ऐसा व्यक्ति तो इस शासन को स्थिर रख सकता था, किन्तु, किन्तु.....किन्तु.....आचार्य! मैंने तुम्हें बिना जाने-पहचाने ही ये बातें कहकर चक्कर में डाल दिया है? तुम्हारा नाम क्या है? मनुष्य से निष्कारण ही ऐसी वैसी बातें कहने का मुझे अभ्यास हो गया है। इस अभ्यास से अपरिचित घबरा जाते हैं। इन शब्दों से मेरा अभ्यास प्रकट नहीं होता है। तुमने अपना नाम क्या बताया है?'

'आचार्य विष्णुगुप्त, मैं चणक पुत्र चाणक्य हूँ।'

'अच्छा? यह नाम तो मेरे कानों में भी आया है, तुम इस तक्षशिला में थे, क्यों?'

चाणक्य को आर्यमिश्र की मुद्रा दिखाने की आवश्यकता लगी।

उसी ने प्रथम बात का श्रीगणेश करते हुए मूक पक्षी की ओर संकेत किया था और भय दूर किया था। आचार्य ने चारों ओर दृष्टि फेरी, पीछे देखा। पुनः धीरे से ऊँची निगाह की। वह पक्षी अभी तक मौन बैठा था।

'यह निर्दोष है इसे वाणी नहीं है।' शकटार बोला।

आचार्य ने तुरन्त ही आर्यमिश्र प्रदत्त मुद्रा निकाली और शकटार के सम्मुख प्रस्तुत कर दी—'देव! मुझे दी है यह......।'

मन्त्रीश्वी शकटार दुविधा में पड़ गए, मानूँ या न मानूँ । वह चाणक्य की ओर देखते रहे।

'वह कहाँ मिला था?'—शकटार ने तुरन्त मुद्रा पहचानते हुए पूछा और तुरन्त मुद्रा अपने हाथ में ले ली।

'तुम्हें जानता है वह?'

''मैं यहाँ आने से पहले वैशाली में टिका था।''

''वैशाली में? आर्यमिश्र के घर पर ठहरे थे?'' शकटार के मुख पर शंका मिश्रित भय की रेखा उठ आई।

आचार्य ने शांत भाव से कहा : "हाँ, आर्यमिश्र के घर पर ठहरा था। एक सप्ताह। आर्यमिश्र ने मुझे एक बात कही। मैं आपसे मिलना चाहता था कि अकस्मात् बीच में यह बात हो गई।"

"मुझसे मिलना चाहते थे? क्यों? मैं तो इस विद्यादानशाला का संचालन करता हूँ। मुझे मिलने से क्या लाभ? राज्य में किसी पद की प्राप्ति कराने में मेरा महत्त्व नहीं है। यह कार्य अमात्य राक्षस का है। तक्षशिला की क्या बात थी?"

शकटार ने आर्यमिश्र को महत्त्व न दिया, चाणक्य इस बात को भांप गए। वे विचारों में ही निमग्न थे। सोच रहे थे कि बात करें या न करें। निश्चय न कर सके! आर्यमिश्र के साथ शकटार का सम्बन्ध तो स्पष्ट ही था, किन्तु विषकन्या के साथ भी यह सम्बद्ध होगा? अभी तक चाणक्य यह समझ न पाए थे कि विषकन्या की बात कही जाए या नहीं। मन्त्रीश्वर अभी तक चाणक्य पर विश्वास करने में हिचक रहा था। मन्त्रीश्वर ने तक्षशिला की बात निकाली थी। यह बात भी किसी विशेष कारण से होगी, आचार्य को ऐसा लगा।

"तक्षशिला पर विपदा आ पड़ी है, देव! तभी आना हुआ इस ओर। यहाँ पर उसे देश-विपदा का समाधान दीख रहा है।"

"यहाँ पर उस विपदा का समाधान दीख रहा है? किसने कहा? यहाँ क्या धरा है?" इतना कहकर शकटार आगे बढ़ गया, वह चलता-चलता, पीछे गर्दन घुमाकर बोला :

"किसने कहा है तुमसे कि यहाँ पर उसका समाधान है, आचार्य! यहाँ पर उसका समाधान कहाँ से होगा? यहाँ तो यह है?......" उसको पिंजरस्थ पक्षी की ओर संकेत करते हुए कहा! हो भी तो, अमात्य राक्षस से सम्पर्क करो। यहाँ उसी का शासन है।"

कहकर मन्त्रीश्वर आगे बढ़ गया। पुनः गर्दन घुमाकर आचार्य को ताकने लगा। उसके मुख पर उपेक्षा झलक रही थी। किन्तु आंखों में शीतल शक्ति लक्षित होती थी। चाणक्य को आभास हुआ कि मन्त्रीश्वर के मन में विश्वास बैठ रहा है।

चाणक्य उसके सामने देखता रहा। उसके शब्दों का मर्म ढूंढता रहा। उसके पास हृदय था, यह बात असंदिग्ध थी। वह हृदय उघाड़ना चाहता था, यह बात भी सुनिश्चित थी। परन्तु हृदय खोलना चाहिए या

नहीं इस विषय में बड़ा उहापोह मचा था। उसके प्रयुक्त 'राक्षस' शब्द में उसने दो अर्थ देखे। यहाँ पर तो राज्य राक्षस का है। नन्दराज के ऊपर यह भयंकर आक्षेप तो नहीं है? चाणक्य ने ये शब्द पकड़े और बोले—'राक्षस और देव हजार बार लड़े हैं, एक बार और सही प्रभो।'

मन्त्रीश्वर शकटार की यष्टिका आगे बढ़ी : "क्या कहा? एक बार और सही! किन्तु ऐसे संघर्ष करना सरल थोड़े ही है भूदेव! यहाँ वज्र के चने हैं, और अन्यत्र लोहे के।"

"इन्द्रदेव ही वज्र धारण करता है महाभाग! अन्तिम विजय संस्कार की है, बर्बरता की नहीं। इन्द्रियजयी ही राज्य की स्थापना करता है, इन्द्रिय भोग-लालसी नहीं। 'मन्त्ररक्षणे कार्यसिद्धिः' देव! और 'नैकं चक्रं परिभ्रमयति—चक्र दो होने पर ही चलते हैं, एक नहीं?"

"हाँ आचार्य विष्णुगुप्त! तुम तक्षशिला में हो क्या? वहाँ विद्वान् ब्राह्मणों का बहुत सम्मान है?"

मन्त्रीश्वर शकटार फिर पीछे मुड़ा। यष्टिका के सहारे शनैः शनैः चाणक्य के निकट आया। उसने चाणक्य के सामने दण्ड उठाकर कहा :

"किन्तु आचार्य! यहाँ पर, इस भींत के भी कान हैं।"

"तुमने अभी क्या कहा? मन्त्ररक्षणे कार्यसिद्धिः।"

पुनः शकटार बहुत मन्द स्वर में कहा : "आर्यमिश्र ने कुछ कहलाया है? तुमने आठ दिनों से उसके यहाँ कोई असाधारण दृश्य देखा था, आचार्य?"

"असाधारण? अर्थात्?" आचार्य की समझ में बात स्पष्ट आ गई थी कि यह प्रश्न विषकन्या के बारे में है। किन्तु आचार्य ने सहसा कुछ न कहने में ही सुरक्षा समझी। शकटार जिस षड्यन्त्र का सर्जन कर रहा था उसमें मेरा स्थान तो निश्चित-सा होगा, किन्तु ऐसा कार्य लाभदायक है या नहीं, यह सोचना सरल नहीं है। उसने साहस बटोर कर कहा : "असाधारण तो नहीं किन्तु एक अद्भुत दृश्य मैंने वहाँ अवश्य देखा था। देव! मैं उसके बारे में आपसे कहने वाला था। मैंने आर्यमिश्र से तो कुछ नहीं कहा किन्तु वहाँ मैंने एक.....देखी थी!"

चाणक्य ने जान-बूझकर विषकन्या शब्द छोड़ दिया था। मन्त्रीश्वर शकटार समझता हुआ लगा और बोला : "सचमुच? देखी?"

"यहाँ इसीलिए तो आया हूँ अपना स्थान लेने के लिए। आपका

साथ देने के लिए, बर्बरता के विनाश के लिए, आर्यमिश्र ने इन शब्दों का प्रयोग किया था, यहाँ का सम्वाद मुझे कहा था, मैं भी ब्राह्मण हूँ, मन्त्रीश्वर, ऐसे नीचकुल के बर्बर को कब तक टिकने दिया जा सकता है?'' आचार्य ने साहस संचित कर सारा सार कह दिया।

''कब तक टिकने देना है ऐसा कहो, आचार्य! तुम्हारे विषय में आर्यमिश्र ने मुझे कहला भेजा है। यहाँ पर सन्देश आ गया है। भूमिदेव! मैं तो वृद्ध हूँ, युवक तो तुम ही हो, परन्तु बताओ तुम यहाँ पर क्या कर सकते हो? तुमने यहाँ का दुर्ग देखा है। बाह्य ब्राह्मण यहाँ पर सफल नहीं हो सकता। ऐसी जीत तो 'न भूतो न भविष्यति' जैसी बात है।'' इतना कहकर वह अति निकट आकर बोला :

''बर्बरकों का विनाश अन्र्द्वन्द्वों से होता है, बाह्य आक्रमण से नहीं भूदेव!''

यह सुनकर चाणक्य का रोम-रोम हर्षातिरेक से नाच उठा। भूमिका प्रस्तुत हो रही थी, फिर भी अपने को सावधान रखना था। आचार्य ने सोचा कि मन्त्रीश्वर से चन्द्रगुप्त ही बात अभी नहीं करनी चाहिए। उसने आगे बढ़कर मन्त्रीश्वर शकटार को प्रणाम किया और कहा : ''यहाँ एक महान् व्यक्ति अभी तक जीवित है। जिसे आर्य संस्कारों की ही विजय अभीष्ट है। जिसे जन-कल्याण अभिप्रेत है, आपके विषय में आर्यमिश्र ने मुझसे कुछ कहा है, किन्तु एक बात नहीं कही।''

''कौन सी?''

''देवराज को नन्दराज चाहता नहीं है, और निष्कासन भी नहीं कर सकता, इसका क्या कारण है?''

''इसका क्या कारण है? यह जानना चाहते हो तुम? जानकर क्या करोगे? तुमने अभी-अभी क्या कहा था? मन्त्ररक्षणे कार्य-सिद्धिः—रहस्य की रक्षा करनी चाहिए। हमें जो कुछ करना है, वह सरल नहीं है। इसकी सफलता का एक ही पन्थ है। आन्तरिक द्वन्द्व से, महारानी सुनन्दा, इस धन-लोलुप के अभिमान से, असंस्कारों से, संत्रस्त हो गई है। वह इस हीन वंश में किसी की धन-लालसा के परिणाम से आई है। अब वह थक गई है। बर्बरकों की छाया भी नहीं सुहाती। किन्तु राज्य बर्बरक का है, शासन है, सत्ता है,

अमात्य हैं, सैन्य हैं, सेनापति आदि सभी तो बर्बरक के हैं, किन्तु पुत्र उसके नहीं हैं। क्योंकि पुत्रों में कुछ भी नहीं है। अब देवी सुनन्दा अपने पुत्रों को संस्कृ त, परिष्कृत करना चाहती हैं। इस प्रकार आपके लिए पथ प्रशस्त हो गया है। और सम्प्रति तो एक ही बात पर्याप्त है। उदासीन गर्वीली नारी के शब्द-शस्त्र तो धननन्द-से सम्राटों को भी अवनत कर देते हैं। उस समय आर्यमिश्र के घर आपने कुछ अद्‌भुत देखा था? मनुष्य चाहे जैसा हो, अन्ततः उसे प्रेमल शब्दों से जीवन की अभिलाषा रहती है। ऐसी ही प्रेमार्द्र पवन की आकांक्षा होती है उसे। सुनन्दा-जैसी गर्विष्ठ नारी की उपेक्षा से, वह अन्यत्र दृष्टिपात करने लगेगा तब...किन्तु लाओ आचार्य! कहाँ है आपका ग्रन्थ?"

आचार्य ने अपना ग्रन्थ खोला। मन्त्रीश्वर खड़ा-खड़ा उसे सुनने लगा।

कुछ सुनते ही शकटार ने कहा :

"इसमें तो आपने बहुत-सी बातों का समावेश कर दिया है, आचार्य! मुझे लगता है कि समय आने पर महारानी तुम्हें राजकुमारों के शिक्षण के लिए नियुक्त कर देगी। तक्षशिला के आचार्य देश-भर में पहुँच रहे हैं, यह समाचार सार्थवाहों के साथ आया, तभी से महारानी की दृष्टि इसी ओर लग गई है। तुम्हारी नियुक्ति हो जाए, तो पुनः इस ग्रन्थ के साथ तुम्हारी भी कसौटी हो जाएगी।"

मन्त्रीश्वर शकटार बोलता हुआ थम गया। सामने वाचस्पति हाथ जोड़े हुए खड़ा था : "प्रभो! महाराज स्वयं पधार रहे हैं!"

"अरे! हें? सचमुच? और कौन है साथ में?"

"एकाकी महाराज ही हैं!..."

और वाचस्पति समाचार देकर महाराज नन्दराज की आवभगत करने के लिए दौड़ता हुआ चला गया। शकटार सोच में पड़ गया कि अब चाणक्य को कहाँ छिपाएँ?

चाणक्य ने अपनी पुस्तक सँभाली, और तुरन्त ही दूसरी ओर के द्वार से निकलकर पिछले कक्ष में जाकर स्वयं को छिपा लिया। आचार्य कठिनाई से कक्ष में स्थिर भी न हो पाया था कि उसके कानों में वाचस्पिति की ध्वनि आयी। "यहाँ पर हैं महाराज! यहाँ पर..."

एक स्थूल, घरघराता, किन्तु स्वार्थसिक्त, भयपूरित शब्द सुन पड़ा :

"हमारे मन्त्रीवर, वाचस्पति! इतने सादे ढंग से रहते हैं कि कोई उन्हें मन्त्रीश्वर माने भी नहीं, और पता है यह सब सादगी क्यों है?"

"क्यों है?"

"अपने राज्य का धन सुरक्षित रखने के लिए!" और नन्दराज कृत्रिम हँसी हँस पड़ा, जोर-जोर से : "हे शकटार देवा! मुझे और कितना धन दिलाओगे, कितना?"

चाणक्य अपने स्थान पर शान्त खड़ा रहा।

किसी की मुखाकृति दीखती तो न थी, किन्तु शब्द ठीक-ठीक सुनाई दे रहे थे। चाणक्य वहीं, दीवार से चिपका हुआ सब सुनता रहा।

१२
चाणक्य को सुराग मिला

चाणक्य ने दोनों की बातों पर बराबर ध्यान दिया, उसे आश्चर्य हुआ, उसने तो तक्षशिला में बैठे-बैठे महा पद्मनन्द के अभिमान के बारे में अनेक बातें सुनी थीं। इसके समान उद्धत और गर्वीला और कोई राजा ही न था। तभी तो उसको उग्रसेन कहा जाता था। किन्तु उसी नन्दराज की वाणी में असीम विनयशीलता थी, महान् विवेक था, वह मन्त्रीश्वर शकटार को व्यवहार से सम्मान प्रदान कर रहा है। चाणक्य के कानों में उसके शब्द आ रहे थे। राजा वृद्ध मन्त्रीश्वर के साथ पूर्ण सद्भाव और विवेक से बोल रहा था। यह देखकर चाणक्य चकित हो गया। उसे प्रतीत हुआ कि या तो उसने नन्द के बारे में मिथ्या सुना है अथवा यह और कोई नन्दराज है या महा पद्मनन्द बदल गया है। स्यात् यह कृत्रिम व्यवहार कर रहा है। इसी विचार में वह एकचित्त हो गया।

उसे कोई देख तो नहीं रहा है! इसका निर्णय करने के लिए उसने तीव्र दृष्टि से चारों ओर देखा। किन्तु वहाँ कोई न था। ऊपर दृष्टि गई तो वहाँ किसी पक्षी का पिंजरा न था। अब वह निश्चिन्त होकर अन्दर की बातें ध्यान से सुनने लगा।

आवाज मगधेश्वर की थी, परन्तु वह गर्वरहित थी, सम्पूर्ण विनय था उसमें,—"देव शकटार!" वह कह रहा था। उसकी ध्वनि कुछ मोटी थी, "आप मुझे कितना बड़ा धनपति बनाना चाहते हैं? मेरे पास क्या धन की न्यूनता है, जो आप अपनी सादगी से सर्वथा एकान्त में इस प्रकार निर्धनता का चित्रण कर रहे हैं! आपकी सेवा में न तो कोई दास है, न कोई दासी है, न कोई अनुचर है, न कोई सेवक! मैं प्रत्येक खण्ड को देखता आया हूँ किन्तु सब रिक्त हैं, खुले पड़े हैं; सब साधनशून्य हैं, निर्जन हैं, इसे क्या कहा जाए? आपको हमारे नन्द वंश पर क्रोध तो नहीं है? हमारे धन को अग्राह्य तो नहीं मानते आप?"

"महाराज! जिस कुल की तीन-तीन पीढ़ियों से हम सेवा कर रहे हैं, उस पर रोष करेंगे भला? आप आयु में छोटे हो, तो क्या हुआ, हैं तो सम्राट्! मैं तो आपका मंत्री ही हूँ। मुझ तो आपकी आज्ञा का पालन करना है। रही रोष की बात, यह भी ठीक नहीं है मगधेश्वर! राजा और अग्नि छोटे हों तो भी उन्हें कम मानना शास्त्र-विरुद्ध है। ऐसा कहकर आप मुझे दोष में सन रहे हैं महाराज!"

"किन्तु यह सब क्या है मन्त्रीश्वर! आप की सम्मति थी कि हमें विद्वत्सभा स्थापित करनी चाहिये, सो हमने विद्वत्सभा की स्थापना कर दी। नवीन ग्रन्थों के परीक्षण के पश्चात् सत्कार करने की प्रथा प्रारम्भ की आप की इच्छा थी तो मगध की शान-शोभा के अनुरूप ही हमने ऐसी प्रथाएँ आरम्भ की हैं। आपकी सम्मति हैं कि किसी महान् विद्यापति को यहाँ स्थायी संघपति-विद्वान् के रूप में नियुक्त किया जाए, यह संघपति आगत विद्वानों का सत्कार करे, इस बात की स्वीकृति भी दे दी गई है, अब आप बताएँ कि आपको और कौन सा मनोदुःख है?"

"सम्राट्! मुझे कौन-सा मनोदुःख हो सकता है? आपके शासन में मुझे आनन्द ही आनन्द है। आपने मुझे कभी दुःख व्यक्त करते देखा है?"

"देखा नहीं है मन्त्रीश्वर! यही तो आपकी महत्ता है। किन्तु मनोदुःख न होता तो यह एकान्तवास क्यों? जीवन में यह उदासीनता क्यों? हमें मगध को अद्वितीय बनाना है मन्त्रीश्वर! आप इसे क्यों बिसर जाते हैं? हमें वैभव प्राप्त करना है! हमें तो सौराष्ट्र से बंग तक

और काश्मीर से ताम्रलिप्ति तक, एकचक्र राज्य स्थापित करना है और मगध को सर्वोच्च बनाना है।''

''सम्राट्! इस समय भी, कौन कहता है कि मगध अद्वितीय नहीं है। यह तो अद्वितीय ही है!''

इस ''अद्वितीय'' शब्द में भयंकर कटाक्ष हो, ऐसा लग रहा था चाणक्य को। नन्दराज भी थोड़ी देर कुछ न बोला, चाणक्य सोचने लगा कि नन्दराज गम खा गया है। किन्तु गर्विष्ठ और उग्र मगधेश्वर वृद्ध मन्त्रीश्वर की क्यों चलने दे रहा है? इसका रहस्य अभी तक चाणक्य की समझ में न आया। स्पष्टरूप में दोनों कृत्रिम थे, विनय में भी, और बातों में भी।

इतने में मगधपति की आवाज आयी, उसमें दबा हुआ रोष था : आवाज गाढ़ी, जोर की, थोड़ी-सी तेज थी—''मन्त्रीश्वर! मैं तुम्हें पूजनीय मानता हूँ, तुम्हारा मान रखता आया हूँ। तुम्हारी हाँ में हाँ करता रहा हूँ, और....।''

शकटार बीच में ही बोल पड़ाः 'और उसके लिए महा पद्मराज! मैं आपका ऋणी हूँ, मैं तो आपका एक सेवक कहलाता हूँ, आप मुझसे मिलने आते हैं, यह भी मेरा अपमान है, आप मुझे बड़ा मानें तो यह भी मेरी अवमानना ही है।'

अन्तिम वाक्य ने राजा नन्द को अवनत-सा कर दिया, बूढ़े के हाथ में रहने वाले दण्ड की अपेक्षा, वाणी का दण्ड शक्तिशाली होना चाहिए। क्योंकि नन्दराज बल खाकर थोड़ी देर तक मूक-सा बना रहा। किन्तु जब वह बोला तो उसकी वाणी में दबा हुआ क्रोध था, और उस क्रोध को दबाने में, ऐसा लगता था कि राजा को श्रम करना पड़ रहा है।

इतना गर्विष्ठ, उग्र, चक्रवर्ती सम्राट् अपने रोष को क्योंकर दबाकर रखता होगा?

चाणक्य के मन में यह विचार घुल रहा था, राजा के मन में दुराशा का तंतु होगा तभी यह सम्भव है।

जिसका शासन सीमातीत था, जिसकी जानकारी के बिना राज्य में पत्ता तक हिलता न था, ऐसे व्यक्ति के मन में भी और आशा होगी? किस बात की आशा होगी? ऐसा न होता तो इस नम्रता का और क्या

मतलब हो सकता है? शकटार जैसे जराजीर्ण को क्यों महान् मानें? चाणक्य यों सोचता हुआ स्तब्ध हो गया। ऐसे समर्थ शासक को भी इससे कोई अपेक्षा होगी? आचार्य को आश्चर्य हुआ। अपेक्षा और आशा, चाहे कितनी ही बड़ी समृद्धि हो, व्यक्ति को रंक बना देती है।

नन्दराज कृत्रिम विनय से बोल रहा था, 'मन्त्रीश्वर! मुझे ज्ञात है कि आप गुरु हैं, मैं शिष्य हूँ, तात्विक दृष्टि से आप मुझसे दक्षिणा के अधिकारी हैं। किन्तु यह तो कलियुग है, तभी तो मैं शिष्योपहार लेने के लिए आया हूँ। ऐसा समझ लीजिए कि आपकी अवस्था तो पक गई है, मन्त्रीश्वर! कल का क्या ठिकाना? जो कुछ करना हो, हमें कर लेना चाहिए। मगध का जो कोई विद्यापति हो आप जिसे चाहें विद्यापति चुनें, वही विद्वानों का स्वागत-सत्कार करे, हमें ऐसी व्यवस्था करनी पड़ेगी! महादेवी की भी यही इच्छा है। महादेवी मगध की संस्कारिता की ध्वजा फहराना चाहती हैं, आपको यह योजना कैसी लग रही है!'

''योजना कार्यरूप में परिणत करने लायक है!'' शकटार ने शीतल, शून्य उत्तर दिया।

अभी तक चाणक्य समझ न सका था कि मन्त्री और राजा किस ओर बढ़ रहे हैं। किन्तु आचार्य यह समझ गए कि नन्द का मन्त्रीश्वर से कोई स्वार्थ है, इसलिए राजा उसकी चापलूसी कर रहा है। विनय बता रहा है। आचार्य को आर्यमिश्र की बात याद आ गई 'नन्द के फन्द गोविंद जाने'—आर्यमिश्र का यह वाक्य अब सार्थक लग रहा था, यहाँ उसकी विद्यादान विषयक उदारता का सम्बन्ध था। इस उदारता का कारण आचार्य अभी तक न जान सके।

'आपकी इच्छा, हमारे लिए आज्ञा है'—महापद्म ने कहा : 'अब दूसरी बात है इस योजना के लिए धन कहाँ से आए? क्या कोष से निकालना होगा?'

'इस विषय में सन्निधाता कहेगा!' यह शकटार का शीतल, संक्षिप्त उत्तर व्यग्र बनानेवाला था।

'अरे! किन्तु हमारे लिए सन्निधाता, राजपुरोहित, गुरुदेव, अमात्य समझो, महामात्य कहो, सब कुछ आप हैं! इसका क्या है? परन्तु आप क्या कहते हैं?'

"राजकोष से विद्वानों का सत्कार हो, तो यह राजकोष का सदुपयोग होगा। सभी शास्त्र इस पर एक मत हैं। यह समुचित राजनीति भी है।"

"विद्यापति विद्वानों का सत्कार करेगा। एकशत, एक सहस्र, एक लक्ष से लेकर एक कोटि कार्षापण तक भेंट दे सकेगा। यह व्यय राजकोष से हो। राजकोष का अध्यक्ष इस कार्य के लिए नियुक्त हो, यह मेरी योजना है, अब आप अपने विचार बताइए!"

'योजना अच्छी है।' शकटार ने सिवाय संक्षिप्त, आवश्यक उत्तर के, एक शब्द भी अधिक न कहा। उत्तर में रहनेवाली उपेक्षा व्याकुल बनानेवाली थी।

'तो इस नवीन, दान-धन कोष के लिए कहिए, अब क्या करना है? अब ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो शेष है, नमक पर भी कर लग गया है। अब तो एक ही मार्ग बचा है!'

"कौन सा?"

"कर्षणं—सार्वजनिक संकट के लिए धनिकों से धन लेना।"

"सार्वजनिक संकट के बिना यह कर्षण! इससे तो मगधराज की निन्दा होगी, यह ठीक नहीं है!"

"तो आप ही बताइए!"

"मैं क्या बताऊँ? राक्षस अमात्य, इस विषय में योग्य हैं।"

"तब मैं बताऊँ?"

"बताइए!"

"फिर ना तो नहीं कहोगे न?...हमें तो विद्यापति का कोश बनाना है!"

शकटार फिर भी कुछ न बोला, और नन्दराज उसे अपलक दृष्टि से देखता रहा। कुछ देर बाद वह बोला :

"महाराज महानन्दी के समय का राजकोष गंगा में गुप्त है, कहा जाता है वह अनन्त है, यदि उसी का उपयोग इसमें करें तो? हम अमर बन जाएँ और आपकी यशोगाथा युग-युग तक स्थिर रहे। मगध का कलंक धुल जाए। अब तो उस राजकोष के उपयोग का समय आ गया है, गंगा मैया बहुत दिनों से सुरक्षित रखती आ रही है उसे!"

शकटार नीचे-ऊँचे कुछ न बोला। नन्दराज प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा में कुछ देर तो शान्त रहे, क्योंकि कोई शब्द न आया। चाणक्य चकित था इससे, राजा और मन्त्री के इस सम्बन्ध का कारण वह न जान सका।

चाणक्य एक कान होकर ध्यानावस्थित खड़ा रहा। वह तो भींत में समा जाना चाहता था, सारी बातें जानने के लिए। अब उसे बात की जड़ मिलती-सी लगी। उसका मन बाँसों उछलता रहा। इसी धन के मारे गर्विष्ट नन्दराज विनीत बना था, यह आभास हुआ। शंकटार को निभाने का यही कारण होना चाहिए। वह इस ओर अधिक जानने के लिए उतावला हो गया। आर्यमिश्र की बात सच्ची लगी। राजा शकटार को भूतल में दफना नहीं सकता, अपमानित भी नहीं कर सकता, निष्कासित भी नहीं कर सकता।

शकटार की मन्द आवाज सुनाई दी: "महाराज! आकाश-कुसुम की बातें पागल लोग करते हैं। किन्तु जब समझदार भी ऐसी बातें करते हैं तो देश का विनाश ही समझें। कोटानुकोटि सुवर्ण की बात ऐसी ही है। रघु महाराज के राज्य में सुवर्ण वृष्टि हुई थी, किन्तु वह तो रघु का राज्य था, और यह नन्दराज का है।"

'मन्त्रीश्वर!' नन्दराज की आवाज में कुछ तीक्ष्णता आ गई। वह कृत्रिमता का विशेष भार देर तक वहन न कर सका—'बाहर सेनापति भद्रशाल खड़े हैं!'

"अच्छी बात है! तो बुला लीजिए न उन्हें! मैं भी चिर-काल से उन्हें नहीं मिल सका हूँ। अरे वाचस....." किन्तु शकटार के दोनों हाथ ताली बजाते-बजाते रुक गए।

नन्दराज की आवाज तीक्ष्ण, तीव्र एवं सरोष बन गई: 'मन्त्रीश्वर! मेरा नाम धननन्द है। भूतल के पाताल में भी धन पर पड़ा रहना मुझे पसन्द नहीं। महाराज महानन्दी के समय का अतुलित सुवर्ण गंगा के गर्भ में संचित पड़ा है। अब तो केवल एकाकी तुम्हीं को उसका ज्ञान है। दूसरे जिस धीवर को उसका ज्ञान था, वह तो मर चुका है। मैं उसी धन के लिए आया हूँ आज! आपको अभी-अभी वहाँ चलना है, राजनौका प्रस्तुत है, बाहर सेनापति आपकी राह देख रहे हैं!' नन्द की आवाज में आदेश की प्रतिध्वनि थी। और राजादेश के उल्लंघन का दण्ड मृत्यु था। शब्द स्पष्ट थे।

किन्तु मंत्रीश्वर शकटार का कोई भी प्रत्युत्तर चाणक्य ने न सुना। वह मौन था।

'चलिए गुरुदेव!' नन्दराज के शब्दों में उपहासमय कटाक्ष था। कृत्रिम सम्मान उड़ चुका था।

'भणे शिष्य!' शकटार का शीतल उपहासभरा अग्नि के समान प्रत्युत्तर आया :

"तुम्हें एक छोटी-सी बात समझनी चाहिये। मनुष्य के पास मुद्रिका होती है, मुद्रिका के रत्न होते हैं, रत्न विषमय होते हैं, विष मनुष्य को अवाक् बना देता है। और लक्ष्मी भी अवाक् होती है। बात समझे? है न समझने लायक।" शकटार के शब्द स्पष्ट थे, इनमें भयंकर परिणाम की भयरेखा थी, "अब आप, बुलाना चाहें तो सेनापति को बुला लें। मैं प्रस्तुत हूँ। कहिए कहाँ चलना है? कारागार में क्या जलागार में?"

"भन्ते, मन्त्रीश्वर शकटार!" नन्दराज ठण्डा हो गया—"आपको इस हठाग्रह में क्या लाभ है? गंगोदक में सुवर्ण सुरक्षित रहे इससे तो यह ठीक है कि मगध का राजकोष उससे सजे?"

"भले राजन्! मैंने आपसे आकाशकुसुम की बात कही थी प्रथम, अब मैं खपुष्प की बात कहता हूँ। जिसका मूल ही नहीं है, उसका फल कभी किसी न देखा या सुना है?"

शकटार के शब्द द्विअर्थी थे; इन शब्दों में राजा का महान् अपमान भी था। हीन कुल को मिली, लक्ष्मी क्या फल देगी? इसकी ध्वनि तो उग्र बना देने वाली थी, किन्तु ऐसा उग्रता से स्वयं नन्दराज की हानि थी, यह जानकर, वह गम खाकर चुप हो गया। शान्ति से बोला :

"तो राजपिता का राजकोष नहीं बताओगे?"

"नहीं, जीवित रहते तो नहीं बताऊँगा।" शकटार ने सीधा, तीखा, निषेधात्मक उत्तर दिया।

"क्यों?"

"वैर कारण नहीं ढूँढता, तृप्ति ढूँढता है।"

"समझ गया, मैंने तुम्हारे पुत्र को मारा है, लोक की ऐसी किम्वदन्ती के शिकार हो गए हैं आप। किन्तु देव!" नन्दराज नम्र बन गया था। उसे लगा कि मन्त्री विषपान कर लेगा, पर कोष नहीं

बताएगा। कोष है ही नहीं, इसके स्थान पर इतना तो मान लिया है कि है तो सही, पर बताऊँगा नहीं। इतना मान लेना ही पर्याप्त था इस समय। मन्त्रीश्वर के मन की शंका दूर हो जाए तो, यह अभी पिघलेगा। नन्दराज इन विचारों से ठण्डा होता जा रहा था, और उसकी रोषपूर्ण आवाज भी मंद हो रही थी।

"मन्त्रीश्वर! मैं विश्वास करा दूँगा, शंका निवृत कर दूँगा। आपकी कल्पना आकाशकुसुम एवं खपुष्प से भी अधिक भ्रामक है, यह सिद्ध कर दूँ, तब तो आप मुझे अपना मानेंगे?"

"सत्य सुन्दर होता है राजन्! किन्तु सत्य निरा सत्य ही है और कुछ सत्य नहीं होता।"

"मैं आपको सत्य बता कर छोड़ूँगा!" शकटार जोर से हँसा! उसके हँसते ही नन्दराज भी जोर से हँस पड़ा। और हँसते-हँसते खड़ा हो गया। उसे ज्ञात हो गया कि इस समय मन्त्री पता नहीं देगा। कोटि-कोटि काञ्चन पाने के लिए गम खाना पड़ेगा।

यद्यपि आज नन्दराज को सफलता न मिली फिर भी विफलता को हँसते स्वीकार करने के सिवाय और चारा न था। उसने अपने चारों ओर आशा तन्तुओं से लटकते हुए सैकड़ों लोगों को देखा था, जो इस उद्धतता को आँख मीच कर पी जाते थे और हँसते रहते थे, इसी में मोद मानते थे। आज स्वयं नन्दराज इसी विफलता की स्थिति में था और शकटार आनन्द मान रहा था। किन्तु और दूसरा उपाय भी न था।

जब नन्दराज चलने लगा तो उसके शब्दों में विनयशीलता उभरी थी। "तो मन्त्रीश्वर! मैं जाऊँ! और बहुत से काम हैं मुझे।"

"सिधारिए महाराज! अनेक कार्य जिसके कारण बिगड़ते हों, ऐसा आपका महान् भाग्य उत्तरोत्तर समृद्ध हो।"

नन्दराज के जाते ही मन्त्रीश्वर ने चाणक्य को याद किया कि यह कहाँ चला गया होगा? वह सोच ही रहा था कि चाणक्य सामने आ धमका।

शकटार पूछना ही चाहता था कि चाणक्य से कि राजा के साथ हुई उसकी बातें सुनी हैं कि इतने में सामने से वाचस्पति एक यवनी दासी के साथ आता हुआ दिखलायी दिया।

"प्रभो! महादेवी स्वयं ही आचार्य विष्णुगुप्त से मिलना चाहती हैं। इनके तक्षशिला से आने की सूचना उन्हें मिल चुकी है। यह यवनी दासी शिविका लेकर आयी है।"

शकटार ने चाणक्य की ओर देखा। अब तो कुछ भी कहने का समय न था, शकटार को चाणक्य में महान् धुरन्धर, राजनीतिज्ञ पुरुष की शक्ति नजर आई थी। दो पल में ही आचार्य ने विश्वास दिला दिया। उन्हें महादेवी की बात बताई जा चुकी थी। चाणक्य में समयानुसार पलटने की अद्‌भुत शक्ति भी थी। आचार्य शकटार को ग्रंथ सौंप कर यवनी के साथ सुवर्णशिविका में बैठकर राजप्रासाद की ओर चल दिया।, इस शिविका को देखकर ही आचार्य महादेवी के मन की थाह पा चुका था।

शकटार के शब्द आचार्य को याद रहे थे। नन्दराज के घर में उद्‌भूत गृहकलह को अधिकाधिक बढ़ाते रहना ही शकटार की योजना थी।

आचार्य को इस योजना में सम्मिलित होना था, अमात्य राक्षस से अभी तक ये मिले न थे, किन्तु शकटार की बातें से लग रहा था—जाने कब राक्षस बुलबुलों की भाँति इस योजना को तोड़ देगा, यह भय तो इसमें था ही। आर्यमिश्र के मन में भी यह विद्यमान था। आचार्य को विशेष सावधानी में ही सुरक्षा दीख रही थी।

थोड़ी देर में आचार्य, नन्दराज के महा विशाल, उत्तुंग महल के द्वार के सामने आकर खड़ा हो गया।

१३

सुगंग-प्रासाद

शोण नदी का नाम हिरण्यवती भी था, गंगा एवं शोण के संगम पर बसे हुए नन्दराज के सुगंग-प्रासाद को, जब चाणक्य ने द्वार पर खड़े होकर देखा तो उनके कानों में मन्त्रीश्वर शकटार एवं नन्दराज के सम्वाद शब्द अभी तक गूंज रहे थे। आचार्य को ध्वनित हुआ कि इस नदी को, हो न हो हिरण्य-सुवर्ण के कारण ही हिरण्यवती कहते है! नन्दराज ने अपना नौ सौ निन्नानपवें कोटि मूल्य का सोना इसमें

छिपा रखा है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु वह सोना नदी में कहाँ हो सकता है?

आचार्य की दृष्टि में शोण नदी की एक उपशाखा महालय के बिल्कुल समीप से बहती हुई आई है। इसके स्वच्छ सलिल में सरोज हँस रहे थे, सुनहरी-रूपहरी मछलियाँ खेल रही थीं, यह जल महल के निकट बहकर द्वार के करीब ही नीचे अटकता हुआ लग रहा था। वहाँ से यह नीचे कहाँ जाता था, अथवा भू-गर्भ में जाता था, या कुछ आगे, पत्थरों की बंधी दीवार में होकर बहता था, या महल के नीचे-नीचे बह कर बाद में गंगा में मिल जाता था! अथवा इसका क्या होता था, इसे न तो कोई जानता ही थी, न कह ही सकता था।

आचार्य सोचने लगे कि हिरण्यवती की इस शाखा में ही, कहीं न कहीं नन्दराज की विपुल वैभवराशि छिपी होगी।

वे मन्त्रीश्वर के विषय में सोचने लगे। शकटार ने या तो आंतरिक संघर्ष की भीषण ज्वाला जला दी है अथवा जलाने की तैयारी में है। आर्यमिश्र को इसने विष कन्या के पालन पोषण के लिए तैयार किया होगा और वैशाली में ही भयंकर शस्त्र तैयार हो रहा है।

और यहां पर भी मन्त्रीश्वर ने महारानी सुनन्दा महादेवी को अपनी योजना के लिए तैयार किया है। मन्त्रीश्वर शकटार ने महादेवी में उसके मूल जन्म स्थान एवं उसके कुल क्रमागत संस्कारों को प्रगट किया था। तभी तो वह अपने आठों राजपुत्रों को संस्कार प्रदान कराना चाहती थी। महादेवी के मन में इस बर्बर एवं वन्य जैसे धनलुब्ध राजा को अपना शरीर सौंप देने का, अब पश्चात्ताप होना चाहिये। आचार्य को जो आज सुगंग प्रासाद देखने का अवसर मिला है, इसमें पूर्वोक्त राजनीति ही काम कर रही थी।

चाणक्य इन बातों को दीपक के समान सुस्पष्ट देख रहे थे। किन्तु इसके परिणाम की किसी को क्या खबर थी? चाणक्य गोपुर पर खड़े-खड़े विचार में पड़ गये। धननन्द की धनलिप्सा ही इस स्थिति का कारण थी। धननन्द इस बात को जानता था, किन्तु उसकी स्थिति उस बिल्ली-जैसी थी, जिसे दूध तो नजर आता किन्तु लाठी नहीं दीखती है। ऐसी मानसिक परवशता नन्द को दबाये थी। वह अपने पिता महानन्दी के कोटानुकोटि धन—कितना कोटि था, यह

कोई नहीं कह सकता था, ऐसे सोने को हस्तगत करने के लालच में शकटार मन्त्रीश्वर को दुलरा रहा था। नन्द का सारा अभिमान तो सुवर्ण कोष के लोभ पर न्योछावर हो चुका था। और मंत्रीश्वर शकटार इसी कारण जान बूझ कर नन्द को भरमा रहा था।

आचार्य समझ रहे थे कि वह ठीक समय आए हैं। अतः वे सुनन्दा महारानी से मिलने के लिए आतुर हो रहे थे।

थोड़ी देर में ही यवनी आती हुई नजर आई। उसने आचार्य को प्रणाम किया—'आचार्य देव! महादेवी आपके दर्शन करना चाहती हैं। आपको यह गोपा महादेवी के निकट ले जाएगी। गोपा! आचार्यदेव को महादेवी के पास ले जा। महादेवी की यह आज्ञा है।'

प्रत्युत्तर के बदले सुन्दरी युवती दासी आचार्य को नमस्कार करके सामने खड़ी हो गई।

चाणक्य दासी के साथ चलने को प्रस्तुत हुए। उन्होंने द्वार लाँघकर अपने सामने सुगंग-प्रासाद के स्फटिक धवल सोपान को देखा।

वे साश्चर्य आगे बढ़े! आचार्य जैसे-जैसे आगे बढ़ते गए, वैसे-वैसे महल की अपार शोभा देखकर हैरान होते रहे। गवाक्षों में बाहर दृष्टिपात करने पर उन्होंने वनस्पतियों की रंग-बिरंगी लीला देखी। वनस्पतियों के सन्दुर सुमनों की सुगन्धि यहाँ अन्तःशाला में भी आ रही थी। वे गोपा के पीछे-पीछे बढ़ते जा रहे थे।

गोपा एक विशाल खण्ड के पास आकर रुक गयी। वहाँ चारों ओर खुदाई की सुनहरी जालियाँ लगी थीं। उनमें से चारों ओर का दृश्य दीखता था। गंगा और शोण की जलधाराएँ दीखती थीं। गोपा ने दोनों हाथ जोड़कर कहा—'आचार्यदेव! अब कुम्भदासी आयेगी। आपके लिये जल लायेगी। आप सीधे आगे बढ़ जाइये, सामने खण्ड में सज्जा-कक्ष है, उसके सन्निकट ही मंत्रणा-कक्ष है। महारानी महादेवी की बैठक की ओर का मार्ग दर्शाने के लिए, वहाँ पर अभ्यागारिक (रनिवास का निरीक्षक अधिकारी) खड़ा होगा!'

इतना कहकर वह चली गयी। चाणक्य ने देखा कि सामने ही एक कुम्भदासी सुवर्ण-रजत कुम्भ में उनके लिए जल लेकर खड़ी है।

चाणक्य सामान्य विधि से निबटे तो जल-कुम्भदासी ने ही उन्हें सामने के सज्जाकक्ष की ओर संकेत किया। चाणक्य को विशेष सज्जा

की आवश्यकता तो थी ही नहीं, अतः शृंगार-सज्जाकक्ष में वे अभ्यागारिक की प्रतीक्षा में बैठे रहे।

थोड़ी ही देर में एक किरात-जैसा बौना मनुष्य सामने दीखा। 'यह अभ्यागारिक?' उसे देखकर चाणक्य ठगे-से रह गये। उनकी समझ में कुछ न आया। पहले लगा कि यहाँ बुलाकर परिहास किया गया है। यह छोकरा-व्यक्ति इसलिए आया लगता है। किन्तु जब उन्होंने उसके परिधान की ओर देखा तो, अधिकारी के समस्त वेष्टनों से वेष्टित पाया। वह बड़ी गम्भीरता से आचार्य की ओर बढ़ रहा था।

ये वामन माशय अधेड़ थे, मूँछें भी थी। दोनों हाथ जोड़कर आचार्य के सामने वह खड़ा रहा। अब तो शंका दूर हो चुकी थी कि यह आगन्तुक कौन है? वामन महाशय के डील-डौल को देखकर चाणक्य आश्चर्य-चकित हो गये, वामन का कद्रूप मोटापा किसी भी प्रकार से उच्चता के साथ मेल न खाता था। शरीर पर पहने वस्त्रों का भी इस प्रदर्शन के साथ मेल न बैठता था। इसकी मोतियों की माला तो ऐसे लग रही थी, जैसे अभी-अभी रो पड़ेगी! चाणक्य ने चारों ओर दृष्टि फैलाई तो वहाँ सज्जाकक्ष की भित्तियाँ भी रजत दर्पण में पड़ती हुई, वामन की शरीर छाया का उपहास कर रही थीं!

इस अभ्यागारिक को देखते ही महा पद्मनन्द के अपार धन का, ध्यान चाणक्य को हो आ गया। नन्द का यह धन यहाँ पर लक्ष्मी रूप में, किसी परम सुन्दरी के रूप में, सौन्दर्यमयी समुद्रसुता के रूप में बसा न था। सोने की विशालकाय शिलाओं की शिलाएँ, यहाँ पर बिना कारण, बिना आनन्द, बिना आह्लाद, केवल 'एकत्र करो' के कोलाहल के साथ, मानो धरती से खोदकर यहाँ पटक दी हों। ऐसा था इस धननन्द का धन! सुगंग प्रासाद की शोभा का आर-पार न था। जहाँ भी दृष्टि जाती, वहीं स्थान-स्थान पर सोने के स्तम्भों पर भूषण के रूप में चाँदी के कमल ही कमल दृष्टिगोचर होते थे। परन्तु लगता था, वैभव का प्रत्यक्ष परिहास कर रहा है यह वामन! मुश्किल से एक गज का यह आदमी, नन्द के परम सौन्दर्यशाली रनिवास का वरिष्ठ अधिकारी था! ऐसे सुन्दर अभ्यागारिक का क्या नाम? ऐसा कुतूहल उनके मन में उठा। पूछा :

"मैं महारानी महादेवी के किस नामधन्य अभ्यागारिक को देख रहा हूँ, भन्ते?"

"भन्ते ब्राह्मणदेव! मुझे सुशोभन कहते हैं!"

'हाँ'—सुनते ही चाणक्य मन से हँसे। ऐसे 'कुशोभन' का 'सुशोभन' नाम रखने वाली बुआ का सिर तोड़ने की इच्छा—आचार्य के मन में उत्पन्न हो गयी। किन्तु सुशोभन उन्हें आगे चलने की प्रार्थना कर रहा था। अब आचार्य अभ्यागारिक के साथ आगे बढ़े।

सुशोभन आचार्य को उप-स्थानकक्ष में छोड़कर महादेवी के पास कुछ पूछने के लिए आगे बढ़ गया।

चाणक्य ने उप-स्थानकक्ष में देखा तो वहाँ पर अब भी अनेक आश्चर्यकारी पदार्थ विद्यमान थे।

स्वर्ग को लजानेवाली अनन्त सम्पदा के दर्शन हो रहे थे!

आचार्य देखने को देखते रहे, पर उन्हें विश्वास न हुआ! आचार्य ने अनेकानेक पर्वतेश्वरों के महल देखे। स्वयं अम्भिनरेश राजप्रासाद देखा था। पर वे सब इसके सामने तुच्छ लग रहे थे।

इस कक्ष में चाणक्य ने देश-विदेश के पक्षियों को सुनहरे पिंजरों में बंद देखा। एक स्थान पर एक अत्यन्त सुन्दर, हरे रंग का पक्षी मोतियों के छोटे से झूले में बैठा-बैठा झूल रहा था और बीच-बीच में अपनी सुरीली तान छोड़ रहा था। उसकी तान छिड़ती थी कि समस्त-कक्ष में संगीतलहरी पुतली-सी नाचती-गाती प्रतीत होती थी।

आचार्य पक्षी को देखते रह गये। और यह सोचना भी न भूले कि यह कितना भयंकर हो सकता है?

स्फटिक स्तम्भों के ऊपर सुवर्णमय कमलों की बेलें लटक रही थीं। प्रत्येक बेल पर चाँदी के पक्षी विराजमान थे। इनके पंखों को रत्नों की धाराएँ प्रज्वलित कर रही थीं। एक ओर कोने में स्फटिक के स्तम्भ पर एक मनोहर मयूर नृत्य करता-करता जाने थम गया था। दर्शक को जब ज्ञात होता था कि ये कृतियाँ तो सोने और चाँदी से बनी हैं तो उनके आश्चर्य का क्या अंत आता होगा?

ऊपरी छत की ओर दृष्टि दौड़ाई तो देश-देश के बहुरंगी पक्षियों को देखकर वे चकित हो गए। इनमें चीन, काश्मीर, लंका, गान्धार, ताम्रलिप्ति के पक्षी थे, ऐसा लगता था कि यह स्वयं इन कलामय पक्षियों की देख-भाल करने वाला द्वारपाल है, जो शान्त बैठा हुआ

है। जब एकाध पक्षी सुरीली तान छेड़ता था तो अन्य सब पक्षी थोड़ा-सा नृत्य करके एक प्रकार का आनन्द प्रकट करते थे।

चाणक्य को इस बात से बड़ा आश्चर्य हुआ कि यहाँ पर वैभव की इतनी प्रचुरता है तो भी महादेवी के समान कोई दुखिया यहाँ पर नहीं है। चाणक्य ने बाहर दृष्टि डाली। वहाँ आगे-पीछे और चारों ओर के भागों में असंख्य दास खड़े थे, एक वृद्ध तो पूरा झुक गया, लगता था कि उसका शरीर सर्वथा निर्बल हो गया होगा, तो भी उसकी आँखों में उपहास, अवहेलना एवं निन्दा का भार भरा हुआ था। शायद यही है इसकी कला! शायद सब सर्वथा कुरूप थे। अनेक कुबड़े थे। कई चाणक्य के देखे हुए वामन से भी अधिक वामन थे! दो-तीन मूक थे, वे केवल संकेतों से अपनी बातें किया करते थे। एक कोने में खड़ा हुआ एक व्यक्ति सर्वथा जड़ दीखता था। किन्तु वह सब की नकल करने में बड़ा कमाल दिखा रहा था, क्योंकि वह जिस शब्द को सुनता था, वैसा ही शब्द उसी ध्वनि में बोल देता था।

समुद्रसुता लक्ष्मी का यह महान् परिहास था। मगधदेश की महारानी महादवी के वैभव भरे आवास की यह रचना देखकर चाणक्य सन्न रह गए। वे सोचते रहे कि महादेवी ने उन्हें क्यों बुलाया है और वे इस स्थिति में क्या कर सकते हैं? आचार्य के सामने यह समस्या उलझ पड़ी थी।

इतने में आचार्य ने एक ओर के द्वार से दो-तीन सहस्त्र युवतियों को आते देखा। वे समझ गए, मगध की महारानी सुनन्दा पधार रही हैं। वे सावधान हो गए। तभी आचार्य की नजर एक सुन्दर, सुनहरी, तेजस्विनी महिला पर पड़ी। प्रौढ़ होने पर भी वह आकर्षक थी। उसमें गर्व एवं गौरव दोनों थे। यही थी मगध साम्राज्ञी महादेवी 'सुनन्दा'।

१४

मगध की महारानी

महारानी ने कक्ष में प्रवेश किया। उसे देखते ही पिंजरे में बंद पक्षियों ने आनन्द-कल्लोल प्रदर्शित किया! सुरीली तान छेड़कर, मधुर शब्द गाकर, स्वागत किया। कई नाच उठे, जिस पक्षी को कुछ भी

नहीं आता था, उसने भी महारानी के आगमन-उपलक्ष में पिंजरे में ही उछल-कूद कर थोड़े फड़फड़ा कर महारानी की आवभगत की।

किन्तु ये सब के सब हृदयहीन यान्त्रिक कलाप थे—एक ही प्रकार के! सदा एक ही आवाज से घबराई महारानी, क्षण भर उन पक्षियों को देखकर, आगे बढ़ गईं। सशस्त्र यवनियाँ बाहर ही, द्वार पर तलवार झुकाए खड़ी रह गईं। महारानी कक्ष के मध्य में रक्त चन्दन के एक सुवर्णखचित सुखासन पर विराजमान हो गईं। चारों ओर दीपों से इस समय प्रकाश के बदले परिमल के झोंके आ रहे थे और पवन को मादक सुगन्ध से भर रहे थे। उसकी बराबरी में ही सुकोमल स्फटिक शिला पर एक सुन्दरी की शिल्पकृति खड़ी थी। उसने अपने आधार पर अपने हाथ में एक काञ्चन-कलश पकड़ रखा था। महारानी के आसनासीन होते ही उस कलश में से निर्मल-धवल नीर प्रवाहित होने लगा। समीपवर्ती एक सुन्दर कुण्ड में यह जलधारा गिर रही थी। इस स्फटिक कुण्ड में विविध रंगों की मछलियाँ खेल रही थीं, खण्ड में चारों अनेक प्रकार की शोभा थी। एक स्थान पर, दीवार में जड़े रत्नदीप आलोक दे रहे थे। महादेवी की आज्ञा पालन के लिए कक्ष से बाहर दास-दासियों का समूह खड़ा था, महारानी ने चारों ओर दृष्टि डाली, किन्तु ऐसा लग रहा था, जैसे वह इन सुवर्ण पिंजरों से घबरा उठी हैं! तब वे यों बोली—'गोपा! ऐ गोपा! कहाँ है यवनी?'

"महारानी माँ ! वह बाहर द्वार पर है, बुलाऊँ?" यवनी ने तलवार झुकाकर प्रत्युत्तर दिया।

'अच्छा, अभी रहने दो' इतना कहकर सम्राज्ञी ने दोनों हाथ जोड़कर आचार्य को वन्दन किया। और कहा—'आचार्य देव! आप समीप आ जाइए! उस स्फटिक आसन पर बिराजिए। आप क्या तक्षशिला से आ रहे हैं?'

आचार्य विष्णुगुप्त आगे गए। उन्हें महारानी के निकट बैठने पर ज्ञात हुआ कि जैसे किसी संस्कृत मन को यहाँ बन्द कर दिया गया है। और अब वह प्रकट होना चाहता है। महारानी की समस्त मुख-मुद्रा मनोहर और लावण्यमयी थी। रानी का रूप आकर्षक तो न था, तो भी गौरवशाली और दर्पपूर्ण था, परन्तु विकलता और मनोव्यथा की छाया उस मुख पर चमक रही थी, जिसे आचार्य ने देखा।

व्याकुलता महारानी के आंखों में थी, निगाह में थी, आकृति में थी। और स्वर में भी उसी व्याकुलता का प्रतिबिम्ब झलकता था, इसी कारण उसके नयनों में कटुता प्रकट हो रही थी। परन्तु यह असाधारण असन्तोष था, इसमें दैन्य न था, निराशा न थी, इसमें तो किसी संस्कृत मानव की अतृप्त मनोदशा किसी उन्नत वायुमण्डल को छूने की कोशिश करती हुई प्रतिभासित हो रही थी।

लगता था कि जैसे वह देर कर चुकी है, और कोई संस्कृत कार्य करना रह गया है, ऐसा था यह असन्तोष! आचार्य को पता चल रहा था कि संस्कारों को जागृत करके मंत्रीश्वर शकटार महारानी को निर्देशन दे रहा था। फलतः मगधराज के घर में अन्दर्द्वन्द्व प्रकटाने वाले शकटार के लिए आचार्य के मन में मान हो गया।

आचार्य ने हाथ जोड़कर प्रति-वचन दिया : "हाँ, महाराज्ञी! मैं तक्षशिला से आया हूँ!"

"हमने समय-समय पर प्रसिद्ध आचार्य विष्णुगुप्त का जो नाम सुना है, वह आप ही हैं?"

"महादेवी! मैं ही चणकात्मज विष्णुगुप्त आचार्य हूँ।"

"आचार्यवर! यहाँ पर आपके शुभागमन से मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है। मैं आपको एक विशिष्ट कार्य सौंपना चाहती हूँ।"

"महाराज्ञी माँ! यह मेरा परम सौभाग्य है कि मैं आपका श्रद्धाभाजन हो सका हूँ, यह विपत्ति मेरे लिए इष्टापत्ति हो रही है!"

"भन्ते आचार्य! पहले आप यहाँ के वातावरण के बारे में कुछ सुन लीजिए। आपने मगधराज के इन पक्षियों को देखा है?"

आचार्य समझते थे, परन्तु उन्होंने और ही ढंग से बातें की : "हाँ, महारानी! मैं यही देख रहा हूँ कि कहाँ-कहाँ के पक्षी आये हैं यहाँ पर, और कैसा आनन्द कर रहे हैं। कुछ तो ठेठ काश्मीर के हैं!"

"किन्तु ये दासता कर रहे हैं, ऐसा कहिए न भन्ते आचार्य! इन्होंने अपना नैसर्गिक आनन्द खो दिया है। यहाँ का सुवर्ण इन्हें कैसे आनन्द दे सकता है? सुवर्ण पक्षियों के किस काम का है? इन्हें तो और ही सुवर्ण चाहिये। मानव ने काञ्चन को महत्त्व प्रदान किया और काञ्चन ने मानव को लघुत्व प्रदान किया। यहाँ पर तो सुवर्ण केवल एक ही व्यक्ति को आनन्द दे रहा है, अथवा आनन्द तो क्या लोलुपता बढ़ा रहा है!"

चाणक्य सम्प्रति महारानी का मन पढ़ रहे थे। इतनी शीघ्रता में इस रहस्य के प्रकट होने का यही भाव था कि कटुता ऊपर तक भर गयी है कि अब वह प्रकाशन चाह रही है। आश्चर्य भी हुआ आचार्य को, महारानी की इतनी स्पष्टता पर और शंका भी! मगध का राजमहल आन्तरिक कलह से परिपूर्ण ज्ञात हो रहा था। अभी तक सम्राज्ञी ने अपना कार्य कहा न था, अतः चाणक्य महाराज्ञी के कथन की प्रतीक्षा करने लगे।

"भन्ते आचार्य! मैं भी यहाँ के सुवर्ण-पिञ्जर में बैठी हूँ। मैं तो मरी सो मरी, परन्तु मैं अब अपने बच्चों का इस सुवर्ण-पिञ्जर में और इस हवा में कैद कराना नहीं चाहती। मैं महाराज की देवी हूँ, दारा नहीं हूँ, अब मैं स्वतन्त्र रूप से अपने संस्कार प्रकाशित करना चाहती हूँ। मैं अब तक बहुत सहती रही हूँ, आगे नहीं सहूँगी। न ही मैं लुक-छिप कर ही कुछ करना चाहती हूँ, परन्तु सुनिये, महाराज धननन्द की अनेक दाराएँ बहिर प्रदेश में हैं। किन्तु वे सब तो दाराएँ मात्र हैं, देवी तो मैं ही हूँ एकाकिनी, मेरे ही पुत्र इस महान् साम्राज्य के भावी स्वामी हैं! अतएव मैं अपने पुत्रों का निर्माण करना चाहती हूँ। मैंने महाराज से भी कह दिया है, मैं तो पाटलिपुत्र में तक्षशिला का वायुमण्डल चाहती हूँ। महाराज इसे न तो चाहते ही हैं, न ही वे चाहेंगे ही, तो भी उनका अवरोध अब नहीं टिकेगा। मेरे ये पुत्र हैं, ये आठों के आठ पृथक्-पृथक् भावना प्रकट कर रहे हैं, मैं इन्हें बदलना चाहती हूँ।"

"कौन-सी पृथक्-पृथक् भावना महादेवी?"

महारानी ने रुखाई से कहा:

"बर्बरता, निरी अनार्यता, क्षुद्रता। जो इनके पिता में है, जो पितामह में थी। किन्तु जो मेरे कौटुम्बिक दायभाग में कभी न थी, ऐसी क्षुद्रता की भावना है इन आठों राजपुत्रों में! ऐसा एक भी नहीं है जिसमें यह न हो! ज्येष्ठ पुत्र में सर्वाधिक है, तो कनिष्ठ कहीं कम नहीं है, पूर्वोक्त दुष्टभावना को दूर कराने के लिये मुझे तक्षशिला के विख्यात विद्वान् आचार्य विष्णुगुप्त का सहारा चाहिये था कि इतने में तो भन्ते आचार्य! आप ही स्वयं पधार गये अकस्मात्। मेरी दासियाँ सर्वदा पथिकाराम में इसी खोज में जाती थीं, मुझे आपके शुभागमन

के समाचार से प्रसन्नता हुई है। आप ग्रंथ-परीक्षण के लिए आये हैं, क्यों? आपके प्रभाव से ये राजकुमार वास्तविकरूप से राजकुमार बनेंगे। महान् मगधराज्य स्थिर बनेगा, यहाँ पर पृथ्वी के स्वर्ग की सृष्टि होगी, आप में ऐसा करने की शक्ति है। आपके विषय में मैंने बहुत कुछ सुना है। आपने मृतकों में जीवन का संचार किया है, आपने तक्षशिला का वातावरण बदल दिया है, आपने राजनीति का निर्माण किया है, आपको मैं अपने राजकुमारों का आचार्य बनाना चाहती हूँ। अपने पुत्रों को आपके चरणों में समर्पित करना चाहती हूँ, बोलिये, आप इस भार को वहन करेंगे?''

महारानी की बात सुनकर आचार्य स्तब्ध रह गये, क्योंकि नन्द के फन्द से विषय में बहुत-सी बातें सुन रखी थी। यहाँ के गूढ़ पुरुषों के विषय में, अतः घड़ी भर तो वे, क्या प्रत्युत्तर दूँ, यही सोचते रह गये।

महाराज्ञी अन्ततः थी तो महा पद्मनन्द की ही पत्नी न! आचार्य ऐसी प्रत्येक युक्ति को जानते थे कि जिससे शंकाशील व्यक्ति का भेद खुले! यह भी ऐसी ही कोई युक्ति हुई तो? महाराज्ञी के द्वारा बात जानने की योजना हुई तो? आचार्य के मन में पूर्वोक्त विषकन्या की मूर्ति उतर आयी। समस्त नन्द-वंश के निकन्दन के लिए जिस भयंकर विषकन्या की सृष्टि हो रही थी, यदि उसकी खबर अमात्य राक्षस को होगी तो निस्सन्देह उसे आचार्य के वैशाली-वास का भी पता होगा। उसे चन्द्रगुप्त के विषय में भी ज्ञान होगा, चन्द्रगुप्त की माँ के विषय में भी मालूम होगा, सम्भव है कि उसी के पाटलिपुत्र आगमन का हेतु जानने की यह नव-योजना हो। यहाँ के वातावरण में सब कुछ सम्भव है। अतः आचार्य कुछ न बोले और शान्त बैठे रहे। वे तो बार-बार लटकते हुए पिञ्जरों में बैठे विहगों को, देख रहे थे।

'आपको भय लग रहा है भन्ते आचार्य? ये पक्षी सारी बातें कह देंगे, पर मैं भय से दूर हो गयी हूँ। ये सभी पक्षी महाराज के आते ही क्रमशः सब बातें कहने वाले हैं, जैसे छात्र श्लोक रटते हों किन्तु मैं मगध की सम्राज्ञी आप से यह कह रही हूँ, मैंने भय छोड़ दिया है, मन्त्रीश्वर शकटार ने भय छोड़ दिया है, आप भी भय छोड़ दें, राजपुत्र महाराज के हैं, पर मैं उन्हें योग्य बनाना चाहती हूँ। महाराज

भी जानते हैं कि मगध का राज्य उन्हीं का है। वे इस बात से परिचित हैं। राज्य की दो शक्तियाँ हैं, दण्ड और कोश। दण्ड का हमें भय नहीं है, हमें दण्ड देकर महाराज क्या करेंगे? किसे वारसा देंगे। ऐसा और कौन है? जो कोई भी है तो यहीं हैं, और स्वयं इस साम्राज्य का कब तक रख सकेंगे वे? वे तो यह समझते हैं कि वृद्धावस्था नहीं आयेगी। रासायनिकों ने महाराज को भ्रम में डाल दिया है। किन्तु यह भ्रम तो भ्रम ही रहेगा। अबेर-सबेर महाराज इन्हीं राजपुत्रों को सत्ता सौंपेंगे। हमें दण्ड देकर उन्हीं को रोना पड़ेगा, तभी तो मैं दण्ड से नहीं डरती, और रही महाराज के कोश की शक्ति, उसके लिए सब, वर्षों से श्रम कर रहे हैं, पर सफलता के दर्शन नहीं हुए। अमात्य राक्षस जैसे भी थक गये हैं। महाराज के उस कोश की कोई सीमा नहीं है, जो मन्त्रीश्वर शकटार के पास में है, ऐसा सुना जाता है। किन्तु मन्त्रीवर उस कोश को बताने से इन्कार करता है, बिना बताये कोश मिलने से रहा। हाँ, कभी शकटार मन्त्रीश्वर मगध को सुसभ्य देखे तो शकटार मन्त्रीश्वर के द्रवित होने की सम्भावना अवश्य है। महाराज उनका क्या बिगाड़ सकते हैं? आप उसी को डरा धमका सकते हैं जिस मृत्यु का भय हो! पर जिसे मृत्यु का भय ही न हो, उसका क्या हो? या तो शकटार को साधो या कोष से हाथ धो बैठो।'

अब आचार्य के मन में पूर्ण-प्रकाश पूर्वक सारी बातें ध्यान में आ गईं।

मगध सम्राट् कोटानुकोटि धन की आशा से ही यह सब चलने दे रहा था। आशा ने ही इतने सबल को निर्बल बना दिया था, और इसी कोटानुकोटि कोश की आशा में महादेवी इतनी निर्भयता बता रही थीं।

शकटार की योजना में महादेवी शामिल थीं। वह स्वयं भी इसमें जुड़ जाये तो अन्त में उसे हानि होगी या लाभ, इतना जानना तो कठिन था, और इतना जान लेने पर भी सावधान रहना चाहिए। यह नन्द की नगरी थी, आचार्य ने हाथ जोड़ कर कहा : 'महादेवी! मानव में शक्ति का प्रादुर्भाव तो हमारे लिए महोत्सव के तुल्य है। आपके लिए तो यह है ही। मैं तो ब्राह्मण हूँ, मुझे तो किसी की भी

विकासशील शक्ति के दर्शन में अहोभाग्य के दर्शन होते हैं। आप से मैं और क्या कह सकता हूँ? मैं आपका विश्वास निभा सकूँ, बस इतना पर्याप्त है। आप राजकुमारों से परिचय करा दीजिये, फिर मैं विशेष कुछ कह सकूंगा।'

महादेवी ने निकटवर्ती काँस्य घण्ट पर रजत दण्ड मारा कि तुरन्त ही एक सेविका उपस्थित हो गई।

'राजकुमारों को यहाँ लाओ!' महादेवी ने आदेश दिया।

दासी गोपा दौड़ कर उद्यान में गई, वहाँ पर राजपुत्र एक सरोवर के समीप ही मत्स्य क्रीड़ा में मग्न थे, दासी गोपा ने उनसे चाणक्य का वर्णन किया, इनकी विरूप मुखमुद्रा को शब्दों का आकार देते ही राजकुमार हँस पड़े। राजपुत्रों ने प्रत्युत्तर दिया : 'माता जी से कहो कि हम यहाँ सरोवर में कितनी मछलियाँ हैं, इसकी गणना कर रहे हैं। आचार्य को यहीं पर भेज दें, उनका गणित ज्ञान भी उपयोग में आ जायेगा?'

गोपा से राजकुमारों का प्रत्युत्तर सुनकर महारानी का मन खट्टा हो गया।

१५
नौ नन्द

महादेवी सुनन्दा स्वयमेव उद्यान में जाने के लिए प्रस्तुत हो गई। इसके हृदय में राजपुत्रों का वचन चुभ गया था। यहाँ के वातावरण में ऐसा प्रत्युत्तर शक्य था। इसी दूषित वातावरण के सुधार के लिए तो महादेवी आकाश-पाताल एक कर रही थी। आचार्य विष्णुगुप्त को भी यहीं बैठे-बैठे, राजकुमारों की मूर्खता भरी उद्धतता का परिचय मिल गया था।

महारानी तुरन्त खड़ी हो गई। सशस्त्र यवनियाँ महादेवी के आगे-आगे चलीं। चाणक्य महादेवरी के पीछे-पीछे चला। स्थान-स्थान पर रखे सैनिक एवं द्वारपाल साश्चर्य महादेवी को जाते हुए देखते रहे।

किन्तु, अब तो ये सब राज कर्मचारी महारानी का व्यवहार जान चुके थे, प्रायः महारानी राजकीय प्रथाओं को एक ओर छोड़ देती

थी। श्री अध्यक्ष महामात्र (रनिवास मुख्य अध्यक्ष) और अमात्य राक्षस भी इस ओर चुप थे।

महारानी झपट कर नीचे उतरी, चाणक्य को सम्राज्ञी के साथ चलने में कठिनाई पड़ रही थी। तो भी आचार्य तुरन्त पीछे हो लिए। नीचे आते ही महारानी ने वस्त्र के संकेत से सभी यवनियों को वहीं रुकने का संकेत कर दिया। महादेवी को देखते ही एक पार्श्व से शिविका वाहक दौड़ आए, उन्हें भी दृष्टि-मात्र से वहीं रुके रहने की आज्ञा देकर, महारानी एकाकिनी आगे आने का संकेत किया। सब लोग इधर दृश्य को अचरज से देख रहे थे। आचार्य एक विशाल द्वार से उद्यान की ओर चले।

आचार्य ने भली प्रकार देख लिया कि यहाँ पर आन्तर विग्रह के बीज बोये जा चुके हैं। पर अभी तक यह समझना कठिन था कि वे इसमें कौन सा अभिनय करें। किन्तु यह विग्रहं सफल हो गया तो महाराज नन्द को अत्यन्त सरलता से विजित किया जा सकता है। और अधिक नहीं तो कम से कम यहाँ पर जिस संस्कारशून्यता का स्वच्छन्द साम्राज्य चल रहा है उस पर तो अंकुश हो ही जाएगा। महारानी के कदम इस ओर बढ़ रहे हैं। परन्तु अमात्य राक्षस इस संघर्ष को कब तक चलने देगा, यह देखना पड़ेगा। वक्रनास का नाम हीं सुना था। भद्रशाल महा-सेनापति, जिसकी एकनिष्ठ राजभक्ति को देखकर शत्रुओं के हृदय में भी, उसके लिए सम्मान घर कर गया था, इन तीनों में से कोई भी एक चाहे तो इस योजना को स्थगित कर दे, और महाराज्ञी कुछ भी न कर सके।

महादेवी सुनन्दा एकाकिनी उपवन में आगे बढ़ी। आचार्य विष्णुगुप्त भी उसके साथ, उतावली में चल रहा था।

महा पद्मनन्द के वैभव का ध्यान तो इस राजोद्यान को देखते ही आ रहा था। चाणक्य ने यहाँ आरस और स्फटिक के स्तम्भों पर सुवर्ण प्रतिमाएं देखीं। एक भी स्थल ऐसा न था, जिसे किसी न किसी रूप में आकर्षक न बनाया गया हो। उद्यान में निगाह डालते ही सामने की सीमा का पता ही न चलता था। यह इतना विशाल लग रहा था कि एक व्यक्ति दिन भर भी फिरे तो यह सन्तोष न कर सकेगा कि उसने सारा उद्यान देख लिया है।

यह उपवन गंगा एवं शोण के जलों को छूता था। बीच-बीच में श्यामल मैदान थे, वन-कुंज थे, वन-वाटिकाएँ, कृत्रिम वन, छोटे-बड़े पर्वत और अनेक निर्झर स्रोत इसमें थे। वन्य पशु भी मुक्त रूप से फिर रहे थे।

वन के वन और उद्यान के उद्यान, ऐसे इस विशाल राजोद्यान को देखते की चाणक्य को लगा कि नन्द की समृद्धि का कोई पार नहीं है। इसके अन्तराल में गंगा और शोण के जल-प्रवाह बह रहे थे, जिनमें महाराज की कांचन नौकाएँ खड़ी थीं, और अनेक नौकाएँ तो उनमें चल रही थीं।

एक ओर तो चम्पक वन था, जिसकी मादक सुगन्धि से मनुष्य क्षण-भर में सब कुछ भूल जाए। दूसरे पार्श्व में चन्दन वन था, जिसमें केवल चन्दन तरु ही खड़े थे, रंग-बिरंगी पुष्प वाटिकाएँ, वन-बेलियाँ, विविध विहंग, जलाशय, जलयन्त्र एवं रंगीन मछलियों से शोभायमान स्फटिक के जलकुण्ड! ये इतनी अधिक दर्शनीय सामग्रियाँ थीं कि यहाँ पर मनुष्य के एक बार बैठने पर दुबारा इच्छा ही न हो, लगता था कि यह तो पृथ्वी का साक्षात् स्वर्ग ही है। अथवा स्वर्ग भी ऐसी छटा से शून्य ही होगा!

जलाशय की ओर जाने के लिए महारानी एक ओर की पुष्प-वीथिका में से होकर आगे बढ़ी। इस वीथिका के दोनों ओर आरस और स्फटिक के सिंह बने थे। सुनहरी स्तम्भों पर, एक सिंह तो अपने अगले पंजों को ऊपर उठा कर ऐसा खड़ा था कि मानो यात्री से ऊपर वह अभी-अभी आक्रमण कर देगा! किसी का कुछ छीन लेने की तत्परता इस सिंह की आंखों में झलक रही थी, जो आचार्य को नन्द राज्य-शासन के समान ही लग रही थी। चाणक्य महादेवी के पीछे-पीछे चल रहे थे।

नन्दराजा के इस बाह्योद्यान में भी सर्वत्र सुवर्ण ही सुवर्ण दीख रहा था, जिसे देखकर चाणक्य दिङ्मूढ़ हो गए। लगता था कि पत्थर के स्थान पर भी सुवर्ण का ही उपयोग किया गया है।

और महादेवी सुनन्दा की दृष्टि तो सुवर्ण-स्तम्भों से हटकर आचार्य को खोज रही थी। वह शनैः बोलकर रुक गईः 'भन्ते आचार्य! ऐसा कोई स्थान है आपके ध्यान में, जहाँ पर सुवर्ण न हो।

इसे देखकर इतनी थक गई हूँ कि महाराज इसके स्थान पर कोई और धातु का करें तो जी में जी आए! जिधर भी देखो कांचन ही कांचन! यह क्या महाराज को सोने की उन्माद भावना चिमटी है या और कुछ है? कोई इन्हें कह दे कि आपकी सन्तान और महारानी के बदले में शोण के प्रवाह में सुवर्ण प्रवाहित होने लगेगा तो ये हमें छोड़ देंगे और सुवर्ण स्वीकृत कर लेंगे, इतना बड़ा मोह है इन्हें सोने का! मुझे तो लगता है कि पूर्वजन्म में ये स्वयं सुवर्ण की खान रहे होंगे! सोने के लिए ये अपनी सन्तानों का भी उत्सर्ग कर देने वाले हैं, देखिए न इसी मोह के अधीन होकर महाराज ने नदी का नाम बदलकर हिरण्यवती रख दिया है। प्रजा इन्हें धननन्द कहे तो इन्हें यह संबोधन बहुत ही प्रिय लगता है!'

चाणक्य तो बिना बोले-चाले ही महादेवी के पीछे चलते रहे। इन्हें तो एक की कामना थी कि जल्दी से जलाशय आए और राजकुमारों का परिचय प्राप्त हो! अभी तक आचार्य को पता ही न चल पाया था कि यहाँ प्रत्युत्तर देने में क्या भय है? वे तो शांति से बैठकर आज की सुनी बातों पर विचार करना चाहते थे। परन्तु अभी तक आचार्य के निवास स्थान की व्यवस्था न हो पाई थी। मंत्रीश्वर शकटार के निकट लौटकर जाना चाणक्य को पसन्द न था।

किन्तु अभी एक छोटी-सी सुन्दर हरीतिमा भरी पर्णकुटी से एक मनोरम लघु-सदन की ओर महारानी के अंगुलि निर्देश करते हुए कहा : 'भन्ते आचार्य! यह आपका निवास स्थल, सामने जलाशय है, पीछे उद्यान है, राजकुमार यहाँ पर अध्ययन के लिए आएँगे, आपको यह स्वीकृत हो तो मैं अहोभाग्य मानूँगी।'

चाणक्य को स्थान पसन्द आया, इस स्थान के चारों ओर मयूर नृत्य कर रहे थे, किन्तु आचार्य के मन में विचार आया कि कहीं वह भी तो स्वयं पक्षी ही बन रहे हैं। उन्होंने जोर से कहा :

'मुझे तो महादेवि! विद्या की उपासना के लिए बैठ जाना है, स्थान चाहे वृक्षमूल ही क्यों न हो। यह स्थल अच्छा है, राज महालय का सानिध्य है और फिर शकटार मन्त्रीश्वर,—जहाँ पर बिठाएँगे, वहीं आनन्द है।'

सामने वह शकटार मन्त्रीश्वर का भवन है, महादेवी ने कहा :

'वह जो आधा दीख रहा है, वह अमात्य वक्रनास का है, इस ओर पीछे अमात्य राक्षस का है। सब यहाँ से समीप ही हैं। यह स्थान है स्यात् आपको पासन्द होगा! अब हम सरोवर के निकट आ पहुंचे हैं।'

यहाँ आते ही महादेवी धीरे-धीरे आगे बढ़ी। वह मौन थी। चाणक्य इसका कारण समझ गए। महादेवी जलाशय के निकट बैठकर मछलियों की क्रीड़ा में निरत राजकुमारों की बातें सुनना चाहती थी। वह इसी हेतु से सरोवर के निकटवर्ती एक कुसुम बेलि के पीछे जा पहुँची ।

चाणक्य महादेवी के पीछे जा रहे थे, आचार्य को भय लग रहा था कि यदि ये आठों राजकुमार तेजस्वी हुए तो क्या होगा? किन्तु इस समय तो राजकुमारों से परिचय प्राप्त करने की धुन थी। बाद में जैसा भी होगा देख लिया जाएगा। वे भी महारानी के पीछे-पीछे जा कर और दूसरे लता-गुल्म के पीछे खड़े हो गए चुपचाप।

राजकुमारों की मत्स्य क्रीड़ा यहाँ से साफ-साफ दीख रही थी।

किन्तु आचार्य तो राजकुमारों को देखते ही विचारों में खो गया। इतने लम्बे चौड़े राजकुमार अभी तक मत्स्यक्रीड़ा में आनन्द मान ले रहे थे। यह दृश्य देखकर तो चाणक्य का दम घुटने लगा। एक बार तो उसके मन में आया कि अलक्षेन्द्र-जैसा कोई आक्रान्ता चढ़ आएगा तो वह यहाँ से भी असीमित सम्पदाएँ लाद ले जाएगा और इस देश की प्रजा की हत्या करेगा सो अलग। चाणक्य के मन में यह भी आया कि महा पद्मनन्द ने इतना व्यक्तित्व बना लिया है कि अन्य सभी भूपाल उसके समक्ष बौने से लगते हैं। राज-व्यवस्था का अर्थ था महा पद्मनन्द का ऐच्छिक नियन्त्रण। राज्य-सभा का ठिकाना न था, इन राजकुमारों की बड़ी आयु थी, तो भी इनकी बुद्धि, आयु, पाँच से दस वर्ष तक के बच्चों जैसी थी। परन्तु यह आयु भी नहीं कही जा सकती थी, क्योंकि इस आयु में जो लज्जा विनय आदि गुण होते हैं, वे भी इनमें न थे, ये तो निधड़क होकर सरोवर की मछलियों से खिलवाड़ कर रहे थे, मस्ती मचा रहे थे, परस्पर रंग की गेंद फेंक रहे थे, बैठे-बैठे मछलियों को छोटे-छोटे मोती फेंक रहे थे, और मछलियाँ उन्हें लेने के लिए दौड़ी आ रही थीं—चारों ओर से।

इक्कीस से दस वर्ष की आयु वाले सभी राजपुत्र बैठे थे वहाँ, किन्तु इनमें किसी प्रकार की विभिन्नता न थी, सब सरीखे थे। लगता था कि जैसे एक दूसरे की आकृति बनाकर किसी ने छोटे रूप में दे दिए हैं, इनको एक ही पत्थर से तराश कर। एक ही ढंग से नासिका, एक ही प्रकार की मुखमुद्रा, एक ही प्रकार की आंखें, समान शब्दोच्चारण,एक से दूसरा भिन्न ही न लगता! केवल शारीरिक उच्चता से ही कुमारों का परिचय मिलता था। इन्हें नामों के बजाए, संख्याओं से पुकारा जाना विशेष ठीक था।

चाणक्य इन्हें देखकर सुन्न हो गया। ये आठों हैं तो एक समान ही! एक पिता और आठ राजपुत्र, इस प्रकार वस्तुतः नौ नन्द थे यहाँ पर।

आचार्य आठों की बातें सुनते रहे।

एक कुमार कह रहा था, लगता था कि वही राजपुत्र हो! सबसे बड़ा जो लगता था, वह कह रहा था : "अरे सुनन्द! तुझे पता भी है कि पिता जी ने कूटग्राम के उन रक्षकों को क्या उत्तर दिया है? अहा! कितना बढ़िया उत्तर था!"

"क्या था?......क्या था? ....क्या था, भैया?" तीन-चार कुमार एक साथ बोल उठे।

"कूटग्राम में चूहों का उत्पात बढ़ा है। जनता को रोग-विस्तार का भय है। यहाँ से किसी वैद्यराज को लिवा ले जाने के लिए ग्रामजी आया था।"

"फिर?.......फिर? पिताजी ने क्या कहा?" एक साथ दो राजकुमार चिल्लाए।

"संक्षिप्त और टका-सा, तुम मूषक-कर दो।"

"मूषक-कर? आहा! आहा! तब तो बड़ा आनन्द आएगा! फिर दो बड़े भैया राज-कोष छलक जाएगा। पर, यह कौन-सी बला?"

"मूषक-कर अर्थात् प्रत्येक ग्राम-निवासी अमुक संख्या में सर्वदा मूषक (चूहे) पकड़े!"

"पूँछ की ओर से?" एक राजकुमार ने साश्चर्य से पूछा।

"अरे, ऐसा तो होगा कहीं? सुन तो जरा," दूसरा बोला, "पूँछ की ओर से नहीं, मुख की ओर से पकड़े।"

तीसरा कुमार बोल पड़ा : "अरे, तुम दोनों व्यर्थ में झगड़ते हो,

चूहों को पेट से पकड़ना होगा।''

"सुनो, सुनो, अपने लिए बड़े मजे की बात है—'' युवराज ने कहा : "प्रत्येक ग्रामीण को नियत संख्या में चूहे पकड़कर राज-कोष में जमा करने होंगे!''

"राज-कोष में मूषक जमा करना, वाह भई वाह! तब तो बड़ा आनन्द आ जाएगा। अपने कोष में कोटि-कोटि मूषक हो जाएंगे। पिताजी ने सचमुच बुद्धि लड़ाकर कमाल कर दिया, हाँ!''

"अरे, तुम सुनो तो सही। ये चूहे जब कररूप में यहाँ आएँगे तो हम उन्हें नौका में बिठाकर उस हिरण्य-गुहा में घुमाने ले चलेंगे। मूषक सुवर्ण की ईंटें देखकर स्तब्ध रह जाएँगे!''

"और फिर हम उस नौका को वहीं छोड़कर भाग आएँगे।'' सबसे छोटा राजकुमार सुतन्तु, जो अब तक मूक बैठा था, वह उतावली में बोल उठा। यह सुनकर सारे राजकुमार एक साथ जोर से हंस पड़े।

चाणक्य यह संवाद सुनकर ठण्डे हो गए। उन्हें लगा कि यहाँ पर तो महा पद्मनन्द के काञ्चन ने बड़ा भारी अनर्थ मचा रखा है। अब आचार्य को महादेवी सुनन्दा की मनोव्यथा समझने में देर न लगी। किन्तु चाणक्य के मन में एक दूसरा विचार भी आया कि यदि वस्तुत: महादेवी की संस्कृति भावना जागृत हुई होगी तो वह थोड़ी-सी जागृत होकर नहीं रहेगी। क्या यह संस्कृति के नाम पर पुत्र-त्यागिनी माता नहीं हो सकती? यथार्थत: राजमहिषी के पाटलिपुत्र के समान कोटनुकोटि काञ्चन के स्वामी क्या ऐसे होते हैं? ऐसों के पास कोई एक पल भी राज्य रहने देगा क्या?

किन्तु इतने में मछलियाँ विशेष मस्ती में आ गई थीं, पर कुमार ठेठ जल के किनारे अन्दर जाने के लिए सीढ़ियों पर उतर आए थे।

महाराज्ञी तुरन्त ही उस कुसुम वृक्ष के पीछे से बाहर निकली। उन्होंने चाणक्य की ओर देखा और चाणक्य ने उनकी ओर। आचार्य ने महादेवी सुनन्दा की आंखों में आंसू देखे, परन्तु वे कुछ न बोले। महाराज्ञी का मन वेदना से भरा था, उनका कण्ठ गद्गद हो गया था, उन्होंने आचार्य को संकेत से बुलाया। जलाशय के तट पर पहुंचकर महरानी ने ताली बजायी।

अन्दर राजकुमार मस्ती में थे, वे ताली सुनकर एकदम चौंक गए और महारानी को देखते ही बोल पड़े : 'अरी माँ! यह एक नयी मछली देखनी है। सर्वथा काली है.....' इतने में माँ के साथ किसी विदेशी को देखकर वे मूक बन गए। महारानी ने उन्हें ऊपर बुलाने का संकेत किया। सभी दौड़ते-दौड़ते ऊपर आ गए। माँ के साथ अपरिचित व्यक्ति को देखकर उन्हें क्षोभ हुआ। फलतः वे बिना कुछ बोले मौन खड़े रहे। चाणक्य की कुरुप मुखमुद्रा देखकर सब के मुख पर मुस्कुराहट नाच उठी। सुनन्दा को भय लगा, कहीं एक ही साथ ये आठों हँस पड़े तो बड़ी मुसीबत हो जाएगी। इस समय सुनन्दा को अपने जीवन में ऐसी अकिन्चता लग रही थी, जो जीवन में कभी अनुभूत न हुई थी। स्वयं एक विख्यात क्षत्रिय कुल की राजपुत्री, इतने महान् मगध देश ही महारानी, इतने विशाल साम्राज्य की स्वामिनी, और उसी के सामने खड़े हुए हैं ये आठ सपूत! एक से एक बढ़ा चढ़ा। वह स्वयं बांझ रही होती तो कितना अच्छा होता! ऐसे विचार आए उसके मन में। उसे अपनी दयनीय दशा पर तरस आ रहा था। उसके हृदय में तुमुल संघर्ष मच गया, उसकी आंखें सजल हो गयीं, यह देखते ही राजकुमारों के मुखों पर गम्भीरता छा गई और उनमें से बड़ा राजकुमार सुकल्प बोला : "भन्ते माताजी! यह ब्राह्मण कौन है?"

"सुकल्प! ये तुम्हें राजनीति सिखाने के लिए आये हैं, तुम्हारे आचार्य हैं, इन्हें प्रणाम करो।"

चाणक्य ने अब राजकुमारों के मुखों पर मस्ती के स्थान पर गर्व देखा। उनके मनों में यह भाव आ गया लगता था कि हमें सिखाने वाला यह बामन किस गिनती में है? हमें क्या नहीं आता?

चाणक्य के दिल के टुकड़े हो गए, जब उन्होंने देखा कि राजकुमारों की मूर्खता में उद्धत गर्व की थाती विद्यमान है। उन्हें विश्वास हो गया कि महा पद्मनन्द के बाद इस पाटलिपुत्र में कुछ भी बचने वाला नहीं है। तो भी ये राजकुमार मातृभक्त लग रहे थे। उनमें से प्रत्येक क्रमशः आचार्य के चरणों में मस्तक नमाने के लिए आगे आ रहा था।

"ये कुमार, भन्ते आचार्य! आप जो समय निश्चित करेंगे, उसी

समय आपके आश्रम में आएँगे, इन्हें राजनीति सिखाइए। क्यों सुकल्प! अब तो तुम्हें राजनीति जाननी चाहिए। ठीक है न?''

''सब ठीक है भन्ते माँ! सुकल्प ने मुख बिचकाकर कहा : आपको अपने पुत्रों पर विश्वास नहीं है, यही मुसीबत है। अतएव हमारी शक्ति के बारे में आप जो कुछ कहेंगी, उसे हम सिर माथे चढ़ा लेंगे। और उपाय ही क्या है? आप से हम कुछ नहीं कह सकते। पिताजी की बात अलग है। परन्तु हमें थोड़ी बहुत राजनीति का परिज्ञान तो है ही। अभी पिताजी कूटग्राम के सिर पर मूषक कर लगाया है, हम होते तो मत्स्य-कर लगाते! मूषकों में क्या धरा है?''

चाणक्य ने महादेवी से सामने देखा, अभी अभी वह रो पड़ेगी, ऐसा भय लग रहा था चाणक्य को, उन्होंने तुरन्त ही प्रश्न पूछा :

'तो भन्ते राजकुमारो! मैं तुमसे एक प्रश्न पूछूँ? क्या तुम उसका प्रत्युत्तर दोगे?'

'क्या प्रश्न है? पूछिए!'

'एक हाथी है, उसे राजा ने एक ग्राम के सुपुर्द कर दिया है। राजा ने ग्रामीण से कहा कि इसकी देखभाल करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। यदि कभी मर जाए तो इसकी मृत्यु का सम्वाद लाने वाले का शिर-विच्छेदन कर दिया जाएगा। जो तुमने मृत्यु का समाचार नहीं पहुंचाया तो भी शिर-छेदन का दण्ड होगा। ये दोनों बातें उसने एक साथ कहीं और हाथी ग्रामीण को सौंप कर विदा कर दिया। फिर कुछ समय के पश्चात् हाथी मर गया। ग्रामीण विचार में पड़ गया कि इस हाथी की मृत्यु का समाचार राजा को कैसे पहुँचाऊँ, हाथी मरा है, यह कहूँगा तो भी शिर-छेद्न, न कहूँगा तो भी शिर-छेदन, क्योंकि राजाज्ञा भंग होती है। तब एक विद्वान् ने उसे रास्ता बताया। बताओ विद्वान् ने क्या रास्ता बताया होगा? कौन बताएगा तुम में से?'

'इसमें क्या बात है कहने की। सबसे छोटा राजकुमार बोला : 'हाथी को गाड़ी में चढ़ाकर राज-दरबार गए होंगे और बिना बोले ही खड़े रहे होंगे।'

सब हँस पड़े, सुनन्दा महादेवी ने अपने माथे पर हाथ रखा, और बोली : 'सुतन्तु। हाथी मरने पर गाड़ी में कैसे रखा जा सकता है?'

'तो महाराज को वहाँ बुलाकर ले जाएँगे।'

'नहीं ऐसा नहीं हो सकता था, सम्वाद तो ग्रामीण को ही देना था।'

कुछ समय बीता किन्तु किसी ने कुछ न कहा। चाणक्य ने युवराज की तरफ देखा! 'भणो युवराज?'

युवराज मौन रहा, उसकी इच्छा हुई कि भग्नदन्त ब्राह्मण का सिर फोड़ दे। उसकी भावना आंखों में प्रकट हो रही थी। सुनन्दा इस बात को ताड़ गई कि उसे यह बात ठीक नहीं लगती, वह बोली : 'सुकल्प! जैसा तू और सबों को ले जाएगा, वैसे ही चलेंगे। आचार्य विष्णुगुप्त ऐसे वैसे विद्वान् नहीं हैं, ये तो तक्षशिला से आए हैं। मैंने इसी के लिए तो इन्हें बुलाया है, देखो आचार्य इसका उत्तर क्या देते हैं?'

आचार्य बोले : 'ग्रामीण राजा के पास जाकर यह कहेगा कि आपका दिया हुआ हाथी न खाता है, न पीता है, नहीं सूँड हिलाता है, न सुनता है, न खड़ा होता है, न कान फड़फड़ाता है। इसलिए राजा कहेगा कि क्या हाथी मर गया है? तब तुम्हें कहना होगा कि आप जो चाहे कहें, हम तो ऐसा नहीं कह सकते। हम तो यही कहते हैं कि हाथी न सुनता है, न बोलता है, न चलता है। इसे क्या कहें यह तो महाराज की जानें।' यह बात विद्वान् ने उसे ग्रामीण को बताई।

सारे राजकुमार एक साथ हँसे : 'यह बात बहुत बढ़िया कही है और दूसरी कहिए'

सुनन्दा ने आचार्य को बड़ी श्रद्धा से प्रणाम करके कहा : 'भन्ते आचार्य! आप तो विख्यात विद्वान् हैं! ब्राह्मणों को दूसरों की जीवनशक्ति में थोड़ा-सा विकास देखकर आनन्द होने लगता है, वही विद्यानिधि आपके पास है। मैंने अपने पुत्र आपकी शरण में छोड़ दिए हैं। इन्हें राजनीति में निपुण बना दीजिए, तक्षशिला का वातावरण यहाँ पर बहा दीजिए। आप ही यह सब कर सकते हैं।'

'सब कुछ हो जाएगा महादेवि! इस संसार में जन्मते ही कोई विद्वान् नहीं होता। कोई सीखे और न आए ऐसा भी नहीं होता। शिक्षक के पास ऐसी विधि हो, जिसे शिष्य समझ ले। अशिक्षित रहने वाला कोई भी पैदा नहीं होता। ये सभी राजकुमार राजनीति में निपुण हो जाएंगे, आप इसकी कोई चिन्ता न करें।'

१६

मच्छरवेधी राजकुमार

आचार्य विष्णुगुप्त राजकुमारों के गुरु बन गए थे। परन्तु जिस कार्य के लिए ये आए थे वह अभी शेष था। उसके लिए तो भूमिका प्रस्तुत करनी थी। आचार्य ने महादेवी सुनन्दा के मन में जागते हुए स्वप्न को पहचाना, ये स्वप्न उसको आकार प्रदान कर रहे थे। नन्दवंश का विनाश इसी प्रकार हो सकता था और आचार्य उस स्वप्न को उत्तेजित कर रहे थे।

किन्तु अमात्य राक्षस सजग था, नन्दराज के भवन में सुलगती हुई अन्तर्द्वन्द्व दावानल ज्वाला को वह कभी से समझ रहा था। शकटार के हाथ में स्थिर सत्ता, राक्षस के गले में पड़ी फाँस के समान लग रही थी। किन्तु राक्षस चाहता था कि जब शकटार से कोटानुकोटि काञ्चन का पता न लग जाए तब तक तो शकटार को रहने देना था। आचार्य विष्णुगुप्त की राजकुमारों के गुरु के रूप में नियुक्ति से अमात्य राक्षस कट गया था।

परन्तु वह तो महादेवी सुनन्दा को उसी के स्वप्न के द्वारा जीत लेना चाहता था। वह शान्त होकर बैठा था। जैसे इस बात का कोई महत्त्व न हो। चाणक्य सावधान हो गए, शकटार मन्त्री से परिचित हो ही चुके थे, उनके विचारों को समझ गए थे। उनकी योजना थी, नन्दराज का ही वध कर देने की। फिर एक राजकुमार की हत्या करने की, किन्तु आचार्य प्रकट रूप में स्वयं इस योजना में सम्मिलित होना नहीं चाहते थे। कभी शकटार की योजना असफल हो जाए तो वे अपने स्थान पर तो बने रहें। यह था इनके कार्य करने का ढंग।

अतः आचार्य शकटार मन्त्रीश्वर की हलचल देख रहे थे। वे अन्य रूप में सामने नहीं आते थे। वे तो पहले महादेवी सुनन्दा के स्वप्नों को उत्तेजना प्रदान करना ही ठीक समझ रहे थे।

एक दिन ऐसा भी आया कि महादेवी को यह जीवन मृत्यु के समान लगने लगा, उस के वश की होती तो वह अपने भूतकाल के प्रत्येक को मिटा देती।

वह महा पद्मनन्द की सावमान उपेक्षा कर रही थी, वह चाहती थी, यदि उसके बड़े पुत्र सुकल्प के हाथों के शासन सूत्र आ जाए तो नन्दवंश के कलंक को धो डाले।

तक्षशिला, विद्याधाम, विद्वत्सभा, विद्या-महोत्सव इत्यादि सांस्कृतिक वातावरण उसके मन में चक्कर काट रहे थे। शकटार इस दिशा में आगे बढ़ रहा था, किन्तु अमात्य राक्षस की इच्छा थी कि वह महादेवी को, आगे बढ़ने से पूर्व ही रोक दे। अत: वह अविलम्ब कोई निर्णय करना चाहता था।

अमात्य राक्षस ने महा पद्मनन्द को पथ बतलाया, राजा और अमात्य दोनों महादेवी को उसके स्वप्नों को पूर्ण कराने की दिशा में उत्साह देने के लिए आगे आए।

अमात्य राक्षस का हृदय तो प्रेमिल उर्मियों के भर उठा था। अपने स्वामी और उसके राजकुमारों के भविष्य के लिए वह सुस्थिर शिला के समान खड़ा रहना चाहता था। किन्तु शकटार की समस्या सुलझने के बाद ही वह और कुछ कर सकता था।

राजकुमार भी अमात्य से प्रेम करते थे। वे प्राय: कहा करते थे कि हमें जैसा अमात्य चाचा कहेंगे हम वैसा करेंगे। हमें क्या आपत्ति है?

और वैसे तो इन्हें इस बात का भी अभिमान था कि बहुत-सी बातें अमात्य चाचा भी नहीं जानते। यह खैर है कि वे हम से जब तक पूछ लेते हैं।

आचार्य विष्णुगुप्त के शिष्य और बातों में भी असाधारण थे, एक बार इन्होंने सोचा कि हमें गुरु को धनुर्विद्या की पराकाष्ठा बतानी चाहिए। तभी ये मानेंगे कि हम भी कुछ हैं। वे तो माँ से भी कहते थे कि माँ! तुम भी कैसी हो कि हमसे भी कम जानकार व्यक्ति को हमारा आचार्य बना रही हो! ऐसा व्यक्ति हमें कैसे जाने देगा आगे? आचार्य ने राजकुमारों के मनों में भी तक्षशिला का मधुर स्वप्न सजग कर दिया था। ज्येष्ठ राजकुमार सुकल्प को तक्षशिला का ऐसा उन्माद छाया था कि वह यही समझ बैठा था कि वह तो स्वतन्त्र तक्षशिला का युवराज नहीं, बल्कि शासक बन गया है। वह बारम्बार माता से यह बात कहने लगा। माता ने

तक्षशिला के संस्कारों के विषय में अनेक बार इनसे कहा था, अतः ये भी तोता-रटन्त की भाँति तक्षशिला जाने की बातें करने लगे। एक शसक्त सैन्य संचालन की इनमें इच्छा जाग्रत हो गई। किन्तु सनन्दा को तो अपने वीर पुत्रों का ज्ञान था ही, इसके रोम-रोम में अपने पुत्रों की बातें सुनकर आग भड़क जाती थी। क्योंकि बिना समझे-बूझे तोतों की तरह बोलते थे। इसे होता था कि इनके कारण उसकी कुलकीर्ति नष्ट हो गई है। उसका शुद्ध क्षत्रिय रक्त कलंकित हो गया है। वह स्वयं राजपुत्री थी, पर उसे पति मिला अधमाधम नापितपुत्र-सा नीच महा पद्मनन्द! उसका अपना जीवन नष्ट हुआ तो फिर जीवन में सिवाय मिट्टी की मूर्ति के वह और क्या थी—ऐसी संन्तानों के होने से।

इन विचारों की पुनरावृत्ति उसके रोम-रोम में जलन पैदा करती थी। उसके अपने नारीत्व पर घृणा हो रही थी। वह तो कलंकित हो चुकी थी, पतित-वंश की परम्परा चलाने से। वह स्वयं नहीं समझती थी कि उसके पुत्र क्या बोलते-चालते हैं। ये जो बात सुनें, उसी का उच्चारण करने लगते थे।—इतनी थी प्रतिभा इनमें!

तक्षशिला पर मगध का ध्वज फहराना एवं उसे मगध की द्वितीय सांस्कृतिक राजधानी बनाना, क्या बच्चों का खेल था? परन्तु आचार्य ने सुनन्दा के हृदय में पूर्वोक्त विजयेच्छा के भाव प्रकट कर दिए थे। इससे महादेवी की नींद उड़ गई थी। वह रात-दिन महान् स्वप्नों को साकार करने की भावना में रहने लगी। वह किसी भाव, ज्येष्ठ कुमार सुकल्प को राज्य के योग्य बनाने की धुन में पड़ गयी।

किन्तु महादेवी के पुत्रों ने माँ के स्वप्नों को सुनकर और तो कुछ न सीखा, सिवाय इसके कि वे महान् युद्धपति बन चुके हैं और वे ही इस भावना से स्वयं को प्रदर्शित भी करने लगे।

इन अनधिकारी राजकुमारों में बुद्धिभेद पैदा हो गया था। आचार्य यह देख रहे थे और प्रसन्न हो रहे थे, मन ही मन में। यही वस्तु एक न एक दिन नन्द साम्राज्य को भस्म कर देगी। यही कामना थी चाणक्य की कि यहाँ ऐसी ज्वाला जले, जो बुझने का नाम भी न ले। यह बात तो आचार्य मन्त्रीश्वर शकटार से कह भी चुके थे।

किन्तु एक दिन तो आचार्य के शिष्यों ने उन्माद में आकर सेनापति बनने की रट लगा दी और इसी पागलपन में ऐसा पराक्रम कर दिखाया कि जिसे जानकर तो हँसी कही जा सकती थी, न ही क्रन्दन। महारानी स्वयं कुछ निर्णय न कर सकीं।

राजपुत्र सुकल्प ने एक दिन अपने भाइयों को एकत्र करके कहा : "देखो भाइयो! हम तक्षशिला जाने की बात करते हैं, तो माताजी मजाक में उड़ा देती हैं, जानते हो क्यों?"

"क्यों बड़े भैया?" सब के सब एक साथ चिल्लाए। ये जब बोलते तो एक साथ और कोई काम करते तो एक साथ। अलग-अलग मूर्खता करने में इन्हें अच्छा न लगता था। ये मूर्खता में भी संघीयता मानते थे।

जेठे भाई ने कहा : "तुम्हें भले ही माँ की बात का पता न हो, पर मैं तो इस बात को दीपक की भाँति जानता हूँ!"

बड़े भ्राता की शक्ति के विषय में किसी ने कोई शंका न की। अतः बड़ा भाई आगे बढ़ा। वह बोला: 'देखो माताजी का मानना है कि तक्षशिला में तो केश-भेदी धनुर्धर रहते हैं और मेरे पुत्रों को धनुर्वेद का ज्ञान की कहाँ है?' किन्तु माता क्या जाने हम कितना विद्वान् हैं धनुर्विद्या के! अच्छा तो एक दिन माँ को अपने हाथ की कुशलता बतानी चाहिए कि हमें कितना सूक्ष्म लक्ष्य भेदना आता है। और यह सिद्धि तो सूक्ष्मतम बालों को बींधने से ही बताई जा सकती है!...

"किन्तु ऐसा कैसे हो सकता है बड़े भैया?" सबसे छोटा राजपुत्र सुतन्तु बोल उठा : "माँ के बालों को बाणों से बींधने के सिवाय यह सम्भव नहीं है, माँ तभी चकित होंगी!"

सुकल्प ने कहा : "अरे सुतन्तु! मेरी पूरी बात तो सुन ले, मैंने इसका उपाय ढूंढ लिया है।"

बड़े भाई की शक्ति के प्रति सबको मान था। वे बड़े धैर्य से सुकल्प की बातें सुनते रहे। सुकल्प ने फिर कहा : "तो आज हम राक्षस चाचा के प्रासाद के समीपवर्ती महान् वन में जाएंगे!...."

"हाँ बड़े भैया! तब तो बड़ा आनन्द आएगा। वहाँ पर तो पानी में असंख्य मछलियाँ हैं!"

"ओहो भाईजी! तब तो आपने बड़ी अच्छी बात बताई, हम मच्छरों को बाणों से बींधेंगे!"

"बस, बस, अब तुम्हारी समझ में आ गया है। यही है मेरी योजना। ऐसा लक्ष्य भेद देखकर सभी हैरान रह जाएँगे, मुंह में अंगुलियाँ दबा लेंगे। आचार्य चकित होंगे। अमात्य राक्षस स्तब्ध हो उठेंगे। महाराज जानेंगे, तो वे स्वयं ही हमें तक्षशिला के ऊपर आक्रमण करने की आज्ञा दे देंगे। माँ तो इतनी खुश होंगी कि पूछने की बात नहीं है। आज तक बाल बींधने वाले हो गए, पर मच्छरों को भेदन करने वाला कोई न निकला!"

सबसे छोटा सुतन्तु फिर बोला : "और हम यह भी करें कि जिस-जिस गाँव में मच्छर हों, वहाँ जाएँ और कहें कि वह हमें 'मच्छर-कर' दें।"

"ओहो! अब तो राजकोष ऊपर तक भर जाएगा। महाराज प्रसन्न हो जाएंगे।" सब एक स्वर में चिल्लाए और साथ ही सब के सब हँस पड़े। लगता था जैसे कोई अपूर्व पदार्थ मिल गया है, इस प्रकार सब के चेहरे प्रसन्नता से खिल उठे।

आचार्य विष्णुगुप्त के बुद्धिमान् शिष्यों ने योजनानुसार अपना संकल्प पूरा करने के लिए अमात्य राक्षस के प्रासाद-समीप-वन में डेरा जमाया। सारा वन प्रतिध्वनित हो गया। तीरों की चमक जागी। और मच्छरों की बुद्धि चकरा गई कि इन वीरों से कैसे जूझें? अतः वे तो मैदान छोड़कर भागने लगे, किन्तु वे उड़ रहे थे। राजकुमारों ने यह सोचकर कि ये मच्छर उड़ रहे हैं, अतः पूरे-पूरे नहीं मरे हैं—ऐसा सोचकर सहस्र तीरों की अनवरत वर्षा की। सूर्योदय के कुछ पश्चात् तक यह कार्य होता रहा, फलतः राजकुमार थक कर चूर हो गए और वे वहीं पर लेट गए।

किन्तु इतने में तो इनके कानों में वन से बाहर के राजपथ से आती हुई ध्वनि आई। यह दशा देखने के लिए वे दौड़े। उनकी शिविकाएँ राजमार्ग से जा रही थीं। वे जंगल के एक कोने मे खड़े होकर यह सब देखने लगे। इन्होंने शिविकाओं के साथ अनेक वाहन यान भी राजपथ से जाते हुए देखे।

वैशाली की नर्तकियाँ आ रही थीं। मन्त्रीश्वर शकटार ने

विद्यामहोत्सव की घोषणा करवा दी थी। उसके प्रत्युत्तर में स्थान-स्थान से कलाकार और साधारण जन आ रहे थे।

आगन्तुकों में शिल्पी थे, वीणा-वादक थे। गायक, नर्तक, नर्तकियाँ, कलाकार, विद्वान् आचार्य, नट, शौभिक, कुशीलव, वादक आदि का आगमन प्रवाह बह रहा था। पाटलिपुत्र नगर संस्कृति-धाम बन रही थी।

मन्त्रीश्वर शकटार के इस विद्यामहोत्सव को महा पद्मनन्द ने स्वयं प्रोत्साहित किया था, अतएव सारा देश इस नगर की ओर उमड़ा आ रहा था।

महादेवी सुनन्दा को भी यह बात पसन्द आयी। उसे नगर की हवा बदलती लगी। अमात्य राक्षस विद्वान् था, अतः इस कार्य में उसने अच्छा उत्साह प्रकट किया।

इस समय वे शिविकाएँ वैशाली की नर्तकियों को लेकर आ रही थीं। कुछ शिविकाएँ खुली थीं। कुछ नर्तकियाँ यानों पर थीं। कुछ रथों पर। कुछ का ढंग आंखों को चकित कर रहा था। अनेकानेक का रूप विचित्र था, इस प्रकार की भावना से परे सारे नगर-जन इस उत्सव में सम्मिलित हो रहे थे, यह दृश्य राजकुमारों ने भी देखा।

इतने में एक शिविका आई। यह अनेक पर्दों से ढँकी थी। इसके चारों ओर मुक्ता-मालाएँ लटक रही थीं। इसके साथ-साथ यवन दास-दासियों का यूथ चल रहा था। ऐसी चर्चा चल गई कि यह नर्तकी तो वैशाली की प्रसिद्ध आम्रपाली की कला को जीवित रखने अमर शालिनी है। इस शिविका के आगे-आगे आर्यमिश्र ब्राह्मण नगर प्रवेश-समय के मंगल उच्चारण कर रहा था।

सारे राजकुमार इस शिविका को देखते रह गए। इतनें में ही सुकल्प अच्छी तरह देखने के लिए और आगे बढ़ गया। वह निर्निमेष दृष्टि से इस शिविका को देख रहा था तभी शिविका के एक ओर क़ी यवनिका ऊपर उठी और अन्दर बैठी हुई नारी की मुखाकृति झलकी, क्षण-भर इस नारी के चेहरे को देखकर सुकल्प ठगा-सा रह गया।

अन्दर बैठी यह देखते ही कि कोई उसे देख रहा है यवनिका

नीचे गिरा दी। किन्तु इतनी ही देर में दर्शन ने सुकल्प को प्रमत्त बना दिया। वह तो बेचैनी के साथ चारों ओर नजर डाल रहा था। शिविका अदृश्य हो गई। सुकल्प उसी दिशा में देखता रहा। लगता था कि उसकी आँखों में कुछ बैठ गया है, और सारे दृश्य तो ओझल हो गये हैं। थोड़ी देर के पश्चात् वह वहाँ से मुड़ा, लेकिन उसने अपना मन, हृदय, आंख और इच्छा खो दिए हों, ऐसी दशा में वह संज्ञाहीन-सा हो गया।

वह खड़ा-खड़ा उसी ओर देख रहा था, जिस ओर से उसकी शिविका गई थी।

सारी शिविकाओं को सर्वप्रथम मन्त्रीश्वर शकटार के प्रासाद के निकट पहुंचना था, फिर आगे बढ़ने की योजना थी। इस प्रकार सारी शिविकाएँ एक के बाद एक आँखों से ओझल हो गईं।

स्वयं सुकल्प को इस बात का ज्ञान भी न था कि यह दृश्य उसने यथार्थतः देखा है कि उसे कोई भ्रान्ति हो गई है। इतने में उसकी खोज में अभ्यागारिक, गोपा दासी एवं अन्य अनेक सेवक-सेविकाएं आ गए। इनके आगमन-कोलाहल से राजकुमार चौंके और उनकी ओर चल पड़े।

अपने भवन के निकटवर्ती वन में यह क्या हो रहा है?—इसकी खोज में अमात्य राक्षस भी उस ओर आ गया। सारे राजकुमारों को उस ओर देखकर वह उनकी ओर चल दिया। उसने देखा कि बड़ी-सी टोली खड़ी है और सुकल्प से कुछ पूछ रही है, किन्तु सुकल्प कुछ ने कह पाता था। सब सुकल्प को घूर रहे थे, और वह, उन सब को।

अमात्य राक्षस ने अभ्यागारिक सुशोभन को एक ओर बुलाकर पूछा : "भणे सुशोभन! यह सब क्या बात है? ये राजपुत्र यहाँ क्या कर रहे हैं?"

"अरे भन्ते अमात्य! यह पागलों की दुनिया उसे भले ब्राह्मण ने खड़ी की है!"

"क्या और कैसी दुनिया, सुशोभन? कौन ब्राह्मण, आचार्य विष्णुगुप्त?"

"उसके अतिरिक्त और कौन होगा? न जाने उसने महादेवी

सुनन्दा को किस राह पर लगा दिया है?"

"उसकी क्या बात है?"

"भन्ते अमात्यदेव! उस ब्राह्मण ने इन सबमें बुद्धिभेद उत्पन्न कर दिया है। इन्हें तो अब पाटलिपुत्र छोटा लगने लगा है। इन राजकुमारों के मन में भी महान् तक्षशिला बस गया है ये राजकुमार तक्षशिला तक मगध साम्राज्य को विस्तृत करना चाहते हैं।"

"किन्तु अभ्यागारिक ! इसमें कौन-सी उन्माद की बात हो गई? यह असम्भव बात है क्या?"

"बात तो सम्भवित है, किन्तु अमात्यदेव! उसी उन्माद के मारे ये राजकुमार इस समय यहाँ आकर धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहे हैं। ये महादेवी को विश्वास दिलाना चाहते हैं, कि इन्हें भी तक्षशिला-जैसी धनुर्विद्या आती है। इसी प्रयोग में इन्हें न जाने क्या हो गया है—चाहे कोई वन्य पशु देखा हो, या और कुछ—यह ज्येष्ठ राजकुमार सुकल्प तो भय से शून्य-सा बन गया है।"

"किन्तु अभी तो यह शिविकाएं देख रहा है?"

"मैंने भी इसे शिविका देखते हुए देखा था। इन शिविकाओं में वैशाली से नर्तकियाँ आयी हैं। कहते हैं कि इनमें कोई वैशाली में हुई महान् आम्रपाली का नृत्य सांगोपांग सुरक्षित रखनेवाली नर्तकी भी आने वाली थी।......जो हुआ हो, परन्तु राजकुमार सुकल्प को तो देखते-देखते कुछ हो गया है। हो सकता है कि किसी ने सम्मोहनास्त्र फेंका हो!"

राक्षस अमात्य यह सुनकर विचारों में डूब गया। उसे लगा कि शकटार मंत्रीश्वर के इस विद्या-महोत्सव का उद्देश्य तो जनता के हृदयों को जीतने का ही है। महादेवी का हृदय तो कभी से महाराज से विमुख होकर आवेश पूर्ण हो चुका है। इन राजपुत्रों में तक्षशिला की मोहिनी उस ब्राह्मण आचार्य ने जगाई है। अतः शकटार मन्त्रीश्वर का कोई षड्यन्त्र, इन सबके मूल में होना चाहिए। महाराज को भी तो धन का मोह इसी ने लगाया है।

राक्षस अमात्य ने अभ्यागारिक से कहा : "भणे अभ्यागारिक! तुम सब यहाँ से चले जाओ। कुमार सुकल्प को अपने आवास में ले जाता हूँ। इसे थोड़ी विश्रान्ति की आवश्यकता है। महादेवी को चिन्ता

करने की आवश्यकता नहीं है। मैं अभी आया। कुमार को थोड़ा आराम मिला कि वह लब्धसंज्ञ हो जाएगा। तुम सब जाओ, पर हाँ एक बात बताओ, ये सब यहाँ पर क्या कर रहे थे?''

''अरे भन्ते अमात्य! यह सुनकर तुम्हें हँसी आ जाएगी। ये कुमार जो कुछ सुन लेते हैं, वही करने में जुट पड़ते हैं। जो कुछ जानते हैं, उसे पूरा करने का प्रयास करते हैं। इन्हें हुआ कि ये भी बाल-भेदी धनुर्विद्या दिखा सकते हैं, इसलिए ये यहाँ पर मच्छर-भेदी कहलाने के लिए प्रयोग कर रहे थे!''

''हैं! मच्छर-भेद? ठीक ठीक?'' राक्षस अमात्य को भी राजकुमारों की बात से हैरानी हुई। किन्तु नन्दवंश के इन कुमारों एवं बच्चों के प्रति उसके हृदय में अत्यन्त प्यार था, उनके लिए और कोई विचार न था इसके हृदय में। वह तो अभ्यागारिक की बातें सुनकर हँस पड़ा और बोला : ''ओहो, सीधे-सादे राजकुमार!'' कहने के बाद अमात्य मन ही मन में विचार करने लगा—''धूर्त ब्राह्मण ने यह सब बखेड़ा खड़ा किया है! शकटार के बाद इसे भी निकालना पड़ेगा, अन्यथा यह शस्त्रास्त्रों से इतना नहीं, जितना शास्त्र-वचन से सबको मार डालेगा!''

१७

सुकल्प ने क्या कहा?

अमात्य राक्षस सुकल्प को अपने महालय की ओर ले गया, और अन्य राजकुमार तो अभ्यागारिक, दासी गोपा एवं अन्य सेवकवर्ग के साथ महारानी सुनन्दा के प्रासाद की ओर चले।

अमात्य राक्षस चलता-चलता कुमार सुकल्प की ओर देखता रहा। कुमार वैसे तो होश में था, किन्तु वह कुछ बोलता न था। लगता था कि जैसे वह कुछ देखने के लिए दौड़ लगा रहा है—मन ही मन में।

अमात्य का आश्चर्य हुआ, ऐसी कोई रूप-लावण्यमयी नर्तकी वैशाली से आयी होगी, जिसको देखकर कुमार का मन बरबस उसकी ओर आकृष्ट हो गया होगा, इसकी पूरी सम्भावना है। युवावस्था

और सौन्दर्य, कविता और प्रेम—ये सबके सब एक ही आकाश के ऊर्ध्वगामी पक्षी हैं। और इन भोले राजकुमारों को गगन में उड़ते हुए विहग, बहुत ही अच्छे लगते हैं। इस कुमार के ऊपर किसी का प्रभाव है, शकटार मन्त्रीश्वर ने विद्या-महोत्सव के साथ अन्य भी योजनाएं गढ़ी होंगी, जिसमें से एक यह भी होगी, पिता पुत्रों बीच में महान् संघर्ष पैदा करने की। और बिना कामिनी के, और क्या है, जिससे संघर्ष उठे?

यह सम्भव है कि वैशाली से किसी नर्तकी को इसी कार्य के लिए बुलाया हो शकटार ने। अमात्य की समझ में आया कि ऐसे संघर्ष को टालने के लिए तो सर्वप्रथम महादेवी को हथियाना चाहिए।

प्राचीनकाल में वैशाली नगरी में ऐसी ही नगर-नागरियों की प्रथा थी। वही प्रथा आज यहाँ पाटलिपुत्र में योजित करने की घोषणा की जाए तो इन नर्तकियों में जितनी रूपाढ्याएँ होंगी, वे अविलम्ब आ जाएँगी।

वह शकटार मन्त्रीश्वर की योजना को धूल में मिलाकर सामने आ जाएगी और उस नगर-शोभिनी के लिए वैशाली की भांति ही यहाँ पर भी एक नीलमणि महालय बनाने की घोषणा की जानी चाहिए।

महादेवी इस बात को अवश्य पसन्द करेंगी। इसमें महादेवी किसी भव्य सांस्कृतिक परम्परा को उठते हुई निहारेंगी। ब्राह्मण आचार्य ने जो बात इनके मन में बिठा दी है, वे बातें पूरी होते देखकर, महादेवी का महाराज से चलता हुआ संघर्ष शान्त हो जाएगा। ऐसी घोषणा अविलम्ब कर देने का संकल्प राक्षस ने किया। इस प्रकार, शकटार की रूपसी रमणा भी हाथ में आ जाएगी और अन्तर्द्वन्द्व भी टल जाएगा।

इसी बीच में शकटार का कांचन मिल जाए तो फिर सब देख लिया जाएगा आगे। यदि इस धन की माँग महादेवी ही स्वयं करें तो शकटार ना नहीं करेगा। अब तो ऐसा उपाय खोजना पड़ेगा, जिससे महादेवी शकटार से धन माँग सकें।

ऐसे-ऐसे अनेक विचार अमात्य राक्षस के मन में आए और शान्त हो गए। परन्तु अभी तक भी कुमार सुकल्प साथ-साथ शून्यमनस्क-सा चल रहा था। देखता हुआ भी अदेखता लग रहा था।

दोनों महालय में आ पहुँचे। वे मन्त्रणा-कक्ष में बैठ गए और कुछ देर सुस्ताए। राक्षस अमात्य के कुमार सुकल्प को शोभनीय सुखासन पर बिठाया। सुवासित जलपान प्रदान करने के लिए सेविका आयी। सुकल्प उसे देखता रहा। उसे देखकर, कुछ याद कर रहा हो, ऐसे, मन में वह अपनी दृष्टि को उतार बैठा। जैसे उन आँखों से और कोई दृश्य देखने की इच्छा ही न हो।—ऐसे वह आँखें मूँदकर जल पी गया। अमात्य राक्षस कुमार की इस दशा को देखता रहा।

अब अमात्य राक्षस ने कुमार के माथे पर प्रेम से हाथ फेरते हुए कहा : "भणे राजपुत्र! तुम्हें क्या हो रहा है? तुमने क्या देखा है?"

"मैंने?" राजपुत्र सुकल्प विचार करता हुआ सा बोला : "हाँ, मैंने, मैंने क्या देखा है? ठीक है, मैंने ही देखा है! ओहो! वह रूप कितना विचित्र एवं मोहक था!"

"मैंने वह रूप-लावण्य देखा है कुमार! वह वस्तुतः मनोहारी और विचित्र था। वह मोहिनी तो अभी तक भी मुझे दीखती है!" राक्षस की वाणी में प्रेममय उत्तेजन व्याप रहा था।

"हाँ ठीक है, भणे राक्षस अमात्य! अकेले तुमने वह रूपराशि देखी है। मुझे तो होता है, मैं उसी को प्रतिक्षण देखता रहूँ, और कुछ न देखूँ। रात-दिन मुझे वही दिखाता रहे। कितनी मनोहर थी वह! मुझे प्रेमामन्त्रण दे रही हो, ऐसी थी उसकी विशाल! तुमने देखा था न उन्हें, थीं न बड़ी विचित्र?"

राक्षस अमात्य समझ गया कि उसे वैशाली की किसी नर्तकी का मोह लग गया है। किन्तु यह मोह न था, यह तो मोह अथवा मोहिनी से भी अधिक भीषण दृष्टि वाली, यह तो एक प्राण-घातक परवशता थी। पर ऐसी दृष्टि किसकी होगी? अमात्य यह विचार करता रहा।

इतने में फिर बोला राजकुमार : 'मैंने जो दो आँखें देखी हैं, इच्छा होती है कि मैं उन्हें देखता ही रहूँ! मुझे सिवाय उन नयनों के और कुछ नहीं चाहिए! न मुझे तुम्हारे राज्य की इच्छा हे, न उस तक्षशिला नगरी की। न ही मुझे तुम्हारे काञ्चन से निस्बत है। मुझे तो अमात्य चाचा! रह-रहकर वे ही चाहिए। ओ हो कैसी थीं वे!

राक्षस अमात्य की प्रीति पगी वाणी ने राजकुमार को इतना आकृष्ट कर दिया कि कुमार उसे चाचा के प्रेमल बोलों से बुला रहा था और उसी की ओर टक-टकी बाँधे देख रहा था।'

अमात्य राक्षस की आँखों में अत्यन्त करुणता दीखी, लगता था कि जैसे कुमार को उन आँखों से शून्य समस्त संसार निरर्थक लग रहा है।

कुमार की ऐसी करुण दशा देखते ही अमात्य राक्षस के मन में एक विचार आया। वह भी राजनीति का सामान्य खिलाड़ी न था। इसका विचार आते ही अमात्य का हृदय काँप उठा, वह बोल पड़ा : 'आ हा! यह तो दुष्ट मन्त्रीवर शकटार ने नन्दवंश के निकन्दन के लिए कहीं न कहीं पर विषकन्या का पोषण करवाया है। राजकुमार की देखी हुई आकर्षक आँखें तो निःसन्देह किसी न किसी विषकन्या की ही हो सकती हैं! सामान्य रमणी में इतनी परवशतापूर्ण शक्ति नहीं होती। घातक, भयंकर, मुख सौन्दर्य में व्याप्त, विषैली दृष्टि का ही यह प्रभाव है।'

यह समझते ही अमात्य राक्षस को एक-एक मिनट भयंकर हो गया। वह अविलम्ब निर्णय पर पहुँचना चाहता था।

वह विषकन्या शकटार के पास ही होनी चाहिए। किसी भी प्रकार इस विषकन्या को हथियाना होगा बिना शकटार के जाने हुए। विषकन्या हाथ में आ गई तो वह एक भयंकर अमोघ अस्त्र का काम देगी।

अमात्य ने तुरन्त ही प्रेमपूर्ण मधुर स्वर में राजकुमार से कहा : 'कुमार! तुम निश्चिन्त रहो, तुमने जो कुछ देखा है वही मैंने देखा है, अब तुम अचिर ही उन दो आँखों को देख सकोगे।'

'परन्तु कब तक चाचा जी!' कुमार के स्वर में कातरना उमड़ रही थी—'कब?'

'हमने उसे नगरशोभिनी बनाया कि, तुरन्त ही!'

'निश्चित?'

'हाँ, हाँ, निश्चित। चलो अब हम माता के निकट चलें। तुम्हें आचार्य ने बहुत-सी बातें कही हैं न तक्षशिला की! तुम वहाँ जाना चाहते हो न?'

'वहाँ ये दोनों आँखें देखने को मिलेंगी ?'

'वे आँखें वहीं की हैं राजकुमार।' अमात्य राक्षस ने कहा। सीधे, सरल राजकुमारों के मन को मिथ्या महत्त्वाकांक्षा का स्वप्न देकर आचार्य राजकुमारों का सर्वनाश करना चाहता था, इस बात का परिचय अमात्य को मिल गया था। ये राजपुत्र तो आनन्द लूटने के लिए ही जन्मे थे। इन्हें आचार्य विष्णुगुप्त ने महत्त्वाकांक्षा का मद पिलाया था। अब ये न यहाँ के रहे, न वहाँ के हुए। विष्णुगुप्त कुरूप तो दीखता है किन्तु यह शकटार से भी भयंकर है। अमात्य ने निश्चय कर लिया कि सर्वप्रथम महादेवी के स्वप्नों को ही पूर्ण करना होगा। महाराज महादेवी की मधुर कल्पनाओं को उत्तेजित करें तो अति शीघ्र ही शकटार मन्त्रीश्वर से गुप्त कांचन मिल सकता है। उस धन की प्राप्ति हो जाये तो उसी से शकटार मन्त्रीश्वर को दफनाया और आचार्य को फू कर दिया जा सकेगा।

अमात्य यथाशीघ्र महाराज की महादेवी से मिलना चाहता था।

१८

तक्षशिला की महारानी

एक दिन महादेवी ने दिवा स्वप्न देखा कि जैसे वह तक्षशिला की सम्राज्ञी बन गई है, और सैन्य लेकर यवनेश्वर अलक्षेन्द्र का सामना कर रही है!

तक्षशिला नगरी में उसने सभा-समारोह होते देखे। वेद-ध्वनि से हिमालय के उत्तुंग गिरि-शृंग प्रतिध्वनित हो रहे थे, अश्वमेध का श्यामल अश्व समक्ष खड़ा था, ब्राह्मण मन्त्र-पाठ कर रहे थे, वह स्वयं सलिलार्भिषेक कर रही थी, वेद की ऋचाओं से वायुमण्डल भरा-भरा, गम्भीर और रम्य लग रहा था।

सम्पूर्ण नगरी उसे अलौकिक लग रही थी, वहाँ पर महान् धनुर्धर, शिल्पी, वैद्यराज, पण्डितराज एवं शास्त्रार्थमहारथियों की भीड़ लगी थी।

किन्तु वह दिवा स्वप्न से जागी थी कि उसका भ्रम उड़ गया। वह तो स्वप्न से पूर्व जहाँ थी वहीं रही पाटलिपुत्र में। उसके चारों

ओर वही कांचन पिंजर लटक रहे थे। उनमें वही दास पक्षी बैठे थे, वही दासियाँ खड़ी थीं, वह स्वयं भी पिंजरवर्ती विहग के समान ही बन्द थी। उसके सामने विद्वान्, कलाकार, बलवान्, शास्त्रवेत्ता कहीं कोई न था खड़ा हुआ। उसके चारों ओर तो सुवर्ण ही सुवर्ण था। मनुष्य का कहीं नाम-निशान भी न था। उसका हृदय बिंध गया। उसके मन में विचार आया कि वह इस सब तो तोड़-फोड़ दे, दूर-दूर टुकड़े करके फेंक दे। उसके चारों ओर कुरूप बेढंगे आदमी खड़े थे। कोई बहरा, गूँगा, अपंग और अन्धा। वह सामने, वही बौने से बौना सुशोभन खड़ा था, इन सभी को मार-मारकर निकाल देने की इच्छा हो रही थी उसे। उसने आवेश में आकर अविलम्ब दो-तीन तालियाँ मारीं और चिल्लायी : 'गोपा! ओ गोपा! कहाँ है तू? वहाँ पर कौन है?'

गोपा दौड़ती हुई आ कर बोली: 'महारानी! महारानी! धीरे-धीरे बोलिए न! महाराज स्वयं पधार रहे हैं!'

'महाराज! कौन महाराज गोपा?'

'अरी महारानी, क्यों महाराज को नहीं जानती? वहीं महाराज और कौन? स्वयम् महाराज आ रहे हैं महादेवी? देखिये वे द्वार पर आ गए हैं, आप तो तैयार भी नहीं लगतीं! अमात्य राक्षस भी हैं महाराज के साथ में!

'अमात्य राक्षस?'

'हाँ महादेवी! साथ में अमात्य राक्षस भी आ रहे हैं। कहलाया है कि वे अभी मिलना चाहते हैं।'

'हाँ.......आ.... ।'

बैठने को तो बैठ ही गई महारानी, किन्तु उनका मन तो अभी तक दिवा स्वप्न में उलझा था। उसे लग रहा था कि वह तक्षशिला में है किन्तु अमात्य राक्षस महाराज के साथ इसीलिए तो आ रहा था कि सबका लक्ष्य तक्षशिला की ओर केन्द्रित हो चुका था। वह अलंकार कक्ष में यही तो वहाँ के द्वार पर वही वामन महाराज खड़े थे, उसे देखते ही लाल-पीली होकर वह बोली : 'अरे सुशोभन! तू चला जा यहाँ से, महाराज यहाँ पर पदार्पण कर रहे हैं। जाकर द्वार पर प्रबन्ध करो कि इस समय और कोई ऊपर न आने पाये! जो आए उसे लौटा

देना! तक्षशिला के ब्राह्मण भी आये तो उन्हें लौटा देना!'

'आचार्य आएँ तो?'

आचार्य आएँ चाहे राजकुमार आएँ, किसी को ऊपर न आने देना!

इस बात से अभ्यागारिक आश्चर्यचकित हो गया। उसने महारानी का स्वभाव परिवर्तित देखा। यह सब क्या हुआ है? इस बात का उसे कुछ पता भी न चला। वह यहाँ पर चुपचाप बैठना चाहता था, उसे तो आज महारानी की बातें ही परिवर्तित लग रही थीं, किन्तु वह इस परिवर्तन का कारण न समझ सका। आज तो महादेवी अलग ही लग रही थी, उसे आचार्य के व्यक्तित्व के प्रभाव से यह भान हो रहा था कि महारानी अवश्य ही आज अमात्य राक्षस और महाराज से दो टूक बातें कर लेना चाहेगी। अब तो महादेवी इतनी बदल गयी थी कि उसे विद्वानों, ब्राह्मणों, आचार्यों एवं तक्षशिला से भाग कर आये हुए मनुष्यों पर अधिक विश्वास हो गया था। इन लोगों का गमनागमन भी बढ़ गया था, महारानी भी अनेक बार ऐसा व्यवहार दिखाती थी जैसे वह तक्षशिला में ही है। इस समय तो उसने किसी भी श्रमण-भिक्षु से मिलना जुलना ही बन्द कर दिया था। आज अमात्य राक्षस और महाराज दोनों इसी कारण मिलने आते होंगे कि तक्षशिला के स्वप्नों में महादेवी पाटलिपुत्र के गौरव को विस्मृत कर बैठी हैं। यही बात करने आते होंगे। इन दोनों से यह बात होगी तो सुनने लायक! किन्तु इस समय तो उसे महादेवी की आज्ञा से द्वारपाल को आदेश देने जाना पड़ रहा था।

थोड़ी देर में ही महादेवी अलंकार कक्ष से निकली और उपस्थान कक्ष में आ बैठी। चन्दन के एक सुन्दर विशाल आसन पर दुकूल के बड़े पीठासन के सहारे।

उसने अपने अलक सँवारे, उसका मन अपनी बात कहने के लिए व्यग्र हो रहा था। पर पैरों को नीचे रखकर इस प्रकार सन्नद्ध बैठ गयी जैसे वह दोनों से कहने के लिए सुसज्जित हो। अब वह महाराज के पधारने की प्रतीक्षा कर रही थी। स्वच्छता से बैठकर शान्ति से उसने एक हाथ लम्बा कर रखा था, उसके शरीर का रसभरित तारुण्य इस प्रकार और भी आकर्षक हो रहा था। कन्धे के

ऊपर से नीचे को पड़े हुए दुकूल की रंगीन शोभा ने अचरजभरी मोहकता बढ़ा दी थी, अब वह अमात्य एवं महाराज की प्रतीक्षा कर रही थी।

कुछ क्षणों में द्वार पर एक उन्नत, सशक्त, तेजस्वी मनुष्य दीखा, उसका भरा हुआ सुदीर्घ, सुन्दर शरीर, प्रेमल विजयी विशाल लोचन, एवं शत्रु के आयुधों को झुकाने वाला उसका नित्यस्थिर हास्य, उस योद्धा के रूप का और राजनीतिक, कूट निपुणता के स्वामी भाव का परिचय देने की अपेक्षा एक राजभक्त का परिचय दे रहे थे। पाटलिपुत्र का यह एक सच्चा राजभक्त था, जिसे अमात्य राक्षस कहा जाता था। नन्द वंश का कोई भी दोष इसके हृदय में स्थान न पा सकता था। यह महाराज का मान करता था, राजकुमारों का संरक्षण करता था, यही इसके कार्य थे। यह आगे बढ़ा, इसके साथ-साथ मगध सम्राट् महा पद्मनन्द आ रहा था। उसके मुख पर सम्प्रति तो उसी उग्रता को शान्त रखने वाली छद्म शान्ति विराज रही थी, तो भी उसका अन्तःक्रोध गुप्त न रह सका।

अमात्य राक्षस ने भी आगे बढ़कर दोनों हाथ जोड़े और महादेवी को प्रणाम किया। वह महादेवी के समक्ष रखे आरामासन पर बैठने के लिए और आगे आया।

महाराज महा पद्मनन्द ने जैसे ही महारानी सुनन्दा के पार्श्ववर्त्ती आसन पर बैठने के लिए पैन उठाया था कि तुरन्त ही महादेवी छेड़ी हुई सिंहनी की भाँति गरज कर बोली : 'महाराज आप उस पिछले आसन पर बैठ जाइये, अब मुझसे यह सहा नहीं जाता कि कोई मेरे पार्श्व में बैठे!'

महादेवी के रोषमय कठोर शब्दों को सुनकर महा पद्मनन्द उग्र होकर कुछ कहना ही चाहता था कि तभी अमात्य राक्षस से उसकी आँखें मिल गयीं और महाराज ने मुस्कराते ढंग से कहा : 'अमात्य राक्षस की बात यथार्थ लगती है, महादेवी! तुम्हें तक्षशिला नगरी के आकर्षण ने झुका लिया है। कुमारों की भी यही दशा हो गयी है!'

'अब भी यह आकर्षण न झुकाएगा तो मगध की कलंक कथा स्थिर हो जायेगी। मगध का नाम संस्कृति-विघातक के नाम से गूँज उठेगा। और सब इसके ऊपर थूकेंगे।'

'मैं जानता हूँ देवी! मैं जानता हूँ।' महाराज ने थमते हुए कहा : 'हम आज यही कहने तो आए हैं। हम भी, पाटलिपुत्र को तक्षशिला के समान विद्याधाम बना देना चाहते हैं! क्यों है न राक्षस?'

'हाँ महाराज! तभी तो हम महादेवी से मिलने आए हैं। तक्षशिला के समान ही सांस्कृतिक धाम बनाना चाहते हैं! हम इसे भी। मन्त्रीश्वर शकटार ने विद्यामहोत्सव की घोषणा तो कर ही दी है, और देश-विदेश से विद्वज्जन आने भी लगे हैं। शिल्पी, कुशल कलाकार, संगीत विशारद, वैद्यराज, ज्ञानी एवं नर्तक यहाँ आ रहे हैं। वैशाली के श्रमण गौतम के युग में एक अद्‌भुत नर्तकी आम्रपाली हो चुकी है उसका वारसा सुरक्षित रखने वाली कुछ-एक नर्तकियाँ वहाँ पर हैं, जिन्हें लेकर आर्यमिश्र ब्राह्मण यहाँ आ गये हैं। महादेवी! यहीं पर हमें तक्षशिला-सा विद्याधाम उपस्थित करना है। इस समय तो हम केवल इसी उद्देश्य से आये हैं। मन्त्रीश्वर शकटार की यह योजना महाराज को पसन्द आ गयी है, यहाँ पर तक्षशिला-सा सांस्कृतिक केंद्र ही क्यों, वैशाली-सा विख्यात एक नीलपद्म भी खड़ा करना है, और उसमें एक नगर-शोभिनी का निर्वाचन भी करना है। इन सबसे यहाँ का वातावरण ही बदल जायेगा।'

सुनन्दा को सूझ ही न रहा था कि वह अमात्य राक्षस के प्रश्नों का क्या उत्तर दे? वह तो भरी पड़ी थी कि किसी न किसी प्रकार उन दोनों को जी भर कर खरी खोटी सुनाए। राजकुमारों की अपंगता, नन्देश्वर की काञ्चनमोहिनी में से उद्‌भुत हुई थी। इस काञ्चन ने सबको अकिंचन बना दिया था, यह बात कहने के लिए उसका मन तड़फड़ा रहा था। किन्तु राक्षस ने तो बात का रुख ही बदल दिया था, राक्षस के प्रश्न का उत्तर देने में महादेवी को देर हुई, वह उपेक्षापूर्ण कटुता से भरे स्वर में बोली :

'तुम और महाराज, महा अमात्य, सेनापति आदि सभी कुछ हो। तक्षशिला की संस्कृति का वातावरण किसी ढंग से उत्पन्न कर सकते हो तो करो। इतने पक्षी पिंजरों में बन्द कर रखे हैं उनमें एक और सही।'

'देखिए महादेवि!' अमात्य राक्षस का प्रत्येक शब्द कोमल था, मधुर था, स्नेहिल था, उनमें नन्द वंश के प्रति विशुद्ध, स्वच्छ स्नेह

की धारा दीख रही थी। अमात्य ने तो महाराज्ञी के तीखे वचनों का प्रत्युत्तर भी मीठे शब्दों में ही दिया : 'देखिये महादेवि! इतना बड़ा चक्रवर्त्ती साम्राज्य कभी नहीं हुआ और न ही भविष्य में होने की सम्भावना है। अब तो हम यहाँ पर तक्षशिला विद्याधाम जैसी संस्कारिकता का वातावरण उपस्थित करना चाहते हैं।'

'किन्तु इस सब का श्रेय तो महादेवि! आप को ही है। महाराज भी अब आगे से आप के कार्य में सहयोगी बनना चाहते हैं। मगध का कलंक धो डालना है। बोलिये हमें क्या आदेश है? मैं किस गिनती में हूँ?'

'हमें? मैं करनी वाली कौन होती हूँ? जो कुछ करना चाहें आप कर सकते हैं। आप तो स्वतन्त्र जो हैं!'

'क्यों आप कोई क्यों नहीं होतीं?' आप तो भावी मगध-साम्राज्य के आठ मगधेश्वरों की जननी हैं। आप जो कुछ करना चाहें, कीजिए। और सुनिए महाराज्ञी! महाराज की इच्छा है कि पाटलिपुत्र को तक्षशिला जैसा विद्या और संस्कृति केन्द्र बना दिया जाये, और यह भार मन्त्रीश्वर शटकार के हाथों में रहे। यवनेश्वर आज नहीं तो कल, वहाँ से लौटने वाला है, वह कोई राज्य करने थोड़े ही आया है वहाँ पर।'

'वह तो लौटेगा ही' महादेवी सुनन्दा ने क्रोध को दबाते हुए स्वर में कहा : 'वह पीछे लौटेगा कि नहीं यह तो वही जाने। किन्तु इतना बड़ा साम्राज्य यों ही हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा, इसने पर्वतेश्वरों की चींटी के बराबर भी सहायता न की। वह तो स्वयं को सँभाले रहा। राक्षसराज महान् मगध राज्य की यह स्थिति विशेष स्वस्थ नहीं कही जा सकती। क्या कंचनरक्षक संस्कृति की रक्षा कर सकते हैं कहीं? आज तो तक्षशिला का, नाम के सिवा और बचा ही क्या है? वहाँ कितने-कितने धुरन्धर विद्वान् थे? कैसी संस्कृति और कितने विद्यार्थी? उन सबको धरा लील गई है। वैसे विद्वानों, गुणवानों को बनाते मगध को शताब्दियाँ बीत जायेंगी, स्यात् है शताब्दियों में मगध ऐसे व्यक्तियों को न बना पाये! अब तो तक्षशिला में रहा ही कौन? हमने उस पुनीत धाम को विध्वस्त होने दिया, और अब आप चले हैं वैसा ही विद्याधाम बनाने इस पाटलिपुत्र को! जिन्होंने एक सैनिक

भेजकर भी उसकी रक्षा में भाग न लिया। हाँ, हाँ अमात्यवर! थूक के बड़े पकाने के क्या हर्ज है, सुनने और कहने में यह योजना बड़ी कारगर होगी। आपका ध्येय सत्य हो सकता है?'

अमात्य राक्षस का मन जाने प्रेम विनय के पयोधि से परिपूर्ण था, तभी तो जितनी अधिक कटुता, तीव्रता, तीक्ष्णता महादेवी के शब्दों में बढ़ती थी, वह उतना ही विनीत और नम्र बन रहा था, अपना महान् सुमधुर सौजन्य प्रदर्शित कर रहा था।

और आज तो वह इसी कार्य से आया था। वह तो किसी भी भाव अपनी उद्देश्य-सिद्धि करना चाहता था, महाराज्ञी को भुलावा देना चाह रहा था। शकटार मन्त्रीश्वर से सुवर्ण मिला नहीं कि फिर तो वह परिस्थितियों का प्रभु है। उसने अधिकाधिक प्रेम प्रत्युत्तर दिया। अब की बार तो अमात्य के सुनहरे बालों के साथ में सुनहरे स्वप्न भी सम्मिलित थे। वह हाथ जोड़कर बोला : 'देखिये सम्राज्ञी! महाराज चाहते हैं कि मगध साम्राज्य ठेठ तक्षशिला तक फैल जाये!'

'तो वह दिन, राक्षस अमात्य! केवल तक्षशिला के विनाश का न होगा! समस्त संस्कृति संरक्षण समीर नष्ट हो जायेगा! अपना कुल संस्कृति-संरक्षण के लिए नहीं बना है, हम तो बर्बरक हैं, हम से तो विनाश ही हो सकता है, सुवर्ण संचय किया जा सकता है, दुःशासन का दुःस्वरूप प्रदर्शित किया जा सकता है। आप तक्षशिला पहुँचे कि सब विनाश दृश्य उपस्थित हुए। आपकी सेना बलवती है, किन्तु आपसे सर्जन नहीं हो सकता, आप विनाशक जो हैं। दक्षिण में एक रावण विनाशक था, तो यहाँ पूर्व में आप दूसरे हुए हैं।'

'महाराज्ञी! महादेवी! आप ठीक कहती हैं, किन्तु बर्बरक जब थे तब, अब तो नहीं हैं। मेरी बात को आप ध्यान से समझिये, यही मेरी प्रार्थना है। देखिये हम तो तक्षशिला नगरी को मगध साम्राज्य की दूसरी, पाश्चात्य राजधानी बनाना चाहते हैं। पाटलिपुत्र का युवराज वहाँ रहेगा। आचार्य को योग्य बनाने के लिए सौंप दिया है। आचार्य से वह राजनीति सीखेगा, यह बात महाराज को पसन्द है। महाराज को यह कार्य स्वयं न करने का पश्चात्ताप है। अब आप चाहेंगी तो यह कोर्य नहीं रुकेगा।'

महारानी सुनन्दा को यह बात प्रभावित कर गयी। उसके मन में,

तक्षशिला के स्वतन्त्र महान् साम्राज्य का युवराज सुकल्प हो—यह भावना जागृत हो गई। यही तो महारानी की निहित कामना थी। सुनन्दा का मातृत्व उद्बुद्ध हुआ, यह बात उसके पुत्र के लिए उसने स्वर्णिम-स्वप्नों के समान देखी। उसने आज ही तो तक्षशिला का स्वप्न देखा था, इसका कारण कहीं यही बात तो नहीं है?

वह सुखद-स्वप्नों में जा पहुँची, वह शान्ति से कहने लगी : 'देखो अमात्य! शकटार मन्त्रीश्वर अपने ही हैं। वे हमारे यश के लिए ही प्रयत्न कर रहे हैं। अभी तक तो मगध की कीर्ति विशेष सम्मानित नहीं है, विद्वान् यहाँ आने की प्रेरणा नहीं पा रहे हैं। ब्राह्मण भी मगध को अनिष्ट मानते हैं। शकटार ने वह दूषित वातावरण बदल दिया है। विद्या-महोत्सव की घोषणा होते ही पाटलिपुत्र का रंग-रूप ही बदल गया है। उल्टे हमको चाहिये कि शकटार की सहायता करें।'

'हम तो उन्हें सहायता देंगे ही महादेवी! हमारी तो यह भी अभिलाषा है कि हम एक-दूसरी बड़ी सेना तैयार करें, उपसेनापति-पुष्पमित्र को उसका प्रधान चमूपति बनाया जाए, युवराज सुकल्प उसका संचालन करें, उत्तरदायित्व से युवराज में शक्ति-सम्पन्नता आयेगी। शकटार मंत्रीश्वर साथ में जाएं, वृद्ध एवं राजनीति पुरुष के रूप में इनका साथ में जाना उपयुक्त है। जैसे ही यवनेश्वर अलक्षेन्द्र वहाँ से विदा हो कि हम वहाँ जा धमकें। यह आवश्यक है। सेना अविलम्ब प्रस्तुत करनी होगी, जब तक पर्वतेश्वर पारम्परिक द्वेष में निमग्न हैं, तब तक हमारी सेना तक्षशिला में प्रविष्ट हो जाये, आम्भि अपनी कीर्ति खो चुका है, उसकी प्रतिष्ठा कहीं पर भी नहीं है अतः हम सफल हो जायेंगे। हमारे द्वारा वातावरण-परिवर्तन की बातें फैल रही हैं, इस हेतु तक्षशिला भी हमारा स्वागत-सत्कार करेगा। किन्तु यह बड़ी भारी सेना, समस्त व्यूह-रचना, और इन सब का भारी भार महादेवी! महाराज आपके सिर पर छोड़ देना चाहते हैं, आप इसी को महाराज का पश्चात्ताप गिन लीजिए, इनकी गौरव-जागृति समझो, युवराज को सज्जित करने का कार्यक्रम समझो, जैसा चाहो समझो। परन्तु महाराज की तो अब एक ही इच्छा है—अन्तिम से भी अन्तिम कि इस महान् मगध

साम्राज्य की राजधानी को सांस्कृतिक धाम बनाकर कलंक कालिमामिटा जाएँ, स्वयं कीर्तिमान् रखकर मरने की!'

'तुम सत्य कहते हो राक्षस अमात्य?'

'मेरी तो महादेवी! बस एक ही इच्छा है, जैसा कि लोग जानते हैं कि मैं नन्दवंश का भक्त हूँ, वैसा ही आप भी मानें!'

'किन्तु महाराज?'

'अपनी बात को महाराज स्वयं कहेंगे भी!' महाराज महा पद्मनन्द ने अभी तक तो अमात्य राक्षस को ही बोलने दिया था, किन्तु वातावरण के अनुकूल होते ही वह बोला : 'देवी! मैं भी तो मानव हूँ, मेरे मन को एक प्रकार की जो लघुता सदैव काटती रहती है, मैं चाहता हूँ कि मेरे उत्तराधिकारी उससे मुक्त रहें। मैं यही करना चाहता हूँ। मुझे ज्ञात है कि तुम्हें इस बात से खिन्नता है, इसी के लिए तो यहाँ पाटलिपुत्र में अद्भुत, महान् संस्कृति-धाम प्रतिष्ठित करना आवश्यक है, अपनी लघुता-परिमार्जन के लिए। शकटार मन्त्रीश्वर को सर्वथा स्वतन्त्रा दी है तो केवल इसी बात के लिए ही। राक्षस इस बात को जानते हैं। इस महान् साम्राज्य के दो संस्कृति धाम, दो महान् राजधानियाँ। दो समान सत्ताधारी राजा होंगे, दो कोश होंगे, एक कोश तो अभी है ही, दूसरे शकटार वाले कोश को आप तक्षशिला के लिए ले लीजिये, बस, मैं इतना ही कहना चाहता था, और शकटार मंत्रीश्वर अपना कोश आप को देने में अविनय नहीं करेंगे, यह आप मुझ से अधिक जानती हैं!'

महा पद्मनन्द ने शकटार वाले कोश की माँग को महारानी सुनन्दा के लिए छोड़ दिया था, और वह महारानी के प्रत्युतर की बात देखने लगा।

महारानी तो अपने पुत्र सुकल्प के भविष्य के आकृष्ट हो रही थी। किन्तु ये दोनों उसे इसी ढंग से हाथ में करना न चाहते हों, इस अभिप्राय से शंकित-सी महारानी सावधान होकर बोली।

'देखो अमात्य राक्षस, शकटार मंत्रीश्वर जीते दम तक तो कोश देने से रहा!'

'महादेवी! हमें पता है इस बात का! हमें वह न बताएं, न सही, हमें चाहिये भी नहीं, केवल नंदवंश की प्रतिष्ठा बनी रहे और वह

कोश उत्तराधिकारी को ही मिले, केवल इसीलिए हमने यह बात छेड़ी है। हमें आपसे कुछ गुप्त थोड़े ही रखना है। इतना समृद्ध कोश है, अपार सेना है, राजभक्त सेनापति हैं, शकटार का मन सन्तुष्ट रहता है, मगध को 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' संस्कृति धाम सजीवन करने की कीर्ति मिल रही है, जीवन में इससे अधिक और क्या चाहिये? इन सारी बातों का ध्यान करके ही हमने आपसे कहा है। अब आपको जो ठीक लगे, वह कीजिए!'

'मुझे और क्या करना है? शकटार मन्त्रीश्वर का मन आश्वस्त हो जाये तो पर्याप्त है, यह बात ही ऐसी है।'

'और महादेवी! शकटार के मन में महाराज के प्रति जो दुर्भावना बैठी है आप उसे दूर कर सकती हैं। आपको ज्ञात है कि मुझे राक्षस क्यों कहा जाता है? यों ही झूठमूझ में नहीं, व्यर्थ में नहीं, शकटार मंत्रीश्वर के पुत्र का घाती मैं हूँ, महाराज नहीं हैं, आप उसे यह कह देना—मैं वह हत्या स्वीकार करता हूँ।'

"अरे, अरे! अमात्य!"

"महादेवी! महाराज्ञी!" राक्षस अमात्य की बदली हुई आवाज को सुनकर रानी सुनन्दा को आश्चर्य लगा। उसे हुआ कि जनता ही मान्यता सच्ची है—राक्षस अमात्य की नन्दवंश-भक्ति —"केवल महाराज के ही लिए नहीं, किन्तु नन्दवंश के किसी भी वारिस के लिए मेरा मस्तक सदैव प्रस्तुत है आपको चाहिए तो आप भी मांग कर देखो। महादेवी! मस्तक का मूल्य जो हृदय होता है। आपको मस्तक न्यौछावर करने वाला भी तो हृदय की होगा न। हाँ, आन्तरिक कलह तो आप सब का सर्वनाश कर देगा। अब हम आपसे बातें कर चुके हैं, आज्ञा दीजिए हम चलें। आपको जैसा लगे, वैसा करें। उपसेनापति पुष्पमित्र वैश्य आपकी आज्ञा में दिन रात खड़े रहेंगे। सैन्य सज्जा का समस्त भार उन्हीं पर छोड़ दीजिए, तक्षशिला की ओर कब प्रस्थान करना होगा, इसका निश्चय तो बाद में हो जाएगा। अच्छा अब हम चलते हैं।"

सुनन्दा को विचारों में डुबाकर अमात्य राक्षस और महाराज, जैसे आए वैसे ही चले गए।

सुनन्दा को स्वर्णिम स्वप्नों का संसार आकृष्ट कर रहा था।

तक्षशिला की ओर प्रस्थान करना कोई साधारण कार्य न था। वह जल्दी ही पाटलिपुत्र के बन्धनों से छूटकर आनन्दित होना चाहती थी। बन्धन-मुक्त का यह आनन्द असाधारण था।

विचारों में सुनन्दा ने काँस्य-घण्ट बजाया।

गोपा प्रस्तुत हो गई। "पुष्पगुप्त उपसेनापति को बुलाओ—" महादेवी की आज्ञा हुई।

१९

हत्या में आनन्द

राक्षस अमात्य ने एक रात अचानक भीषण घोषणा करवाई। इस घोषणा में सारी नगरी प्रतिध्वनित हो गई। इस घोषणा को सुनते ही वृद्ध मन्त्रीश्वर शकटार विचारों में गुँथ गया। आचार्य विष्णुगुप्त मनोमन्थन करने लगे। घोषणा थी—"सुनिए, पुरवासियो! महाराज पद्मनन्द पाटलिपुत्र नगरी में नीलपद्म भवन का निर्माण कर रहे हैं। इसमें नगर की परमसुन्दरी का शोभा-सदन रहेगा। इन्द्र-भवन के समान रमणीय स्थान, नदी हिरण्यवती की जलस्थली पर बनेगा। मगध के महान् साम्राज्य की नगर-शोभिनी का वरण, आगामी पूर्णिमासी की शुभ्र रजनी में महादेवी साम्राज्ञी स्वयमेव हिरण्यवती के कूल पर, कुसुमवन में करेंगी। देश-विदेश की नृत्यांगनाओ! नगर-नारियो! महाराज की इस घोषणा को सावधानी से सुनो! कुसुमवन में सब उपस्थित रहें। आगामी पूर्णिमासी के दिन चाँदनी रात में याम यामिनी व्यतीत होने पर नगर-शोभिनी का अभिषेक कुंकुम जिसके ऊपर छिड़का जाएगा, उसे महाराज एक कोटि का कंचन देंगे। राक्षस अमात्य यह घोषणा करा रहे हैं। नागरिको, सुनिए! सुनिए, नर-नारियो।"

ठौर-ठौर पर प्रतिध्वनित इस घोषणा ने पाटलिपुत्र में नव जीवन भर दिया। स्थान-स्थान पर इस नूतन प्रणाली की सुखद चर्चा होने लगी। महाराज महा पद्मनन्द की उदारता की बातें गूँजने लगी। देश-विदेश मे प्रवासी एवं यात्रीगण भी इस घोषणा को सुनकर स्तब्ध रह गए। नन्दराज के राज्य में हवा भी मुक्तरूप से नहीं बह सकती—ऐसे

जो विचार, लोगों के हृदय में समाये थे, बदलने से लगे।

अमात्य राक्षस की इस घोषणा से समस्त वातावरण बदल गया।

सबको लगा कि अब नगरी में संगीत, आनन्द, विनोद, प्रमोद, शिल्पकला, कौशल, चातुर्य एवं संस्कृति की स्थापना होगी। मगध की राजधानी भी तक्षशिला के समान ही विद्यास्थली बन जाएगी। इस घोषणा ने जनता के मनों में साम्राज्ञी सुनन्दा के वर्चस्व को स्वीकार कर लिया कि महाराज पराजित हो गए हैं महारानी से। महा पद्मनन्द की असंस्कारिता और अनीति पर नियन्त्रण आ गया है, जिसका यह मंगल सूत्रपात है।

वर्षों पूर्व वैशाली की वैभव-वेला में वहाँ आम्रपाली नाम की प्रख्यात नगर-शाभिनी थी। वह युग ऐसा था कि प्रत्येक नगर-शोभिनियों से भरा था। राजगृह अवन्ती, ताम्रलिप्ति एवं कौशाम्बी आदि राज-नगरियों से शोभायमान थीं। किन्तु उस काल में ही समृद्ध नगरी में आज तक किसी ने नगर-शोभिनी का नाम भी नहीं सुना। यहाँ की प्रजा तो इस नाम की कल्पना में गोते लगा रही थी कि नगर-शोभिनी कैसी और कौन होती है? नगर-शोभिनी-विचारों में अनेक बार पूरी नगरी को प्रेरणा का पय पिलाया था। अब की बार पाटलिपुत्र में भी इस प्रथा के प्रारम्भ ने सारी प्रजा के मनों को हरा-भरा कर दिया। अमात्य राक्षस के लिए तो यह एक राजनीतिक चालमात्र थी। वह तो इस ढंग से महादेवी के अन्तर्द्वेष को टालने की विधि गढ़ रहा था। इसी के लिए वह वातावरण बदल रहा था। अब शकटार मन्त्रीश्वर किसी भी रूप में सुवर्ण कोष न बताने की स्थिति में न रह पाया था। वह निषेध करे भी तो अब महादेवी स्वयमेव उससे कंचन कोष की मांग करने वाली थी, इस घोषणा से यह परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी।

किन्तु अमात्य राक्षस के मन में एक दूसरी ही बात थी। उसे शंका हो गई कि पाटलिपुत्र में विषकन्या आ गई है। फलतः उसे नन्दकुल की कुशलता में पूर्ण संदेह था।

नन्दराज और अन्य-अनेक को वह मार सकती थी। नन्दवंश के रक्त में निर्बलता घर कर गई थी। कांचन और कामिनी की ओर इस वंश का विशेष आकर्षण था। अतः राक्षस इस विषैली बेल को मूल

से काट देना चाहता था। ऐसा भयंकर शस्त्र शकटार बनाएगा, इस बात को राक्षस ने कभी सोचा भी न था। उसकी वैराग्नि शीलता क्रूरता की सीमा लाँघ गई थी, इस विष-वल्लरी में नन्दवंश को क्षण के षष्ठ भाग में भी विनष्ट करने की शक्ति समाविष्ट थी। राक्षस की घोषणा का यही महत्त्व था कि स्यात् हिरण्य के प्रलोभन से विषकन्या बाहर आए। नगर-शोभिनी की पदप्रतिष्ठा से आकृष्ट होकर उपस्थित हो जाए, सम्भवतः शकटार ही उसे भेज दे, उसका उद्देश्य निजी रूप में पूर्ण हो रहा था। और वह तो किसी भी प्रकार स्व-उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता था। ऐसी विचित्र नारी पाटलिपुत्र में रहती है, बस, वह तो यही चाहता है था कि महाराज महा पद्मनन्द को इसका ज्ञान हो जाए किसी भी प्रकार से! बाद में तो मन अपना कार्य स्वयं कर लेगा। यह भी एक ध्येय हो सकता है और मन्त्री विषकन्या को भेज दे! वह तो नन्दवंश का उच्छेदन करना चाहता था—किसी भी रूप में। अमात्य राक्षस यह जानता था कि और तभी वह इस कदम को आगे बढ़ा सका। अब तो परिणाम की प्रतीक्षा में था।

पूर्णमासी के कुछ दिन शेष थे, एक दिन वह शांत रजनी में चाँदनी भरे अपने उद्यान में इधर-उधर चक्कर काट रहा था, उसकी घोषणा के अनुसार नगर एवं बाहर की अनेक नर्तकियाँ अपने भाग्य-परीक्षण के लिए एकत्र हो रही थीं, यह सूचना इस मिलती रहती थी। सबको आशा थी कि यदि महा पद्मनन्द नगर-शोभिनी को सजीवन करेगा तो नगर के श्रेष्ठ सप्तकों में से उसका भी समावेश होगा। राजा, मन्त्रीश्वर, नगरश्रेष्ठी, सारथी इत्यादिकों के समान नगर-शोभिनी गिनी जाएगी, यह महत्ता महान् थी, अनेक नर्तकियाँ तो पाटलिपुत्र के परिवर्तनीय वातावरण के कारण आ रही थीं यहां। इनमें अनेक तो राक्षस के समीप बातें जानने के लिए भी आ रही थीं, किन्तु राक्षस जिसकी प्रतीक्षा में था, वह विषकन्या अभी तक कहीं देखने में न आयी। राक्षस को शंका उठी, कि सम्भवतः उसे भ्रम हो गया है।

राक्षस अनुमान करने लगा कि यदि विषकन्या होगी तो कहाँ होगी? शकटार के संरक्षण में होगी तो उसके सान्निध्य में ही होगी

कहीं भूगर्भ में! राक्षस ने गुप्तचरों को भेजा विभिन्न देशों में शकटार के प्रासाद के भूगर्भ के निरीक्षण के लिए, किन्तु कहीं कुछ न पता लगा, अन्त में राक्षस ने एक चित्रकार को भेजा, चित्रकार उधर गया और निरन्तर, रात दिन एक वृक्ष की ओट में छिपकर उस विषकन्या का हूबहू चित्र खींच लिया, भूगर्भ के एक गवाक्ष में से चित्रकार ने विषकन्या को बाहर झांकते देखा। वह ताक में बैठा रहा और उसने रेखा पर रेखा खींचकर उसका चित्र उतारा। उसने वह चित्र देखा तो उसे विश्वास हो गया कि विषकन्या तो अवश्य है। दूसरी ओर इस प्रकार गर्भ-गृह में छिपाकर नहीं रखा जा सकता। पर वह तो शकटार के अधीन थी, अतः राक्षस सोचता रहा कि जैसे मन्त्रीश्वर के पास ढेरों सोना था, और उसे कोई ले नहीं सकता था, उसी प्रकार यह भी एक नयी समस्या थी। वह इसे पद्मनन्द के नाश के लिए ही लाया था। किन्तु यदि किसी प्रकार शकटार को पता चल गया कि कोई विषकन्या की बात को जानता है तो शकटार विषकन्या को भूमिसात् भी कर देगा, फिर वह विषकन्या का प्रयोग न करे। और सोना भी न बताए। राक्षस तो अब यही चाहता था कि किसी प्रकार यह शस्त्र उसके हाथों में आ जाये।

सैन्य भेजकर विषकन्या को बलात् हस्तगत करें तो शकटार एक फूटा कार्षापण भी न बताएगा और असंख्य सुवर्ण मुद्राएं मिलने से रह जाएँगी, फिर महा पद्मनन्द के कोप का भी ठिकाना न रहे, इस युक्ति से राक्षस का अपने प्राणों को भी भय लगा।

अतएव यह मार्ग अपनाने योग्य न था। शकटार उसे भेजेगा यह जचता नहीं है।

एक ही मार्ग था, विषकन्या स्वयं ही लोभ से आकृष्ट होकर आये तो! अत एव राक्षस घोषणा करता रहा। जैसे-जैसे पूर्णिमा का दिन निकट आता गया वैसे-वैसे घोषणा भी तीन-तीन बार होती रही। वह जानता था कि विषकन्या का स्वभाव स्वयं हिंसक होता है। किसी को मार डालने की उसकी अदम्य इच्छा रहती है। इसी ऊहापोह में वह बाहर निकल आए, कोटि कांचन दस कोटि तक पहुंच गया, प्रजा का कुतूहल बढ़ गया, देश भर में ऐसी अद्भुत नारी के लिए जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। दूर-दूर से नर्तकियाँ आती रहीं। शकटार के प्रासाद

के भूमिगृह में बैठी विषकन्या के कानों में भी यह घोषणा टकराई, न जाने इस घोषणा उसके मन में क्या उथल-पुथल मचाई कि एक दिन बाहर आने का निश्चय कर बैठी। और एक चाँदनी रात में उसने बाहर आने का निश्चय कर लिया। उसके आस-पास दो-चार द्वारपाल पहरा लगा रहे थे, वे जाग रहे थे, और इसी के बारे में बातें कर रहे थे। विषकन्या ने द्वार पर आकर उनकी बातें सुनीं।

इन बातों को सुनकर उसके मन में आनन्द का ज्वार चढ़ा। उसे ध्यान आया कि उसके पास तो वह शक्ति है, जिससे वह किसी को भी बेदीन बनाकर फना कर सकती है। इस हिंसका शक्ति का मद उसमें जाग्रत हो गया। वह उसी मद से बाहर निकल पड़ी, जैसे उसके ऊपर किसी का निरीक्षण न हो। सब उसे देखते ही चौंके। जिसके सामने से ही मनुष्य निर्जीव बन जाता हो, उसे भला कौन है ऐसा, जो चाहते हुए भी ना कर सकेगा? वह उनके पास शांति से खड़ी रही। उसका अकारण स्मित इतना भीषण था कि एक ने सहज परवस बनकर उसकी ओर अपने हाथ फैला दिए। दूसरा हँसने लगा। किन्तु परवशता के इन दो ही क्षणों में तो विषकन्या निकलकर चली गई दूर। उसके चले जाने पर जब इन्हें भान हुआ तो इनके दिल बैठ गए। वे लोग इसी बुलावे में बैठे रहे कि वह थोड़ा-सा फेरा लगाकर अभी लौट आएगी। इधर इनके कानों में अशान्ति बढ़ रही थी और इधर विषकन्या निकल कर सीधी अमात्य राक्षस के भवन की ओर चल दी।

उसे, स्वयं को ज्ञात न था कि वह किधर चली जा रही है, और क्यों जा रही है? बाहर घूमते हुए अमात्य राक्षस के सामने जाकर विषकन्या जब खड़ी हो गई, तब पता चला उसे कि उसके हृदय में तो एक प्रकार के हिंसक आनन्द का अदम्य ज्वार चढ़ा है। वह किसी को मारने के लिए तड़प रही है।

उसके मन में तो ऐसा हो रहा था कि हँसती जाए! सब को मारती जाए! अमात्य राक्षस प्रथम तो अपने सामने खड़ी स्त्री को देखकर चकरा गया। किन्तु जैसे ही उसने चेहरा देखा, वैसे ही वह व्याकुल हो गया, क्षण-भर के लिए। प्रथम तो अमात्य को लगा कि शकटार ने उसी को मारने के लिए इस विषकन्या को भेजा है,

श्रीगणेश उसी से होगा। और अन्त नन्द निकन्द में होगा। वह त्वरित ही सावधान हो गया। दृढ़ता से वह स्थिर वहीं का वहीं खड़ा रहा। आकृति पर कठोरता और वाणी में कर्कशता, क्रोध एवं घृणा भरते हुए ऊँचे स्वर में कहः 'कौन है तू? तेरा इधर क्या काम है?'

'मैं?' विषकन्या बोली—'मुझे नहीं पहचाना तुमने?' मैं पाटलिपुत्र की नगर-शोभिनी बनने के लिए आयी हूँ! मैं नगर शोभिनी हूँ!'

राक्षस विषकन्या के प्रत्येक अक्षर से उभरते हुए अवशकारी स्वरभार को सुनता रहा वह तो वहीं पर सीधी, पतली-सी यष्टि की भांति खड़ी रही। वह ऐसी लग रही थी कि जैसे कोई डंकीली नागिन तेज होकर अपनी पूँछ पर सीधी खड़ी हो गई हो, उसके आस-पास के कण-कण से। किन्तु अभी तक उसने उसके विलासमय स्वरों के भार का आवरण उठा न था।

राक्षस अमात्य इस भयंकर तूफान के सामने टक्कर लेने का प्रयास कर रहा था। एक क्षण की निर्बलता भी तो उसे अस्तित्व शून्य बनाने में सशक्त थी। उसने जीवन में ऐसा युद्ध कभी न देखा था। इस सुन्दरी के मुख से निकलते बोल इतने आकर्षक आ रहे थे, इसका प्रत्येक शब्द इतना मोहक था कि यह पार्श्ववर्ती पुरुष को अपने प्रेम में प्रमत्त बना देगी दूर खड़ी होकर भी, इतनी शक्ति भरी थी इसमें! ऐसा जाम पिलाने की क्षमता थी इसमें। यह निश्चित रूपेण मोहिनी थी, इससे भी अधिक।

किन्तु उस समय तो इसका यहाँ आना ही पर्याप्त था। राक्षस सर्वथा सावधान हो गया, वह इतना सावधान हो गया कि उसके एक शब्द में भी अन्तर्निहित राग का प्रकाशन न हो, उसे इसकी बड़ी भारी चिन्ता थी। वह इस समय तो सजग प्रहरी बना था!

'तेरा रूप तो नगर-शोभिनी तो क्या भुवन-शोभिनी बना सकता है। नगर-शोभिनी बनकर क्या करेगी तू?'

'मन्त्रीराज! मेरा हृदय तड़प रहा है, मुझसे अब अपना रूप लावण्य नहीं सहा जाता! मैं अब प्रकट होना चाहती हूँ। मैं अब इस स्थिति में नहीं सह सकती!'

'क्या नहीं सह सकती?'

'रूप का भार!' विषकन्या बोली। किन्तु इतना कहते-कहते तो

उसके मुख पर भी इतनी मोहक छटा छा गई कि सावधान रहते हुए भी राक्षस परवशता के लिए एकदम आगे बढ़ गया। कदम तो एक ही था किन्तु इसमें भयंकरता थी, राक्षस ने तुरन्त ही स्वयं को सँभाला। उसने अपने दोनों हाथों की मुट्ठियों को बांधा, पैरों को लोहे की कीलों की भाँति जहाँ के तहाँ जमा दिए। वह जब सुशर्मा नाम से विख्यात था, तब हठयोग का एक सफल साधक था, इस समय तो वही पूर्वाभ्यास लाभदायक बन रहा था।

'रूप का भार मन्त्रीश्वर!' विषकन्या फिर से वही शब्द बोली, किन्तु इस बार के स्वरों में इतनी कोमलता भरी थी कि मानो राक्षस अंग-अंग को नारी की कोमल काया का सुखद स्पर्श हो रहा हो! शब्दों के ये कोमल स्पर्श की काया स्पर्श के तुल्य हो रहे थे यह बात तो अत्यंत भयंकर थी।

इतनी दूर से भी यह नारी मुझे आलिंगित कर सकती है क्या? ऐसी भ्रान्ति में से राक्षस जागे कि इससे पूर्व ही विषकन्या बोली : 'मन्त्रीश्वर! मेरे दिल में एक महान् आनन्द का ज्वार आ रहा है, मेरे नयनों के सामने वह उठता हुआ, दौड़ता हुआ, बढ़ा आ रहा है, वह मुझे भगाए जा रहा है। जैसे जल-ज्वार मनुष्य को बहा ले जाता है, उसी प्रकार मैं बही जा रही हूँ। वही मुझे यहाँ तक बहा लाया है, मेरा रूप अब किसी को अपनाने का आनन्द लेना चाहता है, मैं अब, मैं न रह कर रूपात्मक बन गई हूँ। वही रूप आनन्द लेने के लिए बाहर निकल आया है। मुझसे अब नहीं रहा जाता!' कहकर मौन हो गई। लगता था कि वह भी पराधीन है। तभी तो उससे बोला गया। यह सुनते ही राक्षस स्तब्ध और दिङ्मूढ़ हो गया। विषकन्या अवशभाव से कहती रही: 'मैं किसी की हत्या करना चाहती हूँ। हत्या में एक विशिष्ट आनन्द है। वह मेरे रोम-रोम में समाविष्ट है। मैं तुम्हें यह कैसे समझाऊँ? तुम्हें अपने शत्रु को मारना हो तो। उसके पास मुझे भेज दो—मुझे कहीं भी भेज दो मन्त्रीश्वर! मुझे किसी के मारने का आनन्द दिलाओ! ऐसी चन्द्रिका को देखकर तो इच्छा होती है कि कितनों को मार दूँ जान से! मैं तो हत्या के आनन्द-लाभ के लिए यहाँ आयी हूँ, बोलो किसको मारूँ? किसे मरवाना चाहते हो?'

राक्षस को समझते देर न लगी। दस कोटि के कांचन के लोभ

से वह नहीं आई है। इसके रोम-रोम में व्याप्त विष इसे किसी को मारने के लिए तड़पा रहा है, यह भी तो परवशतावश ऐसा करने के लिए विवश हो गई है।

राक्षस ने तुरन्त ही दो-तीन तालियाँ बजाईं। उसके इस संकेत के साथ ही चारों ओर के सशस्त्र यवनियाँ दौड़ती हुई आ गयीं। राक्षस ने जल्दी से उन्हें आदेश दिया : 'इसे एकदम पकड़ लो, और नीचे भूगर्भ में धकेल दो। पकड़ लो इसे।'

विषकन्या को पकड़ने के लिए यवनियाँ दौड़ीं।

राक्षस ने सोचा कि यह हो-हुल्ला मचायेगी। किन्तु वह चुपचाप बन्धन में आ गई। बिना बोले-चाले। उसे पता था कि उसे पकड़ने वाले उसके शिकार हैं। उसे पकड़कर कोई क्या करेगा, वे तो स्वयं ही इसके अधीन हो जाने वाले थे।

'अपना वह दुल्लड़-सा दास है न, जिस जीवन में कोई आनन्द नहीं है, उसो को इसकी चाकरी में रख दें।'

किसी महान् विषधर की खुराक देनी हो, इस भाँति ही राक्षस अमात्य कह गया।

'और भूगर्भ के लौह द्वार को भी बन्द कर दो। इसे ले जाकर बन्धनगार में डाल दो।'

इस आदेश को सुनकर दैनिक स्मित के समान ही उसका मुख विहँसता रहा और वह बन्धन में आ गई सहर्ष।

परन्तु यवनियों के मनों में उसके मुख के स्मित को बारम्बार देखने की इच्छा उठ रही थी।

राक्षस ने यह देखा। विषकन्या कहीं छटक न जाए, इसलिए उसने स्वयं ही बंधनगार के लौह द्वार को बन्द किया। और कुञ्जी अपने पास रख ली।

दूसरे दिन से राक्षस अमात्य के घर चित्रकार एवं कुशल शिल्पी आने-जाने लगे। किन्तु उसमें एक बड़ा अद्भुत शिल्पी था। मोम के ऊपर वह ऐसा कार्य करता था कि मनुष्य दाँतो तले-अंगुली दबा ले। यह शिल्पी सिंघल-द्वीप से आया था। राक्षस इसे बारम्बार अपने यहाँ बुलाता रहा।

२०

शकटार की कठिनाई

विषकन्या का अदृश्य होने का समाचार सुनकर शकटार मन्त्रीश्वर क्षण भर क्रोध से प्रमत्त सा हो गया। उसे लगा कि उसकी समस्त शक्ति लुप्त हो गई है। वह जीवन ही हार गया। प्रथम तो उसने चाहा कि आर्यमिश्र को ही ठण्डा करदे, किन्तु उसे मारने से क्या लाभ? भूल तो इसी को थी। मारने से बात प्रकट होने की शक्यता थी। चाणक्य से भी कहने से क्या लाभ? यह आघात तो उसे स्वयं ही सहना था। उसने तो सोचा था कि उसकी पालिता-पोषिता कन्या उसी की हो गई है। किन्तु यह तो वह भूल ही गया कि विषकन्या की भी अपनी कोई दुनिया है। विषकन्या ने चोट की होगी तो सम्भव है कि राक्षस को इसका ज्ञान ही न हो।

परन्तु उसकी पीड़ा का अन्त न था। किनारे लगा हुआ जलयान डूब रहा था। वह तो अपने वैर की सिद्धि होने पर वनवासी बनकर ऋषि जीवन बिताने वाला था। यह संकल्प किया था उसने। किन्तु इस घटना से उसकी सारी आशाओं पर तुषारापात हो गया था अतः शकटार क्रोध में इधर-उधर चक्कर काट रहा था। उसका निर्बल क्रोध उसी को जला रहा था।

शकटार मन्त्रीश्वर की दृष्टि आकाश में टिक गयी। उसे लगा कि उसके तरुण पुत्र का विहँसता वदन नभ में घूम रहा है। वैर—वैर लेना—यह साधारण न था। वैर कोई गरीब-गुरबा थोड़े ही ले सकते हैं। वैर—प्रतिशोध वही ले सकता है जिसने अपनी जान को हथेली पर रखा हो। वह स्वयं अब कुछ न कर सकता था, इसी बेबसी से उसके नयनों में आँसू छलक उठे। समाचार लाने वाले को शकटार के संकेत से जाने ही आज्ञा दी।

अब नन्द से वैर कैसे लेना चाहिये, शकटार की समझ में यह बात न आ रही थी। वह तो वास्तविक अर्थों में अवैर-भाव भी बता सका था और वैर भी न ले सका था। केवल निर्बल सी बात कर पाया था। मन मसोसना और मुख से विद्याधाम की बातें करना।

अब आगामीकल कोई न कोई महाराज्ञी का ही सन्देशवाहक

आकर उसके सामने खड़ा होगा। सुवर्ण कोश की माँग करेगा तो वह कोश कहाँ से बताऊंगा।

वह प्रतिशोध लेने में असफल रहा। वह बाजी हार चुका था, नन्दराज अथवा महादेवी, दोनों में से कोई न कोई अब उसे मरवा देगा, यह अवस्था आ गयी थी अब। अमात्य राक्षस की विजय हो गई थी।

मन्त्रीश्वर के हृदय में अब एक ही आशा थी। ऐसा कोई निकल आए जो इसके प्रतिशोध को अपने माथे ले ले! ऐसा कोई हो तो वह उसी को अपना सुवर्ण कोश बताना चाहता था।

उसने चारों ओर देखा, आर्यमिश्र? बातून। महादेवी? कल्पना दासी, पुष्पगुप्त? उपसेनापति? शकटार को इससे कुछ आशा थी। पर वह तो छोकरा था। यह क्या कर सकेगा? जो इस अमात्य राक्षस को जीत लेगा, वही नन्द निकन्दन कर सकेगा। ऐसा व्यक्ति तो शकटार की दृष्टि में एक ही आ रहा था, तभी एक परिचित स्वर को सुनकर मन्त्रीश्वर चकित हो गया। अरे यह किसका स्वर है? वह सोचता रहा परन्तु स्वर में इतना क्रोध भरा था कि यह रोष की एक स्वतन्त्र शस्त्र बना जा रहा है!

निकन्दन न करूँ तो : मैं ब्राह्मण का पुत्र नहीं—मैं तो बर्बरक पुत्र। तू भी क्या समझेगा।

जिज्ञासा भरी दृष्टि से शकटार ने स्वर की दिशा में देखा। मंत्रीश्वर ने किसी को जल्दी-जल्दी दौड़ते देखा। मंत्रीश्वर सोचने लगा, कौन होगा यह? स्वर तो परिचित था, किन्तु शकटार निश्चय न कर पाया कि यह किसका स्वर है?

परन्तु शकटार को उसके शब्दों को सुनकर आश्चर्य हुआ, अभी तक मंत्रीश्वर को पता ही न था कि क्या बात है? इतनी देर में तो शकटार ने उसी दिशा से मनुष्य को लौटते देखा। क्या हो रहा है, यह देखने के लिए मंत्रीशवर एक वृक्ष के तने के पीछे छिप गया। वह व्यक्ति बड़े जोश में आ रहा था। उसके हाथ में बड़ी कुदाल-जैसी खोदने की कोई चीज लग रही थी। वह आते-आते अधबीच में अटक गया। शकटार के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा। उस व्यक्ति की प्रवृत्ति को देखकर शकटार कुछ समझ न सका। किन्तु

उस व्यक्ति ने तो आते ही जोर शोर से कुदाली चलानी आरम्भ कर दी। थोड़ी ही देर में धरातल की सारी घास खुद गई। और जैसे चाणक्य! आचार्य विष्णुगुप्त! सम्भवत: वह इसके वैर का प्रतिशोध लें। यदि वह ऐसा कर सका तो उसको मरने में शांति मिलेगी।

किन्तु क्या यह वैर को रख सकेगा स्थिर? मंत्रीश्वर अपने वैर को जीवित रखने वाले के सामने अपना हृदय खोल देना चाहता था। नन्द को ही नहीं किन्तु जो नन्दवंश को समूल उखाड़ फेंके। शकटार को विश्वास हो चुका था कि अब तो उसके जीवन के दिन भर चुके हैं। कंचन कोश के नाम पर उसने सबको वश में रख छोड़ा था। सुवर्ण कोश की बात न होती तो वह भी न बच पाया होता। किन्तु अब तो उसके दिन निकट आ गये थे। इसी चिन्ता में मंत्रीश्वर अपने भवन के पास में ही चक्कर काट रहा था। स्वच्छ प्रकाश बढ़ता जा रहा था, दश दिशि मन्द, मन्द, सुगन्धित समीर बह रहा था, नन्दोद्यान के विहगों ने सुरीली तान छेड़ दी थी किन्तु इन पक्षियों के स्वरों में प्रसन्नता न थी, माधुर्य न था। लग रहा था कि ये भी नन्द के नियन्त्रण की असह्य पीड़ा से संत्रस्त हो चुके हैं। ये तो यान्त्रिक स्वरों को प्रकट कर रहे थे, यहाँ नन्द के राज्य में पक्षी भी परतन्त्र थे।

मंत्रीश्वर शकटार इस प्रकार अपने जीवन का पतन देखकर और स्वयं को दुर्बल समझकर मन ही मन में दु:खी हो रहा था। वह नीचा मुख किए श्लोक बोलता हुआ घूम रहा था। इतने में उसके कानों में किसी की रोषमयी गिरा सुनाई दी।

इतने में सन्तोष न हुआ तो आगे बढ़कर देखा। एक व्यक्ति खुदी घास पर बारम्बार आक्रमण कर रहा था। जहाँ से घास खुद गई थी वहाँ पर नीचे झुककर देखा उसने और वह पुन: उसे खोदने में जुट गया उसने घास खोदने से तभी सन्तोष माना जब उसे विश्वास हो गया कि अब घास की एक भी जड़ नीचे नहीं बची है। वह फिर भी देख रहा था कि कहीं कोई जड़ तो नहीं बच गई?

शकटार ने घूर-घूर कर इस विचित्र प्राणी की ओर देखा। उसे विश्वास न हुआ तो आँख फाड़-फाड़ कर देखता रहा। अरे! यह तो आचार्य विष्णुगुप्त हैं। वैसे तो ये दुबले पतले कुरूप हैं यों सौम्य

लगते हैं। इन्हें इतना अधिक क्रोध? वह मन में चोट खाया हुआ है। इतना क्रोध क्यों होगा भला? आचार्य विष्णुगुप्त जैसे व्यक्ति का यह व्यवहार शकटार की समझ में न आया। इसे तो हैरानी थी, आचार्य यहाँ क्या खोद रहे थे? इस बात को पता मंत्रीश्वर को न लगा।

परन्तु बात थी समझने लायक। शकटार मंत्रीश्वर वृक्ष के तने के आगे निकल आया, आचार्य की ओर चल पड़ा। अब आचार्य सुस्पष्ट दीखते थे, उन्हें दूर से ही दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए जोर से कहा—

'भो आचार्य देव!' इस समय यह क्या कर रहे हो? आपके हाथ में और कुदाल! शरीर धूल धूसरित हो गया हैं, क्या कोई भयंकर शत्रु दीख पड़ रहा है?'

'हमें जो निष्कारण हानि पहुंचाये वही हमारे लिए भयंकर शत्रु है। मंत्रीश्वर! इस कुशा ने मेरे पैरों में इतना बड़ा घाव कर दिया है कि जब तक मैं इसे और यहाँ की आसपास की कुशा को समूल नहीं निकाल लूँ तब तक मुझे चैन नहीं होगा। अब दुबारा कुशा इन स्थानों पर नहीं जमेगी! और किसी के पैरों को घायल भी नहीं कर सकेगी!'

शकटार मंत्री आचार्य के शब्द सुनता रहा तन्मयता से। बोल चुकने पर भी आचार्य का मुख क्रोध से तमातमा रहा था। आँखों में आवेशानल दीख रहा था। शकटार विचारने लगा : यह वस्तुतः तेजस्वी हैं, ठीक कहना है इनका। मंत्रीश्वर के पास भी अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण था, वंह वैर को सफल देखना चाहता था, उसे लगा कि आचार्य वस्तुतः उसके वैर के प्रतिशोध के लिए सर्वथा योग्य हैं, जबकि स्वयं की काया का भी आसरा नहीं रहा आचार्य का ऐसे समय में मिलना निश्चित ही सुयोग्य बात है। 'कौन जाने भावी ने ही भेजा हो?' फिर वह प्रकट में बोला—

'किन्तु भन्ते आचार्य देव!' राजकुमारों के आचार्य को मंत्रीश्वर सम्मान से बुला रहा था : 'आप दर्भ-सी निर्जीव वस्तु पर भी इतना रोष कर रहे हैं?'

आचार्य मंत्रीश्वर, के शब्दों से आकृष्ट होकर उनकी ओर

देखता रहा। अन्तिम शब्द उन्होंने उसी को कहे थे। उन्हें स्यात् है पता नहीं कि जो विषकन्या उसके प्रतिशोध का आधार थी, वह तो अब उनके हाथों से निकल चुकी है। वे आचार्य के पास सरक कर खड़े हो गए। जब मंत्रीश्वर ने आचार्य की आँखों में देखा तो उन में अभी तक क्रोध भरा था।

'आचार्य! मैं वृद्ध हो गया हूँ, मैं अब कुछ ही दिनों को मेहमान हूँ। मैं आपको एक बात सौंपना चाहता हूँ। परन्तु वह बात मैं यहाँ नहीं करना चाहता!'

आचार्य को आश्चर्य हुआ। कुछ क्षणों के बाद दोनों जन मंत्रीश्वर के भवन की ओर चल पड़े।

कक्ष में आते ही आचार्य ने पूछा : 'मंत्रीश्वर! क्या बात है?'

'बात तो छोटी-सी है। और लम्बाने का अब समय ही कहाँ है? मुझे तो तुम जैसे नर शार्दूलों की आवश्यकता है, जिसे मैं अपना वैर प्रतिशोध की थाती सौंप दूँ। आप जब आये थे यहाँ तब की बात और थी और आज की बात भिन्न है।'

"अब हमें बात संक्षेप में कर लेनी चाहिए। अमात्य राक्षस ने सारी बाजी बदल दी है। किन्तु इस बात में जाने का समय कहाँ है? किन्तु आचार्यवर! अब तो महादेवी ही स्वयं मेरे पास सुवर्ण-कोष मांगने के लिए आएँगी, और उन्हें मैं न भी कैसे कर सकूँगा और दे भी कैसे सकूँगा? क्योंकि दोनों प्रकार से बाजी मेरे हाथों से निकलने वाली है।"

"ऐसा क्यों कहते हैं आप मन्त्रीश्वर? आपने अपने सुवर्ण-कोष के सहारे तो सब को नाच नचाए हैं आज तक! अब तो कुछ और दिन नचाने की बात है। मैं तो समझता हूँ कि आप अभी तक शक्तिशाली हैं।"

"हाँ बात तो यही है, मैं बलवान् था, सशक्त था, परन्तु आज तो मैं निर्बलतम हो चुका हूँ। मैं अपना अमोघ आयुध खो चुका हूँ।.....उ....से तो.....आपने देखा है न वहाँ? उसे हम गवाँ बैठे हैं!"

यह सुनते ही आश्चर्य स्तब्ध हो गए।—"हें! अर्थात् वह अब नहीं है? कहाँ गई? यह कब हो गया?"

"भन्ते आचार्य! यह बात लम्बी है, उसे जाने दें आप। अभी-

अभी शायद पुष्पगुप्त उपसेनापति आकर खड़ा हो जाएगा सामने। अब तो आगामी कल या तो इस पार या तो उस पार, मेरे जाने पर ही छुटकारा होगा, किन्तु मैं थोड़ी-सी घड़ियों में आपको अपना वारसा सौंपना चाहता हूँ, फिर क्या ठिकाना? वह वारसा भी है, बात भी है, और समृद्धि भी है।'' कहकर शकटार शान्त हो गया।...... कुछ क्षणों में बोला :

''और प्रतिदिन में आपसे नन्दवंश का निर्मूलन माँगता हूँ— केवल नन्दराजा की ही नहीं, वरन् समूचे नन्दवंश का। मैं यह कार्य नहीं कर सकता, मेरा समय आ गया है, आप यह कार्य कर सकते हैं। कहिए, करेंगे आप?''

चाणक्य को मंत्रीश्वर की बात में नवीन दृष्टि मिली। वे बिना बोले मंत्रीश्वर की आँखों में अपनी प्रेरणा से भावना भर रहे थे, आगे कुछ कहने की।

''मेरी बात बस इतनी है। आप के लिए वारसा बस यही है— नन्द का समूल विनाश! जैसे आपने दर्भ-कुशा को समूल विनष्ट कर दिया, ठीक उसी प्रकार नन्दवंश का निर्मूलन कर देना।''

''निश्चितरूप से।''

''अब एक बात और सौंपता हूँ, ठीक-ठीक समझ लें। जब तक यह अमात्य राक्षस है तब तक नन्दराज अथवा नन्दवंश का बाल बाँका भी नहीं होगा। उसके ही हाथ में स्यात् वह विषकन्या भी लगी है! सावधान रहियेगा।''

''आ-हाँ....'' चाणक्य के मुख से निकल गया, ''ऐसी बात है! आर्यमिश्र कहाँ है?''

वह तो लौट गया वैशाली को। किन्तु सुनिए, यह तो मेरा अनुमान है। समय की तंगी है, समय कम से कम है। वर्षों का परिश्रम धूल में मिलता हो तो फिर मनुष्य आगे कैसे बढ़ सकता है? सुनिए, आपको प्रथम तो वारसा दिया, फिर यह घटना बतायी, अब मैं एक समृद्धि सौंपता हूँ।'

यह सुनते ही चाणक्य सावधान हो गया। उन्हें लगा कि मन्त्रीश्वर कहीं अगणित सुवर्ण कोष तो नहीं बता रहा है! आचार्य के मन में जल्दबाजी मच गई। अब शकटार बोला, उसके शब्द बड़े मन्द और

स्पष्ट थे—

'अब जीवन की अन्तिम बेला में आपसे बात कहने में कोई हानि नहीं है। यह बात उस महाराज महानन्द के कोटानुकोटि काञ्चन की है। एक कार्षापण भी किसी ने कहीं पर न छिपाया। मेरे पास एक कार्षापण भी नहीं है। यह है वास्तविकता।'

यह सुनते ही आचार्य चकित हो गये। उनकी वाणी स्तब्ध हो गयी। ऊपर नीचे देखते रहे पर कुछ न बोल सके। केवल मन्त्रीश्वर को टकटकी लगाकर देखते रह गये। आचार्य को लगा कि : 'यह मन्त्रीश्वर है तो बड़ा सशक्त! यह सर्व महान् है। इसने तो बालुका में नावें चलाई हैं। जहाँ उसके पास से एक कार्षापण भी न हो, वहाँ तो मन्त्रीश्वर ने असंख्य सुवर्ण कोष की बात बना रखी है, नन्दराज को उल्लू बना रखा है। पिंजरे का पक्षी बना दिया है। यह मन्त्रीश्वर अपनी वर्षों की मेहनत के विफल होने से निराश हो गया है। अब इसके दिन पूरे हो गये हैं यह मान बैठा है। ऐसा होना तो ठीक ही है। किन्तु है तो वस्तुतः यह महान् ही, जिसने बालू में नाव चला दी!

आचार्य ने जोर से कहा : 'महामन्त्रीश्वर! तुम्हारी इस बात को अब कौन मानेगा?'

'कोई भी नहीं आचार्य देव! शकटार बोला : 'भले ही कोई न माने, और अब मैं किसी के मनाने की अकांक्षा नहीं रखता। बस, आप मेरी बात मान लें इतना ही चाहता हूँ मैं! अब मैं आपसे सच्ची समृद्धि की बात कहता हूँ।''

'विन्ध्यवन में एक स्थान है, इस भूर्जपत्र में उस स्थान का यथार्थ उल्लेख है, लीजिए.....। शकटार ने एक छोटी-सी वस्त्र की पोटली आचार्य के हाथ में थमाते हुए कहा—'उस स्थान पर सुवर्ण से सर्वथा मिलती जुलती धातु मिलती है। यह सुवर्ण में सफलता से मिल जाती है।

'आप काञ्चन में इस धातु को मिलाओ, और खूब चलाओ; ऐसा करने में कुछ समय के पश्चात् ही आप कोटानुकोटि काञ्चन संचित कर लेंगे। यह है आपकी समृद्धि!'

चाणक्य ने हाथ जोड़कर कहा : 'मन्त्रीश्वर! यह तो बहुत बड़ा

कपट होगा, प्रजा का द्रोह होगा, इससे तो प्रजा का विश्वास कार्षापण पर से ही उठ जायेगा।'

'आचार्य! इसे कपट नहीं कहा जाता। यह तो नई व्यवस्था है। सामान्यों को इसमें छल-कपट की गन्ध आती है, किन्तु राजनीतिज्ञ इसे नवीन व्यवस्था मानते हैं। यह शक्ति है, मैं आपको आशीर्वाद दे रहा हूँ। स्यात् है मैं पुनः आपसे न मिल सकूँ तो मेरा नाम याद रखना। किन्तु मेरे इस दायभाग को आप प्राण रहते तक न छोड़ें। आप इसे छोड़ देंगे तो मुझे ब्रह्मराक्षस होना पड़ेगा। आप इस भार को पार ले जाएंगे, तो युग-युग तक सारा देश आपकी कीर्ति याद रखेगा। नवीन क्रान्ति करने वाले सर्वदा नूतन आयुध एवं नूतन असत्य लाया करते हैं। किन्तु जिस असत्य को जनता तोता रटन्त की भाँति रटती है, वह तो एक न एक दिन सत्य होकर ही रहता है। आचार्य! सत्य तो एक ही है केवल ईश्वर! अन्य सब गप्प है। मानव के बोलों से असत्य का आरम्भ होता है। परन्तु असत्य पढ़ी हुई प्रजा सत्यवती बन जाती है। प्रजा को तोते ही तरह सिखाओ। चलिए......आपकी दृष्टि में यह अन्तिम क्षण है मेरे.....आप कभी-कभी मुझे याद करते रहें—अपनी अर्थ-नीति में मुझे भी याद कीजिएगा—वह कोई आ रहा है—वाचस्पति आता दीखता है। उपसेनापति पुष्पगुप्त आ रहा होगा। अब इन सबको मेरे सुवर्णकोष के पाने की शीघ्रता है। हाँ, यह पुष्पगुप्त आपका सहायक हो सकेगा। यह मेरा है। आप इससे मिल लें। मैं भी इससे कह दूँगा।'

'और अन्तिम बात। अब सम्भवतः मैं आपसे न मिल सकूँ— नन्दराज कल प्रातःकाल हिरण-गुहा में प्रवेश करेगा—काञ्चन का मोह ऐसा ही है! किन्तु अभी किसे खबर है? जैसे व...ह अदृश्य हो गयी, वैसे ही वह लौट भी आए। उसमें भी तो किसी की हिंसा करने की लगन लगी हुई होगी। अतः समय पर स्यात् है आ भी जाए। राक्षस अमात्य समय पर वहाँ न भी हो—तो वह अवश्य आयेगी। वह आएगी तो इसकी आशा से प्रेरित होकर। मैंने कल की प्रभात वेला में ही हिरण्य गुहा-प्रवेश का मुहूर्त रखा है और कोई मुहूर्त नहीं है। अन्दर गुहा में क्या है इसकी किसे खबर है? स्वयं मुझे भी ज्ञात नहीं है। परन्तु नन्दराज हिरण गुहा से बाहर तो नहीं निकल सकेगा। इस बात

को मैं दीपक की भाँति सर्वथा स्पष्ट देख रहा हूँ। विषकन्या बिना आए नहीं रहेगी, ऐसी मेरी अन्तिम आशा है और यही होगा। महाराज्ञी आपको राजपुरोहित बनाएगी, आप एक के बाद दूसरे करते-करते सात राजकुमारों को गद्दी पर बिठाकर हटा सकते हैं, हाँ आठवें के समय कठिनाई होगी, परन्तु तब तक तो आप सशक्त हो जाएंगे। आप यह कार्य कर सकेंगे। और सब तो, देशकालानुसार आप स्वयं कर लेंगे। यह आप खूब जानते हैं। वह आया अब जाइये।'

चाणक्य ने शीघ्रता से पीछे देखा। वाचस्पति आ रहा था। आचार्य जाने के लिए उठ बैठे।

२१

मन्त्रीश्वर शकटार का अन्तिम सन्देश

जाने के लिए चाणक्य उठ बैठे और तुरन्त ही कक्ष से बाहर भी चले गये। किन्तु पुष्पगुप्त और मन्त्रीश्वर की बातें बिना सुने, जाना, बुद्धिमत्ता की बात न थी। देखने में तो मन्त्रीश्वर बहुत निराश हो गया था। परन्तु उसके मन में नन्दवंश का विद्वेष कम न हुआ था। वह चाहता था कि जो कोई भी मिले उसी से वैर की बातें पूर्ण कराने की आशा रखने की मनःस्थिति हो गयी थी नन्द की। पुष्पगुप्त शकटार का मित्र और आप्तजन था। ये दोनों एक थे। इस समय वह महादेवी का सन्देश लाया था, यह बात तो सत्य थी। तो भी शकटार उससे अपने मन की बातें कहे बिना रहने वाला न था। ऐसा विचार कर आचार्य मन्त्रणाकक्ष से निकलकर अविलम्ब पार्श्वकक्ष की ओर मुड़ गये। शकटार ने उन्हें जाते हुए देखा पर वह कुछ न बोला। मन्त्रीश्वर मौन भाव से आचार्य को उत्तेजन दे रहा था। चाणक्य निश्चिन्त हो गया। और वे निश्चिन्तता से पार्श्वकक्ष में ही ठहर गए। यह कक्ष सर्वथा निर्जन था। इसमें तो कोई द्वारपाल ही न था, न कोई दास ही था।

मन्त्रीश्वर के सिवाय और कोई ऐसा न था जिसे इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता हो। अतः चाणक्य निश्चिन्त होकर उस कक्ष में खड़े रहे सर्वथा निश्चिन्त भाव से। इतने में ही महादेवी का सन्देश लेकर आया, पुष्पगुप्त बोला :

'भन्ते मन्त्रीश्वर! महादेवी ने मुझे आपके पास भेजा है। महादेवी महाराज से अनुमोदन प्राप्त करके एक शक्तिशाली महान् सैन्य तक्षशिला तक ले जाना चाहती है। अत: समर्थ सेना के सर्जन के लिए सारा सुवर्ण आपको ही देना पड़ेगा। मैं सुवर्ण लेने के लिए आपके पास आया हूँ।'

मंत्रीश्वर की लकुटिया को भूमि पतन शब्द चाणक्य के कानों में आया। कक्ष में फिरता-फिरता मंत्रीश्वर पुष्पगुप्त को प्रत्युत्तर दे रहा था: 'देखो पुष्पगुप्त! तुम्हें तो ज्ञात ही है कि मेरे पास का सोना, महाराज महानन्दी के समय से है?'

चाणक्य आश्चर्य में डूब रहा था। अभी जो बात मंत्रीश्वर ने उससे कही थी, इस बात में और उसके साथ हुई बात में सर्वथा विरोध है यह तो! चाणक्य शंका में डूब कि मंत्रीश्वर की कौन सी बात सच्ची है? या दोनों ही बातें झूठी हैं। यदि मंत्रीश्वर ने फिर बुलवाया तो यह बात अवश्य पूछनी चाहिए।

'मंत्रीवर! मैं तो सुवर्ण लेने की बात कहने के लिए ही आया हूँ!'—पुष्पगुप्त की बात सुनाई पड़ी।

'तो इस विषय में महादेवी निश्चिन्त रहें। मैं नन्दवंश का सेवक हूँ। महादेवी को यह बात विदित ही है। मेरी आपत्ति तो केवल महा पद्मनन्द से है। जिसने सभी को पक्षी के समान परतन्त्र बना दिया है। तेरी और मेरी बात तो ठीक है पर महादेवी को पिंजरे का पंछी बना दिया है। किन्तु जब महाराज्ञी ने अपने हाथ में बात ले ली है और तेरे समान सेनापति है, कुमार स्वयं प्रस्थान करने वाले हैं, राक्षस अमात्य शान्त हैं, तो फिर पूरा का पूरा कोष देने में क्या आपत्ति है? मैंने इसी दिन के लिए तो कोष की रक्षा की है!'

'तो महादेवी ने कहलवाया है कि वह कब आएँ?'

'देखो पुष्पगुप्त! महादेवी से कहना कि यह कोटानुकोटि कञ्चन उसी स्थान पर है जहाँ महाराज अपना कोष सुरक्षित रखे हुए हैं। तो भी उस स्थान को और कोई नहीं देख पाया है। जलपान लेकर महाराज कल प्रात: स्वयं ही आने वाले हैं इसी कार्य के लिए। सुवर्ण बताने का वही मुहूर्त है। तो भी सुनलो भई! मैं वह कोष न भी बताऊँ तो भी, वह कोष है तो महाराज हिरण्य की गुहा में ही।

महाराज की समस्त सेना वर्षों तक भी उसकी खोज करे तो भी एक कार्षापण की प्राप्ति नहीं हो सकेगी वहाँ से किसी को, ऐसा गुप्त स्थल है। महादेवी चाहें तो फिर विचार कर लें, अभी समय है, फिर तो तीर हाथ से छूट चुका होगा.....' और....विचार करता-करता शकटार क्षण भर मौन हो गया। पुनः शकटार की लकुटिया की कर्कश ध्वनि कानों में पड़ी। मंत्रीश्वर घूम रहा था : 'और देखो! तुम तो मेरे पुत्रों के समान हो। मेरी एक भी बात तुमसे छिपी नहीं है, मैं तो कोटानुकोटि काञ्चन केवल महादेवी अथवा उनके वंशदायाद को ही बताना चाहता हूँ और किसी को नहीं। स्वयं महाराज को भी नहीं। यह बात महत्त्वपूर्ण है। अभी तक इसी बात का भेद चल रहा है। किन्तु कल सुबह ही महाराज स्वयं आने वाले हैं। जलयान में बैठकर हम हिरण्य गुहा में जाने वाले हैं। महाराज महा पद्मनन्द ने अभी तक अपना सुवर्ण किसी को नहीं बताया, महादेवी को भी नहीं। जब कभी महाराज को हिरण्य गुहा में जाना होता है, तो वे एकाकी जाते हैं। यहाँ तक एकाकी कि उनके साथ अन्धा नौकापति होता है। नौकापति का विशेष गुण यही है कि वह अन्धा है। किन्तु कल वे मुझे अपने साथ ले जाएंगे, नये सुवर्ण के मोह से। फिर यदि वे मेरे बताए हुए स्थल को देख लें और तुम्हें न बताएँ? फिर तुम क्या करोगे? कभी इस पर भी विचार किया है तुमने? महादेवी को इस बात का विश्वास है क्या? और फिर स्यात् मैं गुहा में से बाहर न आ पाऊँ, इसका किसे पता है?'

प्रश्न सुनकर पुष्पगुप्त सुन्न हो गया था। क्योंकि उसने कोई उत्तर न दिया। वह सर्वथा मौन था। चाणक्य के कानों को ठीक किया फिर भी कोई शब्द न सुनाई पड़ा। मंत्रीश्वर शकटार की जाल, फैलाने की विशिष्ट शक्ति को देखकर आचार्य हैरान हो गये।

थोड़ी देर तक कोई कुछ न बोला फिर एक जोरों का ठहाका सुनाई पड़ा। और इसके साथ शकटार की लकुटिया की आवाज भी चाणक्य के कानों में पड़ी। शकटार कहने लगा :

'पुष्पगुप्त! तुम जाकर इस बात को महादेवी से पूछ आओ। मेरे पास तो इसका रास्ता है।'

'कौन सा?' पुष्पगुप्त ने शीघ्रता से पूछा।

'जब कल सबेरे पहले पहल महाराज के साथ जाऊंगा, तो असत्य स्थान ही बताऊंगा!'

'हाँ.....आँ.....।' यह सुनकर पुष्पगुप्त चकित हो गया! चाणक्य को भी सुनकर आश्चर्य हो रहा था।

'और फिर महाराज से नये सुवर्ण की माँग करूँगा, बाहर आने पर।'

'ठीक, ठीक।'

'यदि इस सुवर्ण के लिए महाराज के मन में अविश्वास होगा तो वह बात ही नहीं करेगा। और सोने के लिए इधर-उधर करेगा। हमें तो कोई धोखा नहीं होगा, क्योंकि हमने कौन सा यथार्थ स्थान बताया होगा? परन्तु इस कार्य से महाराज के मन की थाह तो लग जाएगी। यह एक ही उपाय है। और जब महाराज को पता लग जाएगा कि मेरा बताया हुआ स्थान झूठा है, तो वह क्रोध में आ जाएगा। तब वह मुझे मारने दौड़ेगा और जो करना चाहेगा करेगा। परन्तु वह सुवर्ण का छोटा मोटा दास नहीं है। अत: वह मुझे जान से मार भी न सकेगा। वह आशा तन्तु पर लटकता रहे, इसी में अपनी विजय है। फिर तो उसे स्पष्टतया कह दिया जाएगा कि सुवर्ण तभी बताया जाएगा जब महादेवी साथ में होगी। और महादेवी को तुरन्त ही सोना सौंपकर नूतन सैन्य का उचित की प्रयोग होगा तो.....नूतन सैन्य भी प्रस्तुत होगा। तभी तुम्हें सुवर्ण मिलेगा। हिरण्य के लोभ लालच में आकर महाराज सब कुछ स्वीकार कर लेगा। बाद की बाद में देखी जाएगी।'

'आ.....हा.....मंत्रीश्वर!'.....

'यह एक ही उपाय है पुष्प्रगुप्त.! तुम महादेवी से पूछ आओ। मुझे महाराज का विश्वास नहीं है। महाराज से यदि कोई यों कह दे कि आपको भी मैं सुवर्णमय बना सकता हूँ तो, महाराज प्राणों की परवाह किए बिना की सुवर्णमय बनने के लिए प्रस्तुत हो जाएगा! तुम्हारा राजा है ये पुष्पगुप्त! परन्तु मैं तुम्हें अपने पुत्र के समान देखता मानता हूँ। तुम्हें सब कुछ ज्ञात है। यदि महा पद्मनन्द और अधिक समय तक मगध का शासक रह गया तो सर्वनाश ही समझो। मेरी नजरों में एक व्यक्ति है—वह आता है न—उसे तुमने

देखा तो होगा! वही..... आचार्य?'

'आचार्य विष्णुगुप्त?'

'हाँ......वही, उन्हीं की बात कर रहा हूँ मैं।'

'उन्हें मैं जानता हूँ स्वामिन्! महादेवी को तक्षशिला का स्वप्न सुझाने वाले वही तो हैं।'

यह व्यक्ति दृष्टिपूर्ण है, और सशक्त है। महादेवी इन्हें राजपुरोहित बना दे, तुम भी कहना। इसमें सबका कल्याण है। तुम आचार्य की सहायता करना। समझ गये हो न? नन्द निकन्दन में यह आचार्य सहायक होंगे। इनसे मिलते रहना। ये महा पद्मनन्द को निकाल बाहर करेंगे एवं देखो.....' शकटार बिल्कुल पुष्पगुप्त के निकट जाकर धीरे से बोला : 'तुम्हारी वह बहन—क्या है उसका नाम?.......'

'श्रृंगार देवी!'

'हाँ वही। उसकी बात कर रहा हूँ। महाराज का पत्ता कटते ही आचार्य सब कुछ सँभाल लेंगे। यह बात तुम्हारे लाभ की है। पर देखना अब समय नहीं है। यह आचार्य यहाँ इसी प्रयोजन से आए हैं। आचार्य ने मुझसे यह बात नहीं कही है, परन्तु मैं समझ रहा हूँ।......'

आचार्य चाणक्य मुग्ध बनकर, वृद्ध मन्त्रीश्वर की सम्मति सुनते रहे। उन्हें लग रहा था कि थोड़ी ही देर में मंत्रीश्वर उन्हें बुलायेंगे। इतने में शकटार ने ताली बजाई। कोई सेवक दौड़कर आया।

'वाचस्पति! तू यहाँ आस पास, और वहाँ द्वार पर देख अच्छी तरह से कि कोई और तो नहीं है? बाद में तू द्वार पर ही बैठ जाना......'

वाचस्पति चला गया है ऐसा लगा। शकटार ने आगे कहना आरम्भ किया—

'देखो पुष्पगुप्त! मेरा समय पूरा हो गया है। मैं हिम्मत हार गया हूं। अब लम्बी चौड़ी बात का समय नहीं है। परन्तु तुम मेरी बात बराबर समझ लो। हम सब एक ही नाव के यात्री हैं। राक्षस अमात्य इसको जानता होगा, वह हमें, एक-एक को बीन कर, मार डालेगा। वह अब तक सुवर्ण के लिए ठहरा था। तुम्हारी बारी भी

आएगी। मेरी बात को बराबर समझ लो, इस मुसीबत से उभरने का एक ही मार्ग है। महादेवी की बात अमात्य राक्षस ने और महाराज ने जो उत्तेजन दिया है वह केवल हिरण्य के लिए ही दिया है। बस सोना मिलने की देर है। इसीलिए अपने लिए यह मार्ग है कि हम हिरण्य प्राप्ति की आशा तन्तु को बढ़ाते रहें और अधिकाधिक चमकाते रहें। इतने समय में हमें अपना कार्य कर लेना चाहिए। समझ गये तुम?'

पुष्पगुप्त का प्रत्युत्तर शान्त, गम्भीर किन्तु निश्चित था—'मुझे आपकी शक्ति में श्रद्धा है देव!'

'मेरी शक्ति में तुम्हें श्रद्धा है, यह बात सिद्ध करती है तुम्हारी वास्तविकता को। किन्तु अब मुझे स्वयं पर श्रद्धा नहीं है। तभी तो मैंने तुझसे आचार्य की बात कही है।'

'हां प्रभो!'

'तो देखो, इस आचार्य में दृष्टि है, शक्ति है, एवं इसके उपरान्त भी एक दूसरी बात भी मुझे लग रही है, यह बात तुम्हारे काम की है। तुम्हारे लिए महत्त्वपूर्ण है।'

'क्या?'

'इस आचार्य को ऐसा कोई क्षत्रिय कुमार मिला है कि जिसके बल पर आचार्य यहाँ आए हैं। तुम्हें पता है कि वह राजकुमार कौन हो सकता है?'

पुष्पगुप्त विचारों में डूब गया, किन्तु चाणक्य यह सुनते ही खड़ा का खड़ा रह गया। उन्होंने एक बार भी शकटार से चन्द्रगुप्त की बात नहीं कही थी, वह बात उसी के मन में बैठी थी। और मंत्रीश्वर शकटार उसकी अकथित बात को समझ गया है, यह सुनकर आचार्य सुन्न हो गये। वस्तुतः मंत्रीश्वर शकटार निराश हो चुका था। उसे स्वयं पर विश्वास न था। आज अन्तिम बार शकटार मंत्रीश्वर अपनी योजना को मूर्तरूप प्रदान कर देना चाहता था, ऐसा ज्ञात हो रहा था। अब वह अपने मन के भावों को प्रकट कर रहा था। परन्तु चाणक्य के लिए यह बहुत बड़ी उलझन हो गयी कि वह अपनी पूरी बात कहे या न कहे। चाणक्य यह सोच ही रहा था कि इतने में शकटार बोला :—'इस राजकुमार की सामर्थ्य पर आचार्य की शक्ति कार्य कर

रही है। तुम उन्हें जान लो, वे तुम्हें जान लें, तुम दोनों परस्पर समझ लो। मेरी यही अन्तिम इच्छा है। मुझ स्वयं को ज्ञात नहीं है कि अब मेरी कितनी आयु शेष है? परन्तु एक बात तो है कि राजकुमार पहले यहीं रहता था, उसकी माँ भी यहीं पर है अभी तक, यह बात तो तुम्हीं ने कही थी न मुझसे?'

'हाँ देव! उसकी माँ अभी तक यहीं पर है!'

'तो इसी का पुत्र लगता है वह राजकुमार। आचार्य उसी के लिए यहाँ आये हुए हैं। तुमने अपनी बहिन की बात भी तो मुझसे कही थी कि वे दोनों शैशवकाल के साथ-साथ खेलते थे! ऐसा कुछ कहा था न तुमने? वही यह राजकुमार होना चाहिए। तुम्हारा भविष्य तो पुष्पगुप्त मुझे उज्ज्वल लगता है। तुम्हारा उत्कर्ष सम्भव है, इसलिए तुम्हें यही बात समझ लेनी चाहिये।

'मुझे यह वस्तु सुन्दर लगती है। राक्षस की नजर तुम पर भी होनी ही चाहिए। तुम्हें प्रत्येक पग सावधानी से उठाना चाहिए.....तुम महादेवी के समीप जाने से पूर्व ही आचार्य से अभी मिल लो......फिर अवकाश नहीं मिलेगा.....' शकटार ने ताली बजाई। और जोर से बोला : 'भन्ते आचार्य!'

चाणक्य तुरन्त ही पिछले कक्ष से बाहर निकल आया। आचार्य के मन में मन्द-मन्द आभास हो रहा था कि अब महान् क्षण आ रहा है। शकटार मंत्रीश्वर अपने वैर का वरसा समर्पण करने की अन्तिम विधि समाप्त कर देना चाहता है। चाणक्य ने शान्तिपूर्वक मंत्रीश्वर के कक्ष में प्रवेश किया।

आचार्य के नयन पुष्पगुप्त पर टिके। वह देख रहे थे कि पुष्पगुप्त के कितना सत्व है?

तेजस्वी, शान्त, समर्थ किन्तु अचल भक्ति से बात से चिपटे रहनेवाले पराक्रमी व्यक्ति को आचार्य ने अपने सामने देखा। इसमें राजवंशियों सा सुरूप था, इसकी मुखमुद्रा में एक अनूठी शान्त शक्ति शोभित हो रही थी। उपसेनापति को आचार्य को देखते ही दोनों हाथ जोड़े।

'भन्ते आचार्य! शकटार ने कहा: 'यह है उप-सेनापति पुष्पगुप्त! यह आपके राजकुमार को जानते हैं। इन्होंने उसे शैशवावस्था में देखा

है। इनकी बहन तो उसके साथ खेलती रही है। ये आपके निकटतम साथी बनने योग्य हैं। आप इन पर भरोसा रख सकते हैं......केवल आधार नहीं, आपको जिस समय जैसी सहायता चाहिए, उसके लिए आप केवल आदेश दे दें!'

'आदेश की बात नहीं, इनकी सहायता तो अमूल्य बन जाएगी!'

'महादेवी कल प्रातःकाल की आपको विद्वत्-सभा का विद्यापति बनाने के लिए उत्सुक हैं। एतदर्थ उन्होंने सभा से कहलाया भी है। कल प्रातः आप विद्वत्सभा में आ जाइयेगा, आपको लाने के लिए, आपके स्थान पर सुवर्ण-शिविका जाएगी । महादेवी ने मुझे यह कार्य सौंपा है!' पुष्पगुप्त ने कहा।

'और भन्ते आचार्य देव! एक दूसरी बात भी मैं आपके ज्ञान के लिए कह दूँ। इनकी बहन वहाँ भगवती सैन्य की नायिका है! उसका नाम श्रृंगार देवी है!'

'हाँ मन्त्रीश्वर! यह बात भी मेरे लिए काम की है।' आचार्य को प्रणाम करने के लिए पुष्पगुप्त आगे आया तो आचार्य ने बड़े प्रेम से उसके कन्धे पर हाथ फेरते हुए कहा :

'आपका भविष्य उज्ज्वल है उपसेनापति! मुझे आप में आर्य संस्कारों की जीवन्त, भव्य भावना सजीव होती हुई दीख रही है। आप विजयी हों!'

शकटार मन्त्रीश्वर ने उपसेनापति से कहा : 'पुष्पगुप्त! तुम महादेवी के पास जाओ। मैंने जो बात कही है, उनसे जाकर कह दो। कल प्रातःकाल तुम इस ओर फिरते रहना । नन्दराज के साथ हिरण्य गुहा में यह प्रवेश, किसी जीवित मनुष्य से प्रथमवार हो रहा है। यह कोई साधारण घटना नहीं है।' अच्छा अब तुम जाओ। और देखना..... स्यात् है मैं लौटूं न लौटूं किन्तु मैंने आचार्य के समान ही आचार्य तुम्हें दिए हैं। आचार्य को तुम जैसा स्वस्थ, अचल मित्र दिया है। देवी अपराजिता तुम्हारा कल्याण करें!' पुष्पगुप्त दोनों को नमस्कार करके चला गया। थोड़ी देर बाद आचार्य भी मंत्रीश्वर से विदा हो रहे थे। इन दोनों में से किसी को भी ज्ञात न था कि यह अन्तिम भेंट है।

२२

नन्दराज की हिरण्यगुहा

नन्दराज की हिरण्यगुहा उसे छोड़कर शायद ही और किसी को, देखने को मिली होगी! महादेवी ने इसे न देखा था। राक्षस के समान अचल राजभक्त ने भी दूर से ही इसके दर्शन किये थे। महा मंत्रीश्वर वक्रनास ने भी दूर से इसके दर्शन किए थे। इसके दर्शन का आनन्द तो एकाकी महा पद्मनन्द को ही मिला था। तभी तो इस हिरण्य गुहा के बारे में चित्र-विचित्र बातें चल रही थीं जनता में। कोई कहता था कि इस गुहा में सुवर्ण के शैल खण्ड हैं। अनेक मानते थे कि इसमें सुवर्ण ही ईंटें भरी हैं। राजमहल के समीप एक सहस्रस्तम्भ मंडप बना था। इस मंडप के नीचे ही हिरण्यवती नदी से मिलने वाली एक उपशाखा प्रवाहित हो रही थी। इस उपशाखा के दोनों पार्श्व शान्त, गम्भीर जल से भरे हुए शिलाखण्डों से सुरक्षित थे। यहीं पर हिरण्य गुहा थी, ऐसा माना जाता था। महा पद्मनन्द का कोटानुकोटि काञ्चन इसी स्थान पर भरा था। दूसरी किंवदन्ती थी कि कोटानुकोटि काञ्चन कोष तो वहाँ पर है, जहाँ यह उपशाखा हिरण्यवती नदी से मिलती है, और वहीं एक जलगुहा में इसका सुवर्ण भण्डार है। यह भण्डार भी आगे गंगा नदी के नीर में है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं।

वस्तुतः यह भण्डार कहाँ था? इस बात को सिवाय महा पद्मनन्द के, और कोई न जानता था। भण्डार था भी या नहीं, लोगों को इसका भी पता न था, वह कोटानुकोटि सुवर्ण था भी या नहीं इस बात का किसी को कोई ज्ञान न था। किन्तु अभी-अभी महा पद्मनन्द के, विद्वत्सभा में अत्यधिक सुवर्ण दान करने से, लोग इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि महा पद्मनन्द को कोष कोटानुकोटि से भी अधिक होगा। महापद्मनन्द जैसा महाराज जब एक कोटि कार्षापण यों ही व्यय कर दे, तो इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि इसका कोष कितना अनन्त होगा!

जो कुछ भी हो, परन्तु एक बात तो निश्चित थी—महापद्मनन्द ने इसी कार्षापण के बल, सारी पृथ्वी को वशीभूत कर लिया था,

प्रत्येक सैनिक समझे बैठा था कि महापद्मनन्द चाहे तो उनमें से प्रत्येक को एक-एक लक्ष कार्षापण क्षण भर में दे सकता है। अमात्य समझते थे कि इसके सामने कोई भी कदम उठाना निरर्थक है। इसके असीमित सुवर्ण कोष के सामने कोई भी पक्ष पल भर भी टिक नहीं सकता। महादेवी सुनन्दा समझती थी कि हिरण्य-सुवर्ण तो महाराज के पास है, वह चाहें तो एक सहस्त्र रानियाँ एक दिन में ला सकते हैं। और चाहे जिस रानी के कुमार को मगध का युवराज बना दें। उस समय कोई महाराज के ऊपर उँगली भी नहीं उठाएगा। एकाकी मन्त्रीश्वर शकटार का कितना बड़ा हिरण्य भण्डार था कि महाराज भी उसके सामने परवश हो जाते थे।

इस हिरण्य गृह के प्रवेश द्वार के पास, आगामी दिवस, बड़े तड़के-प्रकाश हो भी न पाया था कि एक हंसाकृति सुन्दर नौका आकर खड़ी हो गई। अनेक स्तम्भावलियों से होकर प्रवाहित होता हिरण्यवती की उपशाखा का जल स्थल पर बँध गया था, किन्तु स्तम्भावलि पर बने मण्डप के कारण ही वह जैसे वहीं से, राज प्रासाद के पार्श्व में अदृश्य होता सा लगता था।

इस स्थान पर कोई भी व्यक्ति प्रविष्ट न हो सके, एतदर्थ* लौह द्वार की यान्त्रिक व्यवस्था की गई थी। यह लौह द्वार तभी खुलता था, जब उसके पास महाराज की नौका आकर खड़ी होती थी। और नौका अन्दर पहुँचते ही द्वार बन्द हो जाता था। तो यह नहर ठेठ गंगा के तट पर निकलती, वहाँ तक यह नहर कैसे बहती थी और इसके अन्दर क्या था। इसका किसी को कोई पता न था जैसे भूमि में अदृश्य हो गई है।

इसी जल नहर के पास आकर बहुत तड़के एक सुवर्ण मण्डित हंसनौका खड़ी हो गई, नौका एक सुन्दर सुवर्ण छत्र से भी सुशोभित थी। छत्र में से मौक्तिक मालाएं लटक रही थीं। हंस-नौका जब कभी भी इधर-उधर घूमती, तभी उसके हंस जैसी ध्वनि प्रकट होती थी।

*कौटिल्य में ऐसे यन्त्र का उल्लेख है। अभी प्राचीन कौशाम्बी के उत्खनन से ज्ञात हुआ है कि आग बुझाने के लिए सुरक्षित जल भण्डारों की रक्षा के लिए जो बड़ी कमाने थीं, वे एक के ऊपर दूसरी बनाई गई थीं। ऐसी दुस्साध्य शिल्पकला उस युग में प्रचलित थी। पुरातन चालुक्य वंश की बावड़ियों से भी ऐसे जल भण्डार देखने में आते हैं।

इस नौका के अग्रिम भाग में एक वृद्ध नाविक बैठा था। उसके दोनों हाथ पतवारों पर थे। इसके सिवाय नाविक को किसी बात पता न था। वर्षों के अभ्यास के पश्चात् उसके हाथ ही जल मार्ग को देख रहे थे, आँखें नहीं!

नौका में महाराज पद्मनन्द बैठा था। उसके ऊपर सुवर्ण छत्र विशोभित हो रहा था। महाराज अपने अभ्यास के अनुसार घुटनों पर हाथ धरकर अकड़ा हुआ बैठा था। उसकी दृष्टि सामने पानी पर थी। उसकी बराबरी पर ही एक दूसरा सुवर्ण सिंहासन था। उस पर एक अद्‌भुत रूपवती रमणी बैठी थी।

शकटार मन्त्रीश्वर की नौका महाराज की नौका के पीछे थी। जो दृढ़ लौह श्रृंखला से बँधी थी। इसके लिए अलग से कोई नौकापति न था। मंत्रीश्वर वहाँ जाकर, अपने स्थान पर जा बैठा। अभी तक प्रभात-कालीन प्रकाश धुंधला था, कोई भी वस्तु स्पष्ट नहीं दीख रही थी!

मंत्रीश्वर ने महाराज के सामने देखा। दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार भी किया। किन्तु इतने में ही महाराज के आसन पर मंत्रीश्वर की दृष्टि पड़ी। और इसे देखकर तो वह निःसन्देह आश्चर्य में डूबकर सुन्न हो गया वहाँ पर मन्त्रीश्वर ने विषकन्या को बैठे देखा! मंत्रीश्वर का मन अन्दर ही अन्दर प्रसन्नता से नाच उठा। उसने सोचा कि वस्तुतः इस नारी ने अपना वह कार्य स्वयं की पूर्ण कर लिया है, इसके लिए इसे बनाया गया है!

इसने महापद्मनन्द को वश में कर लिया लगता है। विषकन्या के अदृश्य होने का कारण अब समझ में आया। मंत्रीश्वर को उसके अदृश्य होने पर, ऐसी ही आशा थी। वह आज अकस्मात् यथा समय आ गई। विषकन्या के अदृश्य होने पर शकटार को यह कारण समझ में आया कि रोम-रोम में विष व्याप्त होने से यह विषाक्त मोहिनी अपना कार्य करने के लिए व्यग्र हो रही होगी। वह स्वयं को न सँभाल सकी हो, कि जब किसी न किसी की हिंसा करनी इसके लिए अनिवार्य हो। बिना हत्या के वह क्षण भर भी न जी सके, न रह सके, ऐसा न करे तो स्वयं की आग से स्वयं को जला बैठे! विषकन्या की इस अवश परिस्थिति ने उसके लिए यह अन्तिम समय

का रंग बचा रखा था। शकटार का मन इतना प्रफुल्ल हुआ कि वह जोर से चिल्ला पड़ा होता!

किन्तु मन्त्रीश्वर ने स्वयं को सँभाल लिया। अब शकटार को अपनी विजय का पूरा विश्वास हो गया और इसी आशा सन्देश को प्रदान करने के लिए शकटार ने किसी को देखने की इच्छा से दूर-दूर तक नजर दौड़ाई, परन्तु कहीं कोई दीखता न था। हाँ धुँधले आलोक में, केवल दूर-दूर तक दो प्रतिच्छायाएँ-सी खड़ी शकटार को दिखाई दे रही थीं। उसे लगा कि ये दोनों पुरुष पुष्पगुप्त और आचार्य ही होंगे। वह निश्चिन्त हो गया है कि ये जान गए होंगे विशेषतः आचार्य कि महा पद्मनन्द सुवर्ण लेने नहीं किन्तु, मृत्यु को भेंटने के लिए जा रहा है। इस समय शकटार मन्त्रीश्वर इतना हर्ष-विह्वल हो रहा था कि उसने आनन्दातिरेक को छिपाने के लिए क्षणभर अपने नयन मूंद लिए।

जब शकटार की आँखें खुलीं तब इसकी नौका जल धारा में बह रही थी। वह साश्चर्य देख रहा था कि अनेक स्तम्भों की अवलियों में पानी प्रवाहित हो रहा था। मंत्रीश्वर के ऊपर दृष्टि की, ऊपर सुन्दर रंगीन छत थी और नीचे उसकी नौका गम्भीर नीर में बढ़ रही थी। आगे-आगे चलकर स्तम्भ पंक्ति पूरी हो गई। वहाँ से प्राकृतिक शैलखण्ड आरम्भ हो रहे थे, संकीर्णता बनाते हुए। नौका में से दोनों पार्श्वों के शिलाखण्ड दीख रहे थे।

जैसे-जैसे नौका आगे बढ़ती गई, वैसे-वैसे दोनों पार्श्वों की चट्टानें विशेष संकीर्ण होने लगीं। और नौकाएं आगे बढ़ रही थीं।

आगे चलकर यह संकीर्ण जल नहर चौड़ी होती गई दोनों पार्श्वों में इसके दोनों ओर के अर्धचन्द्राकार शिलाखण्डों से एक गहरा वर्तुल भँवर बन गया था। जिसके चतुर्दिक चट्टानें थीं। इस स्थल पर भी अस्पष्ट प्रकाश आ रहा था। किन्तु यह प्रकाश कहाँ से आ रहा था इसे वह जानता था। महापद्मनन्द के बहुमूल्य मणिमणिक्यों के आलोक से ही यह प्रकाश आलोकित होगा, यह समझकर शकटार मन ही मन तड़प गया। इसकी तो कल्पना में भी ऐसी समृद्धि न आ पाती थी। यह तो दिग्मूढ़ बन गया था। इस स्थान के गम्भीर, गहरे, एवं अत्यन्त शान्त, नील नीर को देखते ही शकटार के मन में भीषण

भय के मारे स्तब्धता छा गई। लगता था कि थोड़ी ही ध्वनि भी इस जल में व्याप्त शान्ति को प्रबुद्ध कर देगी, ऐसी विभीषिका लग रही थी, हाथों से ही अभ्यस्त वृद्ध और अन्धा नौकापति, लगता था कि गन्तव्य स्थान को पहचान गया है। थोड़ी सी ध्वनि न हो, एतदर्थ वह वृद्ध-अन्ध नाविक पतवारें धीरे-धीरे चला रहा था। वह शान्त बैठा कि दोनों नौकाएं शांत हो गयीं।

मंत्रीश्वर ने चारों ओर दृष्टि डाली। पहले तो वह यह न समझ सका कि यहाँ पर आकर ये नौकाएं शान्त कैसे हो गई हैं? पर जैसे ही शकटार की दृष्टि चारों ओर घूमी, वैसे ही उसे आश्चर्य ने घेर लिया, और उसे लगा कि वह इस दृश्य को देखता ही रहे मूक भाव से।

चतुर्दिक शैल खण्ड सुवर्णमय लगते थे। यहाँ पर खचाखच सुवर्ण ईंटें भरी पड़ी थीं। लगता था कि ये दीवारें भी सोने की ही हैं। लाखों करोड़ों सोने की ईंटें देखकर मंत्रीश्वर चकित हो गया। उसने जीवन में आज प्रथम बार ही ऐसा दृश्य देखा था कि जिसे देखकर, कोई भी व्यक्ति पागल हो जाए!

मंत्रीश्वर ने नीचे स्थिर जल में दृष्टि डाली। वहाँ ही प्रतिच्छाया भी जाने सुवर्णमयी हो, ऐसे हंस रही थी! सर्वत्र सुवर्ण ही सुवर्ण दीख रहा था। जिसे देखकर वृद्ध भी तरुण बन सकता था!

उसे लगा कि उसका मस्तिष्क बिगड़ जाएगा। वह प्रमत्त बन जाएगा। इतना अधिक हिरण्य यहां पर होगा, मंत्रीश्वर ही कल्पना में भी ऐसा ध्यान न था। यहाँ पर तो कल्पना से भी अधिक सुवर्ण भरा पड़ा था। उसके मन में तो यही आया कि वह चारों ओर घूम-फिर कर सोना ही देखता रहे शकटार अब समझा कि मनुष्य से सोने की मोहिनी कैसे चिपट जाती है। मनुष्य इस सुवर्ण भण्डार में घूमता रहे तो उसे वृद्धावस्था स्पर्श तक नहीं कर सकती, ऐसी मोहिनी छाया थी इस समय इस सुवर्ण में!

कुछ देर तक तो वह कल्पना में भी न ला सका कि इतना हिरण्य कहीं भण्डारित हो सकता है! परन्तु अब महा पद्मनन्द के विपुल स्वर्ण कोश की प्रतीति होने लगी थी मंत्रीश्वर को। समस्त धरती के क्रयण योग्य सुवर्ण यहाँ पर संचित था। वास्तव में महाराज

का नाम महा पद्मनन्द ठीक ही था। सुवर्ण में महाराज महापद्म संख्या को पहुंच चुका था न!

शकटार ने फिर से उस सुवर्ण कोष को देखने के लिए निगाहें सब ओर दौड़ाई। किन्तु इस बार तो मंत्रीश्वर ने भय के मारे तुरन्त ही अपनी दृष्टि नीची कर ली। उन्नत शिलाओं के ऊपरी भाग में स्थान-स्थान पर धनुर्धारी सैनिक सन्नद्ध थे। अनेक सशस्त्र यवनियों की दृष्टि तो ठीक इसी की नाव पर टिकी थी। ये यवनियाँ चट्टानों को कुरेद कर बनाए गए गवाक्षों में खड़ी थीं।

इस दृश्य को देखते ही शकटार ने अपने जीवन की आशा छोड़ दी। उसे विश्वास हो गया कि नन्दराज उसे मारने के लिए ही यहाँ लाया है। उसके चारों ओर सशस्त्र सैनिक जो व्यवस्थित रखे गए थे!

किन्तु वह नन्दराज को प्रथम ही मरवा दे तो! उसके मन में प्रसुप्त वैर भावना प्रबुद्ध हो गई। अब समय बिताने में पराजय थी। विषकन्या उसका अमोघ अस्त्र था

मंत्रीश्वर विषकन्या की ओर देखकर बोला :- 'अरी! ओ रूप सुन्दरी महाराज पद्मनन्द ने तुझे अद्भुत रूप बताया है। एक मंजुल गीत गाकर इस सुप्त सौन्दर्य को तू जगादे।'

परन्तु शकटार तो बोलते-बोलते चौंका। चारों ओर से उसके शब्दों की एक निर्जीव प्रतिध्वनि उठ रही थी। नौका में किसी ने कुछ न कहा था। कोई चेष्टा भी न थी पर मंत्रीश्वर के पेट में पानी-पानी हो गया। यह शान्ति भीषण लगने लगी। उसे लगा कि नन्दराज और विषकन्या दोनों मर गए हैं। इस नीरवता में उसे मृत्यु का प्रतिबिम्ब नजर आया।

उसने फिर जोर से विषकन्या को जगाने के लिए हाँक मारी। शकटार काँप उठा, अबकी बार भी वही निर्जीव प्रतिध्वनि थी पूर्ववत्!

अब तो शकटार के मन में एक भयपूर्ण कम्पन उठा। उसका रोम-रोम कांपने लगा। आँखों के सामने अन्धकार छा गया, हाथ पैर भी ठण्डे पड़ने लगे। वह अपने समस्त बल से भान जगाने का प्रयास करने लगा, और एकदम स्थिर दृष्टि करके सूक्ष्म क्षण से महाराज और नौका को देखता रहा! किसी ने जैसे मंत्रीश्वर की छाती में

कृपाण भोंक दिया हो, अब वह अपनी नौका में निराशा भरे निश्वास छोड़ता हुआ लुढ़क गया। उसके मुख में भारी वेदना भरी आवाज निकल पड़ी :—'ओहो! ओहो! यह राक्षस मंत्रीश्वर सचमुच राक्षस ही है। उसने इस नौका में महाराज एवं विषकन्या के मोम के पुतले ही बना कर बिठाए हैं। ओहो! यहाँ पर तो कोई नहीं है सिवाय अंधे वृद्ध नौकाधिपति के! चारों ओर खड़े सैनिक भी निर्जीव हैं, सब कुछ निर्जीव है। मैं निर्जीव हो गया हूँ। राक्षस! राक्षस! भयानक राक्षस! तू मिला है एक मस्तिष्क वाला!'

शकटार मंत्रीश्वर अपनी नाव में लम्बान होकर गिर पड़ा। जीवन भार परिपुष्ट वैर की विफलता देखकर उसके नयनों से झर झर क्रोध का अश्रु जल प्रवाहित होने लगा!

२३
चाणक्य भागते हैं

राक्षस अमात्य ने जब विषकन्या को देखा, तो भी उसको मंत्रीश्वर शकटार की भयंकर योजना का पता चल गया था। उसे नन्द निकन्दन आता हुआ दीखा। उसे शकटार के स्वर्ण कोष की बात भी एक बाजी की तरह लगी। उसने अविलम्ब निश्चय किया कि शकटार को उसी के बनाए पाश में फँसाने का यह महान् शुभावसर है। राक्षस ने तुरन्त कुशल कलाकारों की खोज कराई। नन्दराज की विद्वत्सभा की घोषणा से देश विदेशों से अनेक विद्वान् सम्प्रति पाटलिपुत्र में विद्यमान थे। इनमें अनेक कुशल शिल्पी भी थे। एक शिल्पी ने राक्षस को अद्भुत कला बताई। उसने मोम का सिंह बनाया, किन्तु जनता इस सिंह को देखकर कांप जाती थी। यह कलाशिल्पी सिंहल द्वीप से आया था। राक्षस ने इस शिल्पी से दो पुतले बनवाये थे, एक नन्दराज का, और दूसरा विषकन्या का। ये पुतले इतने अपूर्व बने थे कि नित्य प्रति देखने वाला भी इन पुतलों की कृत्रिमता नहीं जान सकता था। ऐसे हूबहू थे ये पुतले!

राजनौका शकटार के बताए समय पर ही आई थीं। अंधनाविक भी आ गया था। नन्दराज उसमें बैठ गया। और विषकन्या भी बैठ

गयी। प्रभात के धुंधले आलोक में यह बात समझी न जा सकती थी। बहुत समय के बाद भी कोई इस भेद को न समझ सकता था कि ये दोनों निर्जीव हैं। ऐसी मूर्तियाँ थीं वे! साक्षात् मूर्तियाँ!

शकटार को इस रहस्य का पता ठेठ हिरण्य गुहा के पास जाकर लगा इससे मंत्रीश्वर हताश हो गया और वह तुरन्त समझ गया कि यह कार्य राक्षस अमात्य का है!

परन्तु इसके पश्चात् उसका क्या हुआ इसका किसी को भी पता न चला।

अंध नौकापति नियमानुसार सायंकाल के समय गुहा से बाहर आया उसे किसी और बात का पता न था। उसने शकटार मंत्रीश्वर की जो बातें सुनी थीं, वे अमात्य राक्षस को यथावत् बता दी थीं। इस बात का परिचय केवल राक्षस अमात्य को ही था। राक्षस बात सुनकर शांत रहा। उसे अपना अनुमान यथार्थ होता हुआ लगा। अतः राक्षस ने शकटार की चिन्ता छोड़ कर, आगामी कल के कार्यक्रम पर ध्यान देना प्रशस्त समझा। भले ही शकटार हिरण्य गुहा में अपनी नौका में बैठा हुआ जीवन भर सुवर्ण ही देखता रहे। अब वह अन्दर से तो बाहर नहीं आ सकता था।

आगामी कल आचार्य चाणक्य का विद्यापति पद पर अभिषेक होने वाला था, मगध के महान् साम्राज्य की विद्वत् सभा का वह महान् विद्यापति बनने वाला था, और महादेवी का आदेश था कि वही राजपुरोहित होगा!

आगामी दिवस के लिए महादेवी की आज्ञा आ गयी थी, विद्वत् सभा की घोषणा हो चुकी थी। तड़के ही चाणक्य के द्वार पर उपसेनापति पुष्पगुप्त स्वयं सुवर्ण शिविका लेकर उपस्थित हुआ था। आचार्य तो प्रथमतः ही सन्नद्ध थे।

इन दोनों ने कल शकटार मंत्रीश्वर को हिरण्य गुहा में प्रविष्ट होते देखा था, साथ में नन्दराज था, एक लावण्यवती स्त्री भी थी। वह कौन थी, आचार्य को पता था। पुष्पगुप्त को यह बात ज्ञात न थी। आचार्य ने एक संकेत किया और पुष्पगुप्त आचार्य के निकट आ गया।

'मन्त्रीश्वर बाहर आ गये हैं।'

'हां, क्यों? पुष्पगुप्त चकित हो रहा था। मन्त्रीश्वर असत्य स्थान

बताएंगे, इतनी ही बात हुई थी। इससे अधिक पुष्पगुप्त को विशेष ज्ञात न था।'

'तुमने देखा था?'

'मैंने तो वृद्ध नौकापति को देखा था। अतः इसका अर्थ तो यही हुआ न?'

'महाराज कहाँ है? उन्हें तुमने देखा है?'

'महाराज!' पुष्पगुप्त को लगा कि आचार्य को विशेष ज्ञान है। 'महाराज? को तो मैंने नहीं देखा। किन्तु महादेवी के आदेशानुसार इस विद्वत् सभा का अभिषेक तो राजकुमार सुकल्प करने वाला है। वहां महाराज भी आ जाएंगे, अपने मुहूर्त में अब थोड़ा ही समय अवशेष है, शिविका वाहक दौड़ेंगे, तभी पहुंच पाएंगे!'

चाणक्य समझ रहे थे कि नन्दराज गुहा में ही रह गया है। उन्हें तो मंत्रीश्वर की विजय होती दीख रही थी।

'राक्षस मंत्रीश्वर कहां है?'

'वह कुछ व्यग्र लगता है। मेरी बहन, जिसके विषय में आपसे मंत्रीश्वर ने बात की थी, उसी ने मुझे कहा है कि कल सायंकाल से ही राक्षस अमात्य ने सहस्त्र यवनियों को विशेष सावधान रहने का आदेश दिया है। वह व्यग्र दीखता है। परन्तु हमें अब पल भी न खोना चाहिए।'

'हम मंत्रीश्वर शकटार से मिलेंगे?'

'अभी? नहीं जी भन्ते आचार्य! अन्यथा हमें विलम्ब हो जाएगा। मुहूर्त बीत जाएगा तो फिर दिन ढल जाएगा। और दूसरी बात भी है कि हमें विशेष मिलना जुलना नहीं चाहिए। बातें हम जान ही गए हैं। श्रृंगार ने मुझे कहा भी है कि राक्षस अमात्य की आपकी ओर भी निगाह है!'

'कैसी?'

'यही, जो अपनी बात है।'

'तो मैं उप-सेनापति जी! आपको बिना पूछे ही एक सीख देना चाहता हूँ। राक्षस के शंकाशील होने से पूर्व ही यहां से चल देना श्रेयस्कर है। फिर तो उसकी छाया में खड़ा रहना-मृत्यु को आमंत्रित करना है। अब हमें यहाँ से भाग चलना चाहिए। चलकर तक्षशिला

को केन्द्र बनाएंगे।'

'अरे! भन्ते आचार्य! आप देखो तो सही, आज तो आप राजपुरोहित पर अधिष्ठित होने जा रहे हैं। आगामी कल की मैं सैन्य खड़ा करता हूँ। थोड़े समय में ही मैं चल दूंगा।'

'तुम्हारी बहन वहाँ राज महालय में ही रहती है?'

'हां जी!'

'रात दिन?'

'हां जी! वह तो सशस्त्र यवनियों की नायिका है। राजमहालय के संरक्षण का दायित्व उसी पर है। महाराज की शरीर रक्षा भार भी उसी के ऊपर है। वह कहती है कि आज कल अमात्य राक्षस बहुत सावधान रहने लगा है।'

'एक महल में सहस्त्र यवनियां रख छोड़ी हैं उसने। जबकि वहाँ पर महाराज स्वयं नहीं होते तो, कल रात वे कहाँ थे, इसका पता यवनियों को भी नहीं लगता।'

चाणक्य को लगा कि नन्दराज अवश्यमेव गुहा मेंही रह गया है। किसी को इस बात का पता न लगे, इसलिए राक्षस उत्सव होने दे रहा है।

'तो कहो! उप सेनापति! मैं तुम्हें एक बात कहूँ!'

'कौन सी? किन्तु अब शीघ्र ही कह दीजिए ! अन्यथा हमें विलम्बर हो जाएगा, और विधि पूरी होते सांझ पड़ जाएगी।'

'मैं जल्दी ही कह रहा हूँ। तुम्हें ज्ञात है कि स्वयम् नन्द महाराज कहाँ हैं?'

'नहीं तो!'

चाणक्य ने उँगली ऊँची करके आकाश की ओर संकेत करते हुए कहा- वहाँ!'

'हें?'

'चलिए अब....' चाणक्य बोले—'उस अति रूपवती स्त्री को देखा था तुमने, जो नन्दराज के साथ में थी।'

'हां, ऐसा लगता तो था, परन्तु वह थी कौन?'

'तो मैं बताऊं तुम्हें! वह विषकन्या थी।'

'अरे भन्ते आचार्य! वह नहीं हो सकती।'

'वह हो नहीं सकती, पर थी। परन्तु अब तुम भी सावधान रहना। राक्षस मंत्रीश्वर के हाथ में यह अमोघ शस्त्र आ चुका है।'

पुष्पगुप्त अवाक् रह गया। उसे इस बात से बड़ा आश्चर्य था कि वह इस बारे में कुछ भी नहीं जानता था। वह कुछ क्षण सोचता रहा और बोला—'हूँ, तभी श्रृंगार देवी कहती थीं। वही होगी यह। अच्छा! चलिए अब.....'

आचार्य और उपसेनापति दोनों वहाँ से तुरन्त चल दिए। शिविका वाहकों ने समय पर पहुंचने के लिए दौड़ लगायी। वे समय पर जा पहुंचे। आचार्य के मण्डप में पहुंचते ही तुरन्त शंख ध्वनि हुई। चारों ओर विद्वान् बैठ गए। अभिषेक सामग्री लेकर ब्राह्मण खड़े हुए। दुन्दुभि आदि मंगलवाद्यों से नभ प्रतिध्वनित हो उठा। वेदों के मन्त्रोच्चारण होने लगे।

मण्डप चारों ओर से विद्वानों से खचित था। गन्ध, माला, पुष्पद्वीप, धूप से वायुमण्डल आह्लादक बन गया था।

चाणक्य ने वहां पर महा मन्त्रीश्वर को न देखा। परन्तु अमात्य राक्षस वहाँ पर था। महारानी सुनन्दा आ चुकी थीं और राजकुमार सुकल्प की प्रतीक्षा की जा रही थी। चतुर्दिक संगीत लहरियों से भर गया। श्रुति-मधुर शब्द प्रवाहित हो रहे थे।

इस महोत्सव को सफल बनाने के लिए ही मानो सारी प्रजा प्रमत्त बन कर, इतनी भारी संख्या में खड़ी थी राजमहालय के विशाल प्रांगण में चारों ओर। आज नन्दराज के दरबार में बहिष्कृत ब्राह्मण सम्मानित हो रहे थे। इससे भी चकित हो रहे थे। सारी प्रजा इस आश्चर्य को देख रही थी। लोग परस्पर बातें कर रहे थे कि यह वातावरण तो तक्षशिला के विद्वान् ब्राह्मण ने ही उत्पन्न किया है। मगध का वायुमण्डल परिवर्तित हो रहा था, विद्वान् और विद्या को गौरव प्राप्त होने लगा था। केवल कंचन, कर, एवं युद्ध की हवा बदल रही थी। जन-जन आनन्द में आ रहा था। राक्षस अमात्य इस जन मेदनी में यही देख रहा था कि जनता के हृदय में नन्दराज के प्रति कितनी अभक्ति थी, इसे तो देखाव के लिए ही नहीं, महादेवी के तक्षशिला जाने में भी राजनीति की गन्ध आ रही थी। राक्षस इसी विचार में डूबा था इस समय तो।

राक्षस अमात्य को ब्राह्मण बहुत धूर्त लग रहा था, अतः वह ब्राह्मण को मगध से निकाल देना चाहता था।

राजपुरोहित के अभिषेक के विषय में, कहीं पर भी कर्कशता अथवा असन्तोष के दर्शन नहीं हो रहे थे। आचार्य भी अपने मन में प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे। इसी समय एक यवनी आती हुई दिखलाई पड़ी। उसने आते ही अमात्य को नमन किया। उसने अमात्य राक्षस के कान में कुछ कहा और तुरन्त ही वहाँ से विदा हो गई। राक्षस ने चारों ओर एक दृष्टि फेंकी चाणक्य राक्षस की सूक्ष्मतम चेष्टा को देख रहे थे। अचानक आचार्य ने राक्षस की आँखों में भयंकर उपहास देखा। उसकी निगाहें चारों ओर फिर रही थीं और ऊपर से यह मजाक। फिर भी यह प्रदर्शित कर रहा था कि वह सज्जा की परिपूर्णता निरख रहा है। उसने राजमहिषी को देखा था। महाराज्ञी राजसिंहासन से उठकर हाथों में अभिषेक की माला लेकर चाणक्य की ओर बढ़ रही थी। उसने सर्वथा समीप आकर आचार्य के कण्ठ में हार पहनाया और दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया। आचार्य को राजसिंहासन के नातिदूर आसन पर अधिष्ठत करने के लिए, महाराज्ञी ने आगे बढ़कर हाथ जोड़े, प्रार्थना की। तभी मंगल निःस्वनों ने नभ को निनादित कर दिया।

आचार्य मन्द गति से महाराज्ञी के पीछे-पीछे चल रहे थे। आचार्य की दृष्टि में अभी तक राक्षस की सोपहास आँखें गड़ी। आचार्य इस उपहास के अभिप्राय को न समझ सके थे। वे आगे बढ़ रहे थे।

राजसिंहासन के सर्वथा समीप पहुंचे आचार्य। क्षण भर मंगल सुर बन्द हो गए। चाणक्य ने अपने राजपुरोहित के आसन पर समासीन होने के लिए ही गए थे कि ठीक इसी समय आचार्य ने पृष्ठद्वार से अपने सम्मुख आते हुए महापद्म को देखा।

आचार्य के आश्चर्य का ठिकाना न था। उसके विचारानुसार तो वह हिंरण्य गुहा में था। परन्तु उसके स्थान पर तो वह नन्दराज सामने से चला आ रहा था। चाणक्य समझ गए कि ठीक समय पर कुछ अनिष्ट होने वाला है। वे सावधान हो गए। नन्दराज की आकृति अनपेक्षित रोष से भरी थी। वह उतावली में व्याकुल, आवेशी और आवेगी लग रहा था। उसके आकस्मिक आगमन के

साथ ही, सारी सभा ने उठकर महाराज का स्वागत किया। राक्षस महाराज के सामने देखता रहा। महादेवी सुन्न पड़ गईं। किसी को कुछ भी पता न लगा कि महाराज की व्याग्रता, शीघ्रता और रोष का क्या कारण है? इतने में ही भयंकर क्रूर बादलों के महान् संघर्ष से उत्पन्न गर्जन के समान ही महा पद्मनन्द ने शीघ्र, तीक्ष्ण, उच्च स्वर में कहा :—

''राक्षस! यह सब क्या हो रहा है? इन बम्मनों को क्या तूने समवेत किया है? राजपुरोहित के आसन के पास यह कौन गड़ा है? कुरूप और घिनौना कौन है यह बम्मन? इसको यहाँ किसने बुलाया है? और यह सब चहल-पहल किसलिए है? मैं एक दिन के लिए बाहर चला गया था तो यह सब तमाशा किसने क्या तूने खड़ा किया है? भद्रशाल सेनापति कहाँ है? इन सब बम्मनों का यहाँ क्या काम है? नन्द राज्य में इन दुष्टों का बहिष्कार है। तू यह सब भूल गया है? राक्षस! बता यह सब खुराफ़ात क्या है?'

राक्षस ने दोनों हाथ जोड़कर, आगे बढ़कर अत्यन्त विनीत शब्दों में 'और तो कुछ नहीं है महाराज मगध के विद्यापति का आज अभिषेक है। ये महान् आचार्य मगध के विद्यापति पद पर अधिष्ठित हुए हैं।'

'परन्तु इसे किसने प्रतिष्ठित किया है? तूने?'

'मुझे यह अधिकार नहीं है नाथ! महादेवी की आज्ञा है!'

'यह टेढ़ा मेढा! लट्टू! कुरूप बम्मन! इसकी नाक और दाढ़ी तो मिल गई यह क्या बनेगा। मगध का विद्यापति? देख लो विद्यापति कभी न देखा हो तो! महादेवी पागल हो गई हैं, किन्तु तू क्या समझ कर पागल बना है? जनता भी पागल हो गई है। इसे निकालो, निकालो, यहाँ से निकालो। ऐसा कुरूप व्यक्ति मगध के राजद्वार पर कभी नहीं ठहर सकता। महादेवी! तुम अपने स्थान पर वापस जाओ। मन्त्रीश्वर शकटार तुम्हारी प्रतीक्षा में हैं।'

महादेवी सुनन्दा उग्र एवं सरोष शब्दों में प्रत्युत्तर देने जा रही थी, कि तभी राजकुमार सुकल्प एक ओर से दौड़ता हुआ आ पहुँचा, वह बोला—'माँ! एक शब्द भी न कहना। राक्षस अमात्य की बातें यथार्थ लगती हैं। यह बम्मन तुमसे और मुझसे तक्षशिला की बातें झूठ-

मूठ में ही कर रहा था। तक्षशिला नाम की कोई नगरी भी नहीं है।'

क्रोध में भी महादेवी सुकल्प की मूर्खता देखकर हंस पड़ीं—'अरे! सुकल्प मूर्ख!'

'यह मूर्ख होगा महादेवि! किन्तु तुम पागल हो—' नन्दराज ने जल्दी में कहा—'तुम अब यहां से चली जाओ। हम इस धूर्त ब्राह्मण को ठीक कर लेंगे। अरे पुष्पगुप्त! कहाँ है पुष्पगुप्त?'

पुष्पगुप्त एक ओर से दौड़ता हुआ आया। इस दृश्य को देखकर वह अवाक् रह गया। महादेवी समझ गई हो, इस प्रकार एक ओर से पीछे जा रही थीं। अपमान ने रानी की हड्डियों को छेद दिया था। परन्तु इस समय तो सुकल्प भी आचार्य की ओर देखकर तिरस्कार से हंस रहा था जोर से। और इसे देखकर शेष राजपुत्र भी जोर-जोर से हंस रहे थे। आचार्य का यह अनादर था, और इसे देखकर समस्त सभा हंसने लगी।

आचार्य राक्षस की रची हुई इस माया को देख कर सुन्न हो गया। तभी नन्दराज ने उग्र स्वर में कहा—'क्या देख रहा है? इस बम्मन को पकड़ ले, यह भयंकर है। पकड़ इसे........जकड़ ले।'

पुष्पगुप्त के आगे बढ़ने से प्रथम ही, जैसे आकाश में, मनुष्य की हड्डियों और हृदयों को बेधने वाली बिजली की कौंध और गर्जना के समान ही आचार्य चाणक्य की गर्जना और तर्जना हुई। जिससे समस्त सभा, नन्दराज और राक्षस पुष्पगुप्त, विद्वान् ब्राह्मण एवं आगन्तुक सब के सब कांप गए। आचार्य विष्णुगुप्त की, शैलखण्डों को चूर्णित कर देने वाली महाभयंकर मेघगर्जना सी, ऊँची, सरोष तीव्र, तीक्ष्ण, पावक विखराती हुई; अक्षर अक्षर में वैर की विषाक्त आवाज सनाई दी, यह आवाज न थी प्रलयंकारी सिंहगर्जना के समान थी।

'रे बर्बरक नन्द! तू ब्राह्मण की वाणी सुन ले यह शिखा देख ले, यह अब तभी बँधेगी, जब धरातल पर संस्कार द्वेषी न रहेंगे! नन्द वंश न होगा, एक नन्द का बच्चा भी न होगा, नन्दनिकन्दन होगा! तभी यह ब्राह्मण की शिखा बँधेगी! ले........।'

इतना कहकर आचार्य ने अपनी लम्बी शिखा खोल दी। शिखा को ध्वजा की भाँति झटका—'बस यह शिखा बिना तेरे नाश किए, अब नहीं बँधेगी! जा!'

और इतना कहते ही चीते की भाँति फाँदते हुए आचार्य वहाँ से चले! कौन जाने सूकड़ काष्ठ सी काया में इतनी बिजली सी त्वरा कहाँ से आयी? एक और दूसरी फलाँग में, तो वे मण्डप से परे पहुँच गए।

पुष्पगुप्त और सैनिक उनके पीछे दौड़े।

चतुर्दिक 'दौड़ो! पकड़ो' की ध्वनि गूंज उठी। राज महालयं की सशस्त्र यवनियाँ भी बाहर आ गई थीं।

आचार्य ने शीघ्रता से दौड़ लगाई, पुष्पगुप्त और सैनिक उनके पीछे पीछे-पीछे दौड़ रहे थे।

२४

सिर पर लटकती हुई तलवार

आचार्य आगे थे, पुष्पगुप्त उनके पीछे था। सैन्य आचार्य को घेरने का प्रयास कर रहा था। सूकड़ आचार्य अति स्फूर्तिवन्त थे। वे पर्वतीय प्रदेश के रहने वाले थे। वे वृक्षों, लताओं एवं गुल्मों के पीछे छिपते, लुकते नजर बचाते आगे बढ़ते जा रहे थे। परन्तु आगे पीछे आचार्य के घेरने की बनी थी। आचार्य को सूझता न बनता था कि वह किधर भागें, किस ओर चलने में कम भय था। पुष्पगुप्त इस समय सहायता करने की स्थिति में न था। कहीं पर वे दुबक लें, तभी बचने की शक्यता थी। परन्तु राज महालय के बाहर चारों ओर अपार जन जलधि ठाठें मारे खड़ा था। राजपथ पर तो शीघ्र ही पकड़े जाने की विशेष संभावना थी। उससे बच कर निकलना बहुत कठिन था। राज महालय के समीप में ही टेढ़े-मेढ़े मार्गों, लता कुंजों एवं अनेक आलयावलियों की ओट में बचे रहने की कुछ-कुछ शक्यता थी। यही था एक मार्ग आचार्य के पास। आचार्य ने चारों ओर दृष्टि फेंकी तो उन्हें सशस्त्र सैनिक और द्वारपाल दिखे। वे पकड़े गए तो यह नन्दराज था, यहाँ पर बर्बरकता का अखण्ड राज्य था। यहाँ पर तो जितने नीच वंश का मनुष्य हो, उतना ही ऊँचा माना जाता था। यहाँ पर आर्यत्वविद्वेषी राक्षसों की राजनीति का बोलबाला था। यहाँ पर सर्वप्रथम ब्राह्मण ही वध्य था, उसे अवध्य नहीं माना जाता

था। ब्राह्मण मिल जाए तो औरों के वध की आवश्यकता ही न रहे। ऐसा था महाराज्य।

आचार्य को हुआ कि उन्हों ने जल्द जल्द में बोलकर बुरा कर दिया किन्तु न बोलते और जल्दी में न भागते तो वह अभी तक बन्धन में आ गए होते। आचार्य को विचारने का समय ही कहाँ था, इन्हें तो कहीं भी छिप जाना था। किसी भी प्रकार से ये छिपकर सुरक्षित हो जाना चाहते थे। आचार्य दूर से ही दीख रहे एक राजमहल की ओर दौड़े। यहाँ पर नन्दराज के असंख्यात प्रासाद खड़े थे। नन्दराज किस महालय में रहते थे, इस बात पता तो किसी को भी न लगे, इसलिए यह व्यवस्था की गई थी। प्रसंगानुसार सभी राज भवनों को काम में लाया जाता था। आचार्य ने ऐसे ही महालय की ओर दौड़ मारी। उधर जाने के लिए एक छोटा-सा टेढ़ा मेढ़ा मार्ग था। इसके बीच बीच में वृक्षवलियां थीं। पथ आचार्य को सुरक्षित लगा। उसी ओर आँखें मीच कर आचार्य दौड़ते गए। सद्भाग्य से वहाँ पर यवनियों का सशस्त्र सैन्य रहता था। सम्प्रति के द्वार पर केवल एक ही युवती खड़ी थी। आचार्य को पुष्पगुप्त की बात याद हो आई। स्यात् है पुष्पगुप्त की बहन शृंगारदेवी ही हों यह! अतः वे शीघ्रता से उधर दौड़ते गए। टेढ़े-मेढ़े वृक्ष कुंजों की वजह से थोड़ी देर तक आचार्य सैनिकों से ओझल हो गए, किन्तु इन्हें आते देखकर वह युवती द्वार से और आगे बढ़ी। इतनी देर में तो पुष्पगुप्त के सैनिक उसे न पाकर आगे बढ़ने लगे। यह एक ही था छोटा सा लहमा। विचारने का समय था। ठहरने में मृत्यु थी। आचार्य ने अपने सामने एक सशस्त्र युवती, तेजस्वी, रूपभरी, नमिता, गौरवमयी, नारी को देखकर समझा कि हो न हो यही तो कोई यवनियों की नायिका है। उन्होंने जीव के ऊपर आकर सहसा कह दिया—'तुम्हारा नाम शृंगारदेवी ? मैं आचार्य विष्णुगुप्त हूँ। मुझे इस समय छिपा लो।'

उस नायिका ने आचार्य को आगे जाते हुए रोक दिया। सामने तलवार आड़े रख दी। आचार्य हाँफते हुए स्थिर खड़े हो गए। परन्तु एक-एक पल कीमती था। सैनिक भी आ सकते थे। आचार्य ने सहमते हुए कहा : 'शृंगारदेवी! मैं तुम्हारे भाई का मित्र हूँ। जल्दी करो, पल का भी समय नहीं है। यही समय है बचने का। पुनः

किसी की सहायता का क्या मूल्य? तुम और पुष्पगुप्त भी मेरी सहायता न कर सकोगे? जल्दी करो।'

आचार्य के आश्चर्य के साथ ही उस युवती ने आड़े की हुई तलवार हटा ली। उसने मुख्य द्वार के निकट से ही नीचे, तहखाने की ओर जाती हुए सोपान परम्परा की ओर निगाह डाली। मुख से बिना बोले तलवार से उस ओर संकेत किया!

युवती-निर्दिष्ट दिशा की ओर चलकर, आचार्य ने आगे भूगर्भ में प्रवेश किया।

आचार्य को भय था कि अभी सैनिक आ धमकेंगे। और तभी 'दौड़ो दौड़ो! पकड़ो पकड़ो!' की ध्वनि आचार्य के कानों में पड़ी। वे अन्तः प्रविष्ट होकर एक स्तम्भ के पीछे छिप गए। हाँक पुष्पगुप्त की थी किन्तु वह राज्य महालय के मुख्य द्वार से आगे बढ़ गया लग रहा था। उसके पीछे-पीछे सैनिक दौड़े आ रहे थे। पुष्पगुप्त ने जल्दी से ही श्रृंगार देवी से पूछा—'श्रृंगार! वह बम्मन यहाँ से निकला है? यहाँ से कोई दौड़ा-दौड़ा गया है?'

'यहाँ पास में ही कोई दौड़ता हुआ गया है' श्रृंगार बोली, परन्तु कौन था वह, मुझे पता नहीं है? अन्यथा मैं उसे पकड़ न लेती—क्या वह भागा है?'

'हाँ, हाँ किस ओर भागा है?'

'इस समीपवर्ती वृक्ष-कुंज में ही गया है। वह वहीं पर कहीं छिप गया होगा!' श्रृंगार देवी ने कहा।

आचार्य दोनों की बातें सुनते रहे। अब उनके दम में दम आया। आचार्य को समझते देर न लगी कि वे दोनों भाई बहन उसे बचाना चाहते थे। तो भी थोड़ी देर में राजमहालय की चप्पा-चप्पा भूमि की राजसैनिक छान-बीन करेंगे, फिर तो पकड़े जाने का पूरा भय था वे अभी तक स्तम्भ के पीछे खड़े थे। इससे अधिक सुरक्षित स्थान की खोजकर रहे थे। सामने एक खण्ड था पर वह बन्द था। उस पर ताला लगा था। आचार्य ने उसे झटका तो भी न खुला। इतने में उनके कन्धे पर किसी का हाथ टकराया वे काँप गए, परन्तु तुरन्त आचार्य ने एक सुरीली, मीठी, मधुर एवं मन्द हंसी सुनी, चौंककर आचार्य ने पीछे जो देखा तो वही सशस्त्र नायिका युवती खड़ी थी, जिसने

उसे यह सुरक्षा मार्ग बतलाया था। आचार्य के लिए यह एक प्रभावशाली घटना सिद्ध हो गई। परन्तु उसे पूर्ण निश्चय न हो सका कि यह आगन्तुका वस्तुतः वही श्रृंगार देवी है अथवा और कोई है। आचार्य की शंका को निर्मूल करती हुई वह युवती उनके सामने आकर खड़ी हो गयी, और धीरे से आचार्य से बोली—'विष्णुगुप्त आचार्य आप ही हैं? तक्षशिला में आप ही थे न?'

'हाँ, हाँ, हाँ देवि! हाँ, आचार्य जल्दबाजी में कह गए। क्षण नाश करना ठीक नहीं है। ऊपर सिर पर तलवार लटक रही है। अभी छान-बीन आरम्भ होगी, शीघ्रता करो।'

उस युवती ने इस टोन से पूछा कि जैसे कुछ हुआ ही न हो—'क्यों आप ही हैं न चन्द्रगुप्त के गुरु?'

'हाँ, हाँ! देवी हाँ! यह खण्ड खुल जाता है न?' श्रृंगारदेवी ने झटपट अपने पास से कुंजी निकाली और ताले में लगा दी। द्वार उघड़ गया। आचार्य ने अन्दर दृष्टि की। इस खण्ड में यवनियों का शस्त्रागार था। उस तरुणी ने बिना बोले ही संकेत किया : 'वहां घुस जाइये! यह सुरक्षित है!'

'और तुम? तुम कौन हो? मैं किसका उपकार मानूँ?'

'यह बात फिर, मैं उनसेनापति की सहोदरा हूँ। चन्द्रगुप्त अब कहाँ है?'

'तक्षशिला में'— इतना कहकर आचार्य अन्दर जाकर खण्ड में बैठ गए।

श्रृंगार देवी ने कान खड़े किए। ऊपर कोलाहल होता लग रहा था। उसने नाक पर अंगुली रखकर आचार्य को सर्वथा मौन रहने का संकेत किया। और स्वयं वह भूखण्ड का द्वार बन्द करके, ताला लगाकर दौड़ती हुई ऊपर चली गई। आचार्य को श्रृंगारदेवी के दौड़ते कदमों की ध्वनि सुन पड़ती थी।

आचार्य ने निगाह फेंकी। वहां सर्वत्र गाढ़ अन्धकार छाया था। एक छोटे गवाक्ष में थोड़ा सा प्रकाश आ रहा था। इस शास्त्रागार में यवनियों के शस्त्र भरे थे। यदि अकस्मात् यहां पर कोई शस्त्रार्थ आ गया तो? आचार्य को भयभीत हो रहे थे, तभी उन्हें हुआ कि यहाँ की कुंजी तो श्रृंगारदेवी के पास में है। और श्रृंगारदेवी के हृदय में

तो आचार्य की बातें प्रवेश पा चुकी थीं। पुष्पगुप्त का भाई था। उसने ही इसे बात कही होगी। अब आचार्य को थोड़ी-सी सांस आयी। वह सांस लेकर नीचे आसन पर बैठ गये। आचार्य ने शान्त होकर चारों ओर नजर डाली। यह शस्त्र भण्डार बहुत भयंकर था। यह बात आचार्य स्वयं देख रहे थे। अभी तक आचार्य के कानों के ऊपर का कोलाहल आ रहा था। आचार्य की खोज खबर हो रही थी। उन्हें डर लगा कि उन्हें सिवाय श्रृंगारदेवी के और किसी युवती ने तो देखा न होगा? वे अपनी दौड़ याद कर रहे थे। उन्हें सर्वथा स्मरण था कि द्वार पर सिवाय श्रृंगारदेवी और कोई न था। वे सभी यवनियाँ राजमहलों में अन्यत्र थीं। वहाँ पर और किसी की याद आचार्य को न थी। यह घटना इतनी शीघ्र हो गई थी। उन्हें स्मरण रखने का अवसर ही न आया? तो भी आचार्य को इतना विश्वास था ही कि यहाँ पर वे पूर्णतया सुरक्षित हैं। पुष्पगुप्त और श्रृंगारदेवी में से एक फूट जाए तो इन्हें निश्चित ही भय था ऊपर लटकती तलवार का। अब निश्चिन्त भाव से खोज-बीन होगी, अतः स्वयं सावधान रहना चाहिए। श्रृंगारदेवी आचार्य को विशेष तेजस्विनी लग रही थी। वह सोची हुई बातों को पूर्ण कर सकती थी। उसके हृदय में शैशव के साथी चन्द्रगुप्त की मीठी याद बराबर छिपी थी। आचार्य को श्रृंगार की याद को उत्तेजित करने में कुशलक्षेम दीख रहा था। अब की बार श्रृंगार के आने पर वह उसकी पूर्वोक्त याद को उत्तेजित करने की सोच चुके थे। वे फिर बैठे-बैठे शान्ति से और चारों ओर के शस्त्रास्त्रों को देखने लगे। फिर आचार्य ने ऊपर के गवाक्ष में दृष्टि डालकर अनुमान किया कि कोई ऊपर से तो देख सकता है या नहीं? अब आचार्य विश्राम चाहते थे, उन्हें विश्राम के लिए एक कोने में एक पीढ़ा दीखा और जाकर उस पर लेट गए। लेटे-लेटे उनके सामने तक्षशिला से लेकर दो क्षणों पूर्व तक का घटनाचक्र घूम गया। कथानक की भाँति। उन्होंने शकटार मंत्री के बारे में सोचा था उनका क्या बना होगा? आचार्य ने अनेक अनुमानों को सहारा लिया। परन्तु वे किसी निष्कर्ष पर न पहुंचे। राक्षस अमात्य की सर्वथा गुप्त, शान्त किन्तु महान् शक्ति का विचार करते हुए हैरान हो गये। राक्षस ने न तो एक शब्द ही कहा, नहीं कोई योजना ही उसकी कानों में पड़ी।

केवल एक साधक की शान्त दृष्टि से ही उसने सारी बात को सिद्धि तक पहुंचा दिया था।

मन्त्रीश्वर शकटार का वचन आचार्य को याद हो आया कि जब तक राक्षस जीवित है तब तक नन्दवंश का बाल भी बांका नहीं होगा।

आचार्य के मस्तिष्क में अनेक विचार घूम रहे थे। अभी तक चन्द्रगुप्त की माँ से वे मिल भी न सके थे। चन्द्रगुप्त का सन्देश भी अभी तक अधर में लटक रहा था। आचार्य को यह तो ज्ञात हो चुका था कि पुष्पगुप्त चन्द्रगुप्त की माँ को जानता है। अत एव श्रृंगारदेवी भी उसे जानती होगी। अभी-अभी तो उसने चन्द्रगुप्त के विषय मे पूछा था। आचार्य यहां जाने से पूर्व ही चन्द्रगुप्त की माँ को सन्देश भेज देना चाहते थे। श्रृंगार सन्देश भेजने का एक साधन थी। उस विषकन्या के आकर्षण से नन्दराज कैसे बचा होगा। यह बात आचार्य के समस्या ही बनी रही। स्वयं के यहाँ से भागने की भी एक बड़ी समस्या थी। उनका मस्तिष्क अब काम न करता था। अनेक प्रश्न थे। अन्त में आचार्य ने इन सब बातों पर विचार करना छोड़ दिया। जो होगा देखा जाएगा। यह सोचकर वे आँखें मीच पड़े रहे।

उन्हें कब निद्रा ने धर दबाया, इसका आचार्य को ज्ञान भी न था। और नींद में कितना समय बीत गया। यह भी उन्हें ज्ञात न हो सका।

अकस्मात् किसी की मन्द आवाज कानों के पास हुई और इन्हें किसी के मधुर स्पर्श ने जगा दिया—

'भन्ते आचार्य! उठ बैठिए। मैं श्रृंगारदेवी हूँ। आप यहाँ निरापद नहीं हैं।'

'हे!' कहकर आचार्य खड़े हो गये।

२५

श्रृंगारदेवी

श्रृंगारदेवी आचार्य के सामने खड़ी थी। इसके चेहरे पर आचार्य ने व्याग्रता और आश्चर्य देखा। आचार्य की समझ में आ गया। निश्चित ही कोई नवीन पुरातन बात होनी चाहिए। सम्भव है कि राक्षस अमात्य

ने एक-एक सूत स्थान की छानबीन का आदेश दिया हो!

'भन्ते आचार्य!' शृंगारदेवी ने बहुत धीरे से कहा : 'आपके और हमारे ऊपर तलवार लटक रही है। आपको अभी यहाँ से चले जाना चाहिए!'

'अभी अभी?'

'अर्थात् शीघ्र से शीघ्र, प्रथम पल में।'

'कहाँ जाऊँ?'

'कहाँ, और कैसे जाना है यह बात निश्चित करनी है। अमात्य ने राज महालय की एक एक इंच भूमि की छान-बीन आरम्भ कर दी है। आपको जीवित अथवा मृतक रूप में नन्दराज के सामने प्रस्तुत करना है, भाई के ही ऊपर यह दायित्व है। यह भाई की कठिनतम कसौटी है!'

'भाई के ऊपर ही यह दायित्व पड़ा है? पुष्पगुप्त उप-सेनापति पर?'

'हाँ जी, यही कठिनाई है। आगे पीछे सैनिक यहाँ भी आ धमकेंगे। उनके आ जाने से पूर्व ही आपको यहाँ से निकल जाना होगा। वैसे तो आपको थोड़ा बहुत समय तो मिलेगा ही। आपको त्वरा और सज्जा रखनी चाहिए। समय पर स्यात् है अवसर न हो।

आचार्य सुनते ही खड़े हो गये। उन्होंने यज्ञोपवीत ठीक किया और उपवस्त्र ठीक-ठीक धारण करके कहा : 'लीजिए, मैं प्रस्तुत हूँ!'

'शृंगारदेवी उन्हें देखने लगी। आपको यह शिखा विघ्न करेगी। पुरुषों की मुखमुद्रा भी अनेक बार मार्ग विकट बना देती है!' इतनी मुसीबत सिर पर आ पड़ी थी तो भी शृंगारदेवी मन्द-मन्द, मधुर स्वर में मुस्कुरा पड़ी। आचार्य को इस युवती का साहस बहुत विचित्र लगा। आचार्य को लगा कि इसकी छाती निश्चितरूपेण लोहे की है। उसकी मुस्कान में निःसन्देह नैराश्य निराकरण की शक्ति थी। तो भी आचार्य को शीघ्रता थी सम्प्रति। उन्हें शृंगारदेवी की बात समझ में न आयी थी। वे बोले :

'अर्थात्? क्या शिखा रक्षण मगध में अपराध है?'

'शिखा रक्षण तो अपराध नहीं है, किन्तु शिखा रखकर स्त्री वेष

में भागना यह अवश्य अपराध है!' इतना कहकर श्रृंगारदेवी जोर से हंस पड़ी और बोली : 'आप भी आचार्य! कहाँ आ फँसे इस मगध में? इस राज्य में एक ही पुरुष है नन्दराज! अन्य सभी स्त्रियाँ हैं। आपके सिर पर भी यही भय है स्त्री बनने का!'

श्रृंगार ने तुरन्त यवनी का वेश निकाला। शस्त्र तो यहाँ पर थे ही। शिरस्त्राण, पादबन्धन, वक्ष कवच। और बोली : 'भन्ते आचार्य! क्षमा कीजिए, और दूसरा उपाय नहीं है। इसी वेश में बचा जा सकता है। अमात्य राक्षस ने सारे मार्ग अवरुद्ध करा दिये हैं। यहाँ पर भी थोड़ी देर में धमके हुए समझिये! यह शब्द हो रहा है, सुनिये। पचास सहस्र कार्षापण का पारितोषक आपको निगृहीत करने के लिए दे रहा है, सुनिये।'

आचार्य के कानों में बाहरी शब्द पड़े। आचार्य विचारों में डूब गये। वे अत्यन्त शान्त स्वर में बोले : 'श्रृंगारदेवी! जब बाहर इतनी बड़ी व्यवस्था हो तब सुरक्षा तो समीपवर्ती स्थान में ही होती है, दूर भागने में नहीं, किन्तु अति गुप्त रहने में हैं, दो चार दिनों में बात ढीली हो जाने पर देखा जायेगा।'

श्रृंगारदेवी विचारने लगी। आचार्य की बात तो यथार्थ थी। सभी मुख्य मार्ग राजपुरुषों से संक्रान्त थे। बाहर पक्षी भी पंख नहीं हिला सकता था। और यहाँ कठोर निरीक्षण था।

'भन्ते आचार्य! राक्षस अमात्य को तो अब मेरे भाई उप-सेनापति पुष्पगुप्त के विषय में भी शंका हो गई है!'

'मैंने भाई से यह कह दिया था। अमात्य राक्षस की प्रतिच्छाया में एक क्षण भी ठहरना सर्वथा हानिकारक है। उन्हें भी अब अविलम्ब यहाँ से चल देना चाहिए!'

'किन्तु निकलकर जायें भी तो कहाँ? मगध साम्राज्य ठेठ तक्षशिला तक विस्तीर्ण है। इतनी दूर तक पहुंचते-पहुंचते तो वे बिना निगृहीत हुए नहीं रह सकते। भाई के लिए तो एक बात हो रही है कि राक्षस अमात्य मानता है कि अन्दर रहने वाला शत्रु भीषण होता है, अतः स्यात् है वह भाई को जाने भी दे। पर यह कार्य अन्धकार में भटकने के समान है, सार्थक भी हो जाय!'

'वह किसे जाने देगा?'

'महादेवी ने भयंकर विद्रोह जगाया है। वह स्वयं पाटलिपुत्र छोड़ना चाहती हैं। साथ में राजकुमार भी जायेंगे तो भाई भी जायेगा।'

'हें? महादेवी पाटलिपुत्र छोड़ देना चाहती हैं?'

'हाँ, राजकुमार सुकल्प महादेवी के साथ जायेगा!'

'किन्तु कहाँ जाएँगे?'

'और कहाँ? तक्षशिला के सिवाय। आपका जगाया तक्षशिला का स्वप्न पूरा विफल थोड़े ही हुआ है? उसने अपना प्रभाव तो दिखाया है। महादेवी तक्षशिला में रहना चाहती हैं अपने पुत्रों के संस्कारों के लिए! अब तो महादेवी को पाटलिपुत्र खाने को दौड़ता है!'

'किन्तु महाराज? महाराज जाने देगा?'

'जाने न देगा, तो क्या करेगा? महादेवी अपने जीव पर आ गई हैं। महाराज या तो सर्वस्व स्वाहा करे या महादेवी को जाने दे। दोनों में से एक अवश्य होगा। यहाँ पर तो आन्तरिक द्वंद्व जागृत हुआ है। वह हलाहल विषपान के लिए प्रस्तुत हो गई हैं। और राजकुमार तो वही करेंगे, जो कुछ माँ कहेगी। महादेवी को नन्दराज की छाया भी नहीं चाहिए। वह पाटलिपुत्र की हवा में सांस भी लेना नहीं चाहती। महादेवी के साथ भाई पुष्पगुप्त जा सकें, तो मुक्ति है। किन्तु इस समय तो आपका भय महान् है।'

'इसी दृष्टि से मैंने आपको यवनी की वेशभूषा प्रदान की है। इस वेष को पहनाकर मैं आपको सीधे महादेवी के महालय तक पहुंचाए देती हूँ। वहाँ पर मेरी एक अत्यन्त विश्वस्त सखी है, वह आपको सँभाल लेगी। आप इस वेश को बाहर निकलने तक किसी भी प्रकार न छोड़ें।'

'महादेवी कब तक प्रस्थान करेंगी?'

'एक-दो दिन में, परन्तु निश्चित नहीं कहा जा सकता।'

चाणक्य को लगा कि श्रृंगारदेवी का बताया हुआ यही एकमात्र मार्ग है सुरक्षित रहने का। अन्य किसी प्रकार बाहर जाने पर भी निगृहीत होने की पूरी-पूरी सम्भावना है। अमात्य राक्षस यह नहीं चाहता कि पाटलिपुत्र में अंतर्द्वन्द्व होता रहे, तभी तो वह इस मार्ग को अपना रहा है।

'महादेवी तक्षशिला से कब लौटेंगी?'

'राजकुमारों का पठन पूर्ण होने पर। यह मार्ग स्वयं राक्षस ने ही महाराज को सुझाया है, अन्तर्द्वन्द्व को टालने के लिए। राक्षस अमात्य को लगता है, महादेवी के पाटलिपुत्र में रहने से विशेष हानि की सम्भावना है। अत: महादेवी का बाहर जाना ही ठीक है।'

आचार्य को यह जानकर आनन्द हुआ कि उसकी लगाई हुई तक्षशिला की धुन सर्वथा विफल नहीं हुई। तभी आचार्य को याद आया कि श्रृंगार को वह बात कहना तो रह गई है। उन्होंने जल्दी में कहा : 'अच्छा तो एक बात सुनो....' आचार्य ने अपने पास एक अंगूठी निकाली : 'तुम जिस चन्द्रगुप्त के साथ खेली हो उसे जानती पहचानती हो?'

'कौन-सा चन्द्रगुप्त?' श्रृंगारदेवी इस समय भी परिहास बिना न रह सकी। आचार्य को इसकी छाती निरे वज्र की लग रही थी। वज्र से भी अधिक कठोर थी उसकी छाती। वह मन चाहे समय पर परिहास कर सकती थी।

'राजकुमार माना जाता है न जो! उसकी माँ यहीं कहीं पर रहती है, तुम्हें पता होगा!'

'हाँ, मैं उसकी माँ को पहचानती हूँ।'

'अच्छी बात, उसकी माँ को यह अंगूठी देनी है। इतना कहकर आचार्य ने उसके सामने एक अँगूठी रख दी—'और एक साथ संदेश भी देना है।'

'उसकी माँ को ही देना है न?'

'तब और किस को?' आचार्य कहने को तो कह गये। परन्तु तुरन्त समझ गये। प्रश्न को पकड़ती हुई श्रृंगारदेवी की ओर वे ताकते रहे। उसकी आँखों में एक प्रेममयी मस्ती नाच रही थी। 'हाँ..... ओहो! श्रृंगारदेवी। किन्तु अब तो हमारी बात कठिन बनती जा रही है, क्या यहाँ और कोई नहीं होगा जो, अन्तर्विद्रोह जगा सके। अन्यथा हमारा प्रयास विफल हो रहा है श्रृंगार! तुम्हारे ऊपर भी है यह सन्देह राक्षस को?'

'मेरे ऊपर ? न भी होगा तो अब हो जायेगा! किन्तु यह सब बाद में देखा जायेगा।'

'आप सर्वप्रथम प्रस्तुत हो जाइये!'

आचार्य को श्रृंगारदेवी यवनी वेशभूषा और शास्त्रास्त्रों से सजाती-सजाती स्वयं इतनी जोर से हँसी कि चाणक्य को ऐसा लगा कि इस अट्टहास को बाहर और कोई न सुन ले।

वेश के पूर्ण होते ही श्रृंगारदेवी ने आचार्य को देखा और जोर से ताली देकर हँस पड़ी और बोली : 'भन्ते आचार्य देव! क्षमा कीजियेगा। किन्तु आप इस वेश में बहुत सजते हैं! अब आप इसी वेश में रहिये न हमारे साथ!'

'अरी जा, पगली छोकरी कहीं की!'

आचार्य के हृदय पर भी श्रृंगारदेवी के परिहास ही प्रतिध्वनि मुखरित हो उठी, और वे बरबस बोल पड़े थे।

'भन्ते आचार्य! अब मेरी बात ठीक-ठीक सुनिये। यह हमारा शस्त्रागार है। छानबीन तो यहाँ भी होगी ही, किन्तु यहाँ पर छिपने के अनेक साधन हैं। रात पड़ जाने पर तो हम राजा हैं, इस कोने में तो ज्वालक भंडार है, जो थोड़ी सी चिनगारी से जल सकता है। इस भण्डार के नीचे एक भूगर्भ मार्ग है। इसके बारे में यह कहा जाता है कि इस भूगर्भ का मार्ग का मुख ठेठ गंगा-तट के ऊपर निकलता है, जहाँ पर राजमहालय की अंतिम सीमा है। सम्भवतः इस मार्ग का और किसी को ज्ञान भी न होगा। यवनियों की नायिकाएँ इसे परम्परा से जानती आ रही हैं। मुझे भी यही बात परम्परा से मिली है। इस सुरंग में आप ठहरें, जब तक सैनिक आते हैं। फिर रात होने पर जैसा होगा, देखा जायेगा। फिर वेश परिवर्तन का समय मिला न मिला, अतः यह सज्जा पूर्ण कर दी है। मैं देखते-देखते विस्फोटक द्रव्यों को बदल देती हूँ।'

श्रृंगारदेवी बड़ी मुश्तैदी एवं त्वरा से विस्फोटक पदार्थों को हटाने लगी।

यह परिवर्तन इतनी स्वस्थता से किया जा रहा था कि उसे देखकर शायद ही किसी को कोई शंका होती।

आचार्य भी श्रृंगारदेवी को इस कार्य में सहायता देने लगे।

थोड़ी ही देर में अधस्तन भूगर्भ मार्ग की सीढ़ियाँ चमकीं। झटपट आचार्य इन सोपानों पर उतर गये। श्रृंगारदेवी स्वयं भी नीचे उतरी। उसने धीरे से कहा : 'भन्ते आचार्य! आप जरा और नीचे चले

जाइये। हम इस द्रव्य भण्डार की परीक्षा के लिए भाला-बल्लम अन्दर मारेंगे, इस प्रकार आगन्तुक सैनिकों के मनों से सन्देह निकल जायेगा।'

किन्तु श्रृंगार देवी के वाक्य पूर्ण होने से प्रथम ही ऊपरी भाग में सैनिकों का कोलाहल सुनायी पड़ा। वह त्वरा ऊपर जाने के लिए बाहर निकल पड़ी आचार्य ने उससे अपनी अन्तिम कह दी जल्दी जल्दी : 'तुम दोनों भाई बहन अब यहाँ का संकट न उठाना। महादेवी निकले या न निकले, किन्तु तुम दोनों अमात्य राक्षस के बन्धन में जकड़ लिये जाओगे। तुम सीधे तक्षशिला चले आना, वहीं से हम विद्रोह जागृत करेंगे!'

श्रृंगारदेवी एकदम कूदकर ऊपर पहुंची। उसने तलगृह पर ढक्कन रखा, उसके भी ऊपर स्फोटक पदार्थ रखे अत्यन्त स्फूर्ति से। वह अपना कार्य पूरा भी न कर पायी थी कि ऊपर अति सन्निकट में कोलाहल होता हुआ सुन पड़ा। उसने जल्दी से द्वार बन्द करके उसमें ताला लगा दिया। जाते-जाते अपना गणवेश भी ठीक किया। द्वार पर आकर वह अपने कार्य में तल्लीन हुई थी कि उसके कानों में स्वयं अमात्य राक्षस का स्वर टकराया।

'यह कौन है नायिका?'

श्रृंगारदेवी ने अपनी अपनी तलवार नमायी, वह नत-मस्तक शान्त खड़ी रह गई।

सैनिक अन्दर घुसे और वे कोना-कोना छानने में जुट गए।

२६

साहसे वसति लक्ष्मीः

थोड़ी देर में ही आचार्य को अपने खण्ड में आवाज सुनाई दी। उनकी छाती भड़की। उन्होंने बराबर कान लगाकर सुना। बहुत धीमी-धीमी आवाज आ रही थी। इधर से उधर घूमते मालूम हो रहे थे, जहाँ पर वे खड़े थे उसी स्थान के ऊपर भी हलचल होती हुई लग रही थी। वे सावधान हो गये। उन्हें निगृहीत होने की अपेक्षा इस अज्ञात मार्ग में आगे बढ़ना अधिक श्रेयस्कर लगा। श्रृंगारदेवी और

पुष्पगुप्त उन्हें न बचा सकेंगे, क्योंकि ये दोनों ही स्थिति में नहीं है। आचार्य को अमात्य राक्षस की कण-कण को ढूँढने की आदत याद आई।

अमात्य राक्षस किसी भी काम को अधबीच में न छोड़ता था। जिसने विषकन्या की झपट में से नन्दराज को साफ बचा लिया—ऐसा था वह अमात्य राक्षस! आचार्य की वेशभूषा रात में भी उन्हें राज महालय की सीमा तक पहुंचने में उपयोगी होगी। भूगर्भमार्ग आगे जाता है यह बात श्रृंगारदेवी ने कही थी। उसकी प्रतीक्षा में भयंकर जोखिम की सम्भावना थी। और आगे बढ़ने की सुरक्षा थी। आचार्य ने फिर से कान लगाये तो ऊपर अधिकाधिक ध्वनि बढ़ रही थी। यह संभव था कि छान-बीन अत्यन्त कठोरता से हो रही हो। इससे अधिक और कुछ समझने में न आता था, अतः आचार्य ने अविलम्ब वहाँ से आगे खिसकने में ही सुरक्षा समझी, और यहाँ पर एक पल ठहरना भयावह था, आचार्य आगे, नीचे सरके, सीढ़ियाँ नीचे-नीचे जा रही थीं। वे सावधानी से आगे बढ़ने लगे, आगे गाढ़ान्धकार था, अँधेरे में यह न सूझता था कि मार्ग में क्या-क्या है? दोनों हाथ लम्बाए तो शिलाखण्ड ही हाथों से टकराये। भूगर्भ मार्ग इतना ही चौड़ा था। यह स्पष्ट था, इस मार्ग में आगे बढ़ने में अधिक सुरक्षा की सम्भावना थी।

आचार्य आगे बढ़ते गए। इन्हें फुंकार सुनाई पड़ी, पैरों से कुछ गीला लिसलिसा भी लगा, सर्प निकल गया सा लगा। भीति की विभीषिका बढ़ रही थी, किन्तु नन्दराज के यहाँ अवश, पराधीन, बन्दी अवस्था के विचार ने आचार्य के रोम-रोम में बिजली फूंक दी। उनके हृदय में अत्यन्त हठाग्रही क्रोध भर गया। यहाँ बीच मार्ग में मर जाना आचार्य को गौरव की अनुभूति होने लगी। उन्होंने दोनों होठ भींचे, और दो कदम आगे बढ़ाये। इससे आचार्य का भय कम हो गया। उनके मन में तो नन्द को नास्तिनाभूत—नेस्त नाबूद करने की स्वयं की हुई प्रतिज्ञा याद आ गई। शकटार का सौंपा हुआ वारसा सजग हो उठा। वे भीषण निश्चलता से आगे बढ़े। उनके कानों के साथ पत्थर जैसा कुछ टकाराया, एक चमगादड़ लगकर उनसे उड़ गया। आचार्य किसी भी जोखिम को उठाकर आगे बढ़ने में तत्पर

थे। जो होगा, देखा जाएगा। यह सोचकर वे आगे बढ़ते ही गए। नन्द के अपमान की ज्वाला इन्हें प्रेरणा प्रदान कर रही थी। जैसे ये आगे बढ़े कि भूगर्भ मार्ग अधिक चौड़ा होता गया, इससे आचार्य में साहस बढ़ता गया, और उनमें एक ठेठ छोर तक जाने की शक्ति भर गई। श्रृंगारदेवी को पता चलेगा तो वह तो इस बात को जानती ही है। कम से कम उसके शव को ठिकाने लगाने की सामर्थ्य रखती है। आचार्य ने आगे कदम बढ़ाये सावधानी से, तत्परता एवं सत्वरता से, अब इन्हें शेष जीवन में इसी प्रकार कदम बढ़ाने हैं।

प्रत्येक कदम को आचार्य को आगे ले जाता था। वे धीरे से, स्थिरता से एवं सावधानी से बढ़ रहे थे आगे और आगे।

इन्हें इसका तो ध्यान न आया कि ये कितनी देर चले होंगे? क्योंकि इनका प्रत्येक कदम दृढ़तामय था। अतः स्वभावतः इन्हें इस बात का ज्ञान न हो पाया कि अब कितना समय हो गया है।

अन्ततः इन्हें थोड़ा-सा आलोक-सा दीखा। वे तुरन्त रुके। अब इन्हें हुआ कि ये भूगर्भ मार्ग की अन्त की जगह का प्रथम पता करें। अन्यथा कुएँ से निकलकर खाई में जाने की बात हो जाती!

अब आचार्य को शीघ्रता करने में क्या भय था। वे अविलम्ब वहाँ रुक और जैसे और कुछ न हो ऐसे बैठ गए। नीचे की भूमि गीली लग रही थी उन्होंने हाथ लम्बे किए, वे अभी पत्थरों से टकरा रहे थे। इतनी लम्बाई और चौड़ाई में ही उन्हें बैठना है, अतः वे चुप बैठे रहे।

आचार्य को एकाकी बैठे-बैठे लगा कि वे बहुत देर तक बैठ लिए हैं। और कुछ काम काज तो कोई था ही नहीं, अतः थोड़ा समय भी उन्हें बहुत लग रहा था, परन्तु वस्तुतः यह नहीं कहा जा सकता था कि यथार्थतः उन्हें कितना समय हुआ है? आचार्य को अन्धकार फैलने तक यहाँ ठहरने में सुरक्षा लग रही थी। आचार्य प्रतीक्षा करते-करते हार गए तो अंत में अन्धकार ने अपनी काली चादर फैला दी। और उन्हें हुआ कि अब तो सांझ हो ही गई है।

वे शनैः शनैः आगे बढ़े, तब तक सर्वत्र गाढ़ा अन्धकार फैल चुका था, अब थोड़ा-सा भी प्रकाश कहीं लगता था तो वे आगे और बढ़ने लगे।

आचार्य को लगा कि अब तो भूगर्भ मार्ग पूरा हो गया है और बाह्य द्वार पर आकर आचार्य रुक गए। और शान्त बैठकर आचार्य आने वाले की प्रतीक्षा में कान लगाये, सधे हुए से बैठ गए। और आवाजें पहचानने का प्रयास करने लगे।

किन्तु बहुत देर तक उन्हें कोई भी ध्वनि सुनाई न पड़ी। चारों ओर एकान्त लग रहा था। फिर उन्हें लगा कि पास में ही कोई दो मनुष्य बातें कर रहे थे। इनके शब्द पकड़ने के लिए वे और भी एकाग्र हो गए।

शब्दोच्चार से लग रहा था कि ये दोनों मच्छीमार हैं। तब तो श्रृंगार देवी के कथनानुसार ही, यहीं कहीं पर भूगर्भ मार्ग द्वारा गंगा तट पर निकलेगा। मच्छीमारों के होने से भी यही लग रहा था कि यह तो हो न हो नदी तट पर आ गया है। अब तो यवनी वेश की उपयोगिता आचार्य को न लगी तो उसे आचार्य ने उतार दिया। आचार्य को अपने निःशेष नन्द-निकन्दन के लिए इस यवनी वेशधारण ने भी एक और दृढ़ संकल्प प्रदान किया।

वेश उतारते-उतारते आचार्य का निश्चय और भी दृढ़ होता गया, परंतु सम्प्रति तो ये किसी भी प्रकार से यहाँ से निकल जाना चाहते थे। यवनी वेश का ढूह लगा दिया आचार्य ने, शिरस्त्राण और पाद बन्धन उतार दिये, और फिर अपने वही पुराने वस्त्र पहन लिए। वस्त्र पहनते पहनते आचार्य के हाथ में अचानक उपरिवस्त्र के छोर पर बँधी कोई वस्तु टकराई, यह क्या होगी? पर उन्हें याद न आई। दोनों हाथों से दाबकर देखा तो उन्हें याद आ गया कि संकट के समय काम आने के लिए ही तो यह महा मूल्यवान् हीरा चन्द्रगुप्त ने दिया था। इस समय यह वस्त्र में बँधा हुआ हीरक बड़ा मूल्यवान् लग रहा था।

जिनकी बातें उन्होंने सुनी थी यदि वे मच्छीमार हों तो उनकी सहायता से नदी पार जाया जा सकता है। वह हीरा आचार्य ने हाथ से छुआ तो वह कुछ कह रहा था। आचार्य को बड़ा आश्चर्य हुआ कि न जाने आज तक हीरा कितनी बार टकराया होगा, पर याद कभी न आई उसकी? परंतु आज तो अकस्मात् ही छुआ गया, उन्हें यह

जीवन उपहार उपलब्ध हुआ है। अन्यथा वे तो जीवन समर्पण करने के लिए ही साहस करके यहाँ आए थे। जिसकी थकान इन्हें लगने लगी थी।

आचार्य सावधान हो गए। और सतर्कता से भूगर्भ के द्वार तक आए। वहाँ छोर पर आकर वे लम्बतान होकर पड़े रहे, बाहर नजर दौड़ाई, सर्वत्र अन्धकार था, उन्होंने बाहर हाथ लम्बे किए कि जैसे बिच्छू ने काट लिया हो ऐसे ही उन्होंने हाथ पीछे हटा लिए। झाड़ो-झाखरों एवं कण्टीले पौधों से यह द्वार मुख आच्छादित हो चुका था, किन्तु इससे तो आचार्य में और भी साहस का संचार हुआ, उन्हें लगा कि अब वे ऐसे स्थान पर आ पहुंचे जहाँ सुरक्षा की आशा अधिक से अधिक है। वे धीरे से इन पौधों को टोहने लगे। अब पुनः यानी वेश की सार्थकता लगी तो वे वेश लेने के लिए पीछे मुड़े। वेश में एक छुरी भी थी, समय कुसमय काम में आयेगा यह सोचकर आचार्य ने वह वेश साथ में लिया, उसे छुरी से वे शनैः शनैः पौधों को काटने लगे। वे इतने शनैः काट रहे थे कि जिससे शब्द न हो। अभी तक बाहर प्रगाढ़ान्धकार था, मच्छीमारों की ध्वनि मात्र आ रही थी। अन्यथा सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य छाया था। कभी-कभी पानी की खलबलाहट की ध्वनि भी आ जाती थी, जिससे ज्ञात होता था कि यह नदी तट है।

झाड़-झंखारों को काट कर वे ऊपर आए, बैठ कर चारों ओर दृष्टि दौड़ाई दूर दूर तक अनेक दीपक टिमाटिमा रहे थे। आचार्य ने आँखें फाड़-फाड़कर देखा कि सुगंगप्रसाद तो कहीं का कहीं पीछे रह गया है, और ये दीपक उसी के ऊपर शोभित हो रहे थे। आकाश में जब देखा तो पता चला कि अभी दो याम रात्रि शेष होनी चाहिए।

आचार्य ने साहस बटोरकर जिस दिशा में ध्वनि आ रही थी उसी ओर चल दिए।

थोड़े से छोटे-छोटे झाड़-झाँखरों में आचार्य दुबककर बैठ गये और मच्छीमारों की बातें शान्ति से सुनते रहे।

दोनो मच्छीमार परस्पर बातें कर रहे थे । ऐसा लग रहा था कि वे किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे और यहाँ पर किसी राजापराध के

लिए ठहरे थे। वे दोनों कार्षापण की बातें कर रहे थे। कहीं से लाने ले आने की बात हो रही थी। आचार्य ने समझ लिया कि वे लोग खुद कार्षापण के व्यवसाय में पड़े हैं। स्पष्टतया तो समझ में नहीं आ रहा था, तो भी यह बात अवश्य लाभदायक थी कि ये किसी सीमा तक आचार्य के सहयोगी बन सकते हैं।

आचार्य साहस उठाकर दोनों के पास गए। मच्छीमार अकस्मात् किसी को अपने पास आया देखकर चकरा गये। उनमें से एक तो तुरन्त ही नदी की ओर दौड़ने जा रहा था कि दूसरे ने उसका हाथ पकड़कर रोकते हुए कहा : 'अरे भले मानस! ठहर तो सही, यह भी अपने जैसा कोई लगता है।'

आचार्य इन शब्दों का अर्थ अपने मन में लगाने लगे। मच्छीमार यहाँ पर किसी की प्रतीक्षा में आये होंगे, अथवा कोई सामने पार जाना चाहता होगा, और यहाँ मिलने की बात की हो, सम्भव है इधर से उस पार कोई वस्तु ले जानी हो। जो भी हो, एक बात तो निश्चित ही है कि ये राज्यापराध से तो अवश्य सम्बद्ध होंगे। आचार्य ने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, सर्वत्र निर्जन वीरान था, दूर दूर सुनसान में वृक्ष पंज फैले थे। कहीं-कहीं किसी-किसी झोपड़ी में से दीपालोक और अलावों की ज्योति दीख रही थी। इनमें सब मच्छीमार रहते, लगते थे।

आचार्य ने उनसे पूछा : 'भणो नाविको! किस की बाट देख रहे हो?'

दोनों जन एक दूसरे का मुँह ताकने लगे।

आचार्य को इन दोनों की बात समझने में आनन्द आ रहा था। परन्तु यहाँ अधिक ठहरने में भी बहुत भय था। अभी तक वे वस्तुतः बहुत दूर नहीं थे राजमहालय से। उन्हें टेढ़ी-मेढ़ी बातों में समय यापन करने में भारी हानि दीख रही थी, वे जल्दी में बोले : 'भणे नाविको! तुम परले पार करने किसे लाये हो? अब कौन आने वाला है?'

'कोई नहीं माँ बाप! छोड़िये न इस बात को, हम आये हैं अपने दुःख से!'

'अपने दुःख से? तुम्हें किस बात का दुःख है?'

'मनुख मातर को किस बात का दुःख होता है?'

'दुःख में दुःख, का कार्हापणका!' आचार्य ने कहा।

'हाँ, मेरे गुरु! सार बात कह दी है।'

'मानख मातर को दुःख कार्हापण का है। हमें भी यही दुःख है। ये सब घोड़े इसीलिए हैं!'

'तो तमारे दुख को मैं टाल दूँ, बस तुम मेरी बात का प्रत्युत्तर दे दो।'

आचार्य ने अपने हाथ में वह हीरा रख लिया। उस के प्रकाश में हाथ की रेखाएं स्पष्ट दीख रही थीं। मच्छीमार उसे आँखें फाड़-फाड़कर देखते रह गए।

'मेरा काम कर दो तो यह तुम्हारा है। इसके आजीवन तुम्हें काम-काज करने की आवश्यकता नहीं है। शीघ्रता करो, मुझे शीघ्रता है।'

'अरे! कुछ सोच रहा है न?' दोनों जने अन्दर-अन्दर बोलते लग रहे थे। दूसरे ने भी यही बात पूछी?

'तूने सोच लिया है?'

'पर तू कह न पहले?'

'किन्तु.....किन्तु......वह जान जायेगा तो?'

'कौन बैठा है ऐसा जानने के लिए व्यर्थ में, चल मेरे भाई चल!'

२७

कोटिग्राम में

आचार्य को एक बात का तो पूर्ण निश्चय हो चुका था कि ये लोग किसी न किसी राज्यविरोधी कार्य से तो अवश्य सम्बद्ध हैं। इनकी टूटी-टूटी बात से भी यही सिद्ध हो रहा था, अब आचार्य ने इस अपराधमयी वृत्ति से लाभान्वित लेने का विचार किया। यह बात इन्हें समझा दी जाएगी, फिर तो नदी के पार हो जाने पर तो सुरक्षा की अत्यधिक सम्भावना थी इसी ढंग से।

आचार्य ने तुरन्त ही उनसे कहा : 'भो नाविको! यथार्थ प्रत्युत्तर

दो! तुमने किसी आदमी को इधर भागते देखा है? वह अभी अभी इधर से गया होगा!'

'इधर से? कोई आदमी? नहीं, यह पूछने की क्या आवश्यकता है? तुम कौन हो?' दोनों चौंक से पड़े, ऐसा प्रतीत हो रहा था। अब आचार्य को इनके सापराध मन का भी परिचय मिल गया। वे जोर से बोले :

'तुम दोनों कौन हो?'

नाविकों ने प्रत्युत्तर देने के स्थान पर उल्टा प्रश्न किया : 'तुम कौन हो?'

आचार्य ने धीरे से किन्तु दृढ़ता से कहा : 'तुम मेरा परिचय जानना चाहते हो? अमात्य राक्षस को तुम जानते हो?'

दोनों नाविक राक्षस का नाम सुनकर काँप से उठे। इससे आचार्य को विश्वास हो गया कि उनके विषय में उनका अनुमान ठीक था। ये दोनों किसी राज्य विरोधी कार्य से सम्बद्ध थे। किन्तु, यह सब उछल-कूद करने का अब समय ही कहाँ था? उन्हें तो अपने लिए एक-एक पल मूल्यवान् लग रहा था।

'मैं हूँ उन का गुप्तचर, समझ गये न? एक बम्मन भागा है, इधर से ही भागा है, अभी भागा है, तुम उसे जानते होंगे?'

'नहीं जी माँ बाप! हम तो यहाँ पर कभी के बैठे हैं। यहाँ तो किसी चिड़िया ने पंख भी नहीं फड़काए।'

'किन्तु तुम यहाँ पर कभी से बैठे-बैठे क्या कर रहे हो?' आचार्य ने विशेष दृढ़ता से कहा।

अब तो दोनों नाविक चक्कर में आ गये। वे एक दूसरे का मुंह ताकने लगे, वे एक दूसरे की आँखों में कुछ बाँचने लगे। उन्होंने अपने दोनों हाथों को धीरे से मिलाया, लगता था कि वे दोनों नदी में कूद पड़ेंगे, आचार्य को विश्वास सच्चा हो रहा था कि ये दोनों किसी राज्यापराध में सम्बद्ध हैं।

परन्तु आचार्य को इनके राज्यापराध से क्या मतलब था? वे नहीं चाहते थे कि वे यहाँ से भागें, अतः आचार्य ने धीरे से और जल्दी में प्रोत्साहक स्वर में कहा : 'उसका पता बता दोगे तो निहाल हो जाओगे, इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ। तुम्हें पचास सहस्र कार्षापण

मिलेंगे, तुमने राजघोषणा तो सुनी होगी न? तो राज्यापराधी को पकड़ लायेगा, उसे पचास सहस्त्र कार्षापण पारितोषक राज-कोष से मिलेगा और देखो, मैं भी तुम्हें यह........'

आचार्य के हाथ में वह महार्घ्य हीरक चमक रहा था, जिसकी आभा देखकर, किसी का भी मन मुग्ध हो सकता था।

'मैं भी तुम्हें यह हीरक दूँगा। किन्तु दोनों की एक शर्त है कि तुम अपराधी को बतला दो। फिर राज-सभा में प्रस्तुत मैं ही करूँगा। यह तो निश्चित है कि वह यहीं से भागा है। यहाँ से नहीं तो इतने में से ही किसी स्थान से भागा है। वह बड़ी मुश्किल से नदी के पार पहुंचा होगा। तुम मुझे परले पार पहुंचाने में सहायता दो तो हम उसे निगृहीत कर लें। फिर तो तुम्हें यह पारितोषक मिले। और यह हीरक भी मिलेगा, मेरी प्रतिष्ठा का प्रश्न है। मैं अपराधी को पकड़ सका तो मेरी अधिकारवृद्धि हो जायेगी।'

वे दोनों इस प्रकार अपराध में पकड़े जाने से बच गये, अतःउन्हें कुछ सन्तोष मिला और मन में कुछ सांस आई। वे बोले: 'ले तो चलेंगे ही। यहीं पर हमारी डोंगी है। किन्तु हम तुम्हें ले गये इस बात की चर्चा किसी से न करें। हमारी रोजी चली जायेगी!'

'किसी से तुम्हारी बात करने से क्या लाभ है? तुम्हारा अपराध क्षमा। और देखो तो इधर, मैं अमात्य राक्षस तो क्या महाराज महापद्म का विश्वस्त हूँ। क्या यह हीरक यों ही मेरे पास है? अब भी विश्वास न हो तो.......।'

इतना कहकर आचार्य ने अपना यवनी वेश उनके सामने रख दिया : 'देखते हो इसे? सम्प्रति मैं भिक्षुकी गुप्तचर हूँ। आवश्यकता पड़ने पर इसे भी पहन लेता हूँ। हमारा व्यापार ही ऐसा है। हमें तो तुम जैसों की मित्रता बड़े काम की होती है परन्तु हम लोग तो यों ही बातों में समय निकाल रहे हैं, कहीं वह बम्मन दौड़कर और कहीं न चला जाए! वह बच्चू भी क्या खूब दौड़ा है? किसी की पकड़ में नहीं आया है। हमें शीघ्रता करनी चाहिए। अन्यथा ब्राह्मण हाथ में हाथ मारकर निकल भागेगा। कार्षापण के कार्षापण नहीं मिलेंगे और अपयश मिलेगा सो मुफ्त का! साला....हाथ में ताली मारकर भाग गया!'

'किन्तु था कौन वह?'

'अरे एक ब्राह्मण था, और कौन होता? परन्तु.....' आचार्य ने छोटी आँखें करते हुए उन दोनों के अपराधों को अनुमान करना शुरू करा किया। ये दोनों भी मेरे जैसे अपराध से सम्बद्ध हों तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? इस बात का सूत्र तो इन्हीं की बातों से मिला था, जिसका उपयोग आचार्य कर रहे थे।

उन दोनों के मुख से कान्ति उड़ती हुई लगी। वे दोनों सोचने लगे अब तो मरे, यह आदमी हमीं को निगृहीत करने आया है, ऐसा आभास लगता है। आचार्य को स्वयं भी भय लगा कि कहीं ये दोनों मिलकर उसी को पकड़कर नदी में न फेंक दें!

'चलो, चलो,' आचार्य ने शांत एवं शीघ्रबोधक स्वर में कहा: 'हमें तो अपराधी का पता लगाना है, उस ब्राह्मण ने नन्दराज का अपमान किया है और फिर वह भाग गया है। पकड़ में आ गया तो तुम्हारे और मेरे भाग्य का द्वार उघड़ जायेगा।'

दोनों नाविकों ने एक दूसरे को देखा, और आँखों-आँखों में ही उन्होंने कुछ कहा। एक मच्छीमार डोंगी ले आया, डोंगी भी क्या थी, एक वृक्ष के तने को कोरकर बनायी गयी थी। पहले ने दूसरे से कहा: 'भय्या तू जा। मैं यहाँ पर बैठा हूँ।' दूसरा धीवर बिना बोले ही नौकारूढ़ हो गया। आचार्य ने भी जल्दी में चढ़कर अपना स्थान ले लिया, नदी पार की सम्भवना बढ़ जाने से आचार्य का हृदय उत्साहित हो उठा।

यहाँ निगृहीति की भीति भी कम न थी।

रास्ते भर दोनों में से एक भी कुछ न बोला। आचार्य को भय था कि शब्दोच्चारण के करने में भय है धीवर को भी यही भय था। आचार्य को हुआ कि यदि इस धीवर के द्वारा जो सुवर्णकार का नाम जान लिया जाय तो कोटिग्राम में ही गुप्त रहने में सफलता मिल सकती है, और स्वयं सुवर्णकार भी सहायक सिद्ध हो सकता है। अपराधी के लिए सबसे बड़े मित्र, दूसरे अपराधी। आचार्य इसी सिद्धान्त पर चल रहे थे।

कोटिग्राम में पहुँच जाने पर, वहां से बिना साधन अथवा सज्जा के सहसा आगे दौड़ना भयग्रस्त ही-सा था।

आचार्य कोटिग्राम में किसी भी स्थान पर अन्ततोगत्वा भिक्षुक वेश में ही रह जाना चाह रहे थे।

किन्तु सुवर्णकार की सहायता विशेष सुरक्षित थी।

राक्षस अमात्य ने एकदम पचास सहस्त्र पारितोषिक की घोषणा करा दी थी। और यह घोषणा मार्गवर्ती प्रत्येक ग्राम में पहुंच गई होगी। अतः आचार्य के मार्ग में पदे-पदे भय भरा था।

किनारे पर आते ही आचार्य ने तुरन्त मच्छीमार को विश्वस्त बनाने के लिए वह हीरक उसके समक्ष रख दिया फिर आचार्य ने कहा: 'ले यह तेरा है। तू अपराधी को ढूंढवा दे तो पारितोषक भी मिलेगा। अपराधी यहीं कहीं पर होगा। क्यों भय्या! तेरा नाम क्या धीवर है?'

'हाँ भन्ते ब्राह्मण!' नाविक ने प्रत्युत्तर दिया। नाविक को हीरा देख कुछ-कुछ होने लगा। उसके पास भी तो आखिककार मन था। उसके मन के कोने में कहीं पर लोभ भी तो बैठा था। बैठा न भी हो तो सोया तो अवश्य होगा। आचार्य बोले : 'भो धीवर! मैंने अपने वचनानुसार तुझे यह हीरा दे दिया है अभी तक अपराधी का कहीं पता भी नहीं चला है। नदी पर भी कहीं सुराग नहीं मिला है। वह कहीं न भी हो तो भी मैंने तो अपना वचन पूरा कर दिया है, अब तुझे अपना वचन पूरा करना होगा। आगे तेरी मर्जी।' आचार्य ने कहा : 'दिन में ऐसे मूल्यवान् हीरक को तेरे पास देखकर ग्राम-रक्षक तुझे कुछ न कहें तो ठीक है। मैं तो तेरे कारण ही जाना चाहता था। मुझे तो सभी जानते हैं, वे मुझे क्या कहेंगे? मेरे साथ तुझसे भी कोई कुछ न कहेगा। तू न चलना चाहे तो तेरी इच्छा है। मैं तो प्रातःकाल स्वयमेव, बीजक से मिलना होगा तो मिल् लूँगा, मेरे पास दूसरा भी हीरा है, उसका मूल्यांकन करवाना है।'

यह सुनकर धीवर का मन डाँवाडोल हो गया, उसे विश्वास हो गया कि यह हीरा उसे हो न हो किसी मुसीबत में ही डाल दे। बीजक सुवर्णकार का भी क्या भरोसा है? समय पर असत्य मूल्यांकन ही कहीं कर दे तो? तब तो इस गुप्तचर के साथ में चलना ठीक है। धीवर बोला : 'तो भन्ते भिक्षुक! तुम मुझे सहायता न दोगे? यह हीरा तो हमें मुसीबत में डाल देगा!'

'किन्तु मुझे तो प्रथम उस अपराधी का पता लगाना है। तू साथ

में चलना चाहे तो चल। प्रथम अपने बीजक स्वर्णकार के घर हो आएँ, फिर अपराधी का पता लगाएँ। वे अब यहाँ से अन्यत्र न भाग सकेगा। यहाँ पर आराम वस्तुओं, उद्यानों, बागों, नदी-तीरों में तो देखा है। इनसे बचकर वह कहाँ जा सकेगा? इस स्थान में नया जो है वह!'

'मेरा वचन? मैंने क्या वचन दिया है?' नाविक ने तुरन्त पूछा।

'क्यों? तू इसमें से आधा भाग पार बैठे साथी को नहीं देगा?'

'उसे तो देना ही पड़ेगा। भागीदारी किसे कहते हैं? हमारे तो शरीर ही बस अलग हैं।'

'तो भले धीवर! मैं तुझसे पूछता हूँ कि तू इस हीरे को काटकर ने देगा आधम-आध अपने साथी को नहीं देगा?'

धीवर चकरा गया। उसे प्रश्न तो ठीक लगा। हीरा काटकर देने की बात उसके मन में न बैठी। हीरा आधा करके कैसे दिया जा सकता है? यह उसकी समझ में न आया।

आचार्य ने उसे लुभाते हुए कहा : 'देख! मैं तुझे इसका मार्ग बताऊँ। इस कोटिग्राम में जो सबसे प्रसिद्ध सुवर्णकार है उसका नाम क्या है?'

धीवर को जल्दी में ध्यान न आया, उसने कह दिया : 'सुवर्णकार बीजक!'

'हाँ यही सुवर्णकार बीजक। उसी से तू इस हीरे को मूल्यांकन करा ले, वह जितना मूल्य बताए उसका आधा भाग अपने भागीदार मित्र—क्या है उसका नाम?'

'छन्दक!'

'हाँ, छन्दक को दे देना। तो चल, हम बीजक के पास चले चलें!'

'अभी के अभी।'

आचार्य इस मच्छीमार के परिचित गुप्त स्थानों को जानना चाहते थे इतने में ही वह बोला : 'एक स्थान है, वहाँ पर निश्चित ही छिपा होगा वह! वहाँ पर सात जन्म भी रहे तो किसी को पता न चले!'

'कहाँ पर? तो चल न, बता, हम वहीं चलें। तुझे पचास सहस्र कार्षापण मिलेंगे। भले ही इनाम तुझे मिलेगा, परन्तु कार्य किया हुआ मेरा ही माना जाएगा, हाँ!'

'अजी! कार्य आपका, आपका ही, बस न! और पीछे तो कुछ हो सब?'

'......तो चल, पहले हीरक बीजक सुवर्णकार को सौंप दें, फिर वहाँ चले चलें। अथवा मैं बीजक के यहाँ ठहरूँ और तू उसका पता लेकर चला आ। फिर अपने दोनों चले चलेंगे। तुझे जैसा ठीक जँचेगा, वैसा कर लेंगे। ऐसा जोखम भरा साथ में रखना ठीक नहीं है। परन्तु तुझे इसके ऊपर भरोसा होता हो, तो! नहीं तो कोई बात नहीं है, हीरा है, यों भी फेंक दें, तो कम से कम एक लाख कार्षापण मिल जाएँ।'

'अरे! वह हमारे साथ विश्वासघात क्या करेगा? उसका सिर तो हमारी गोदी में है!'

धीवर ने आचार्य के पास आकर कान में कहा : 'यह नकली सोना बनाता है, परन्तु कूड हिरण्य को पाटलिपुत्र में कौन ले जाता है?—हम!'

धीवर ने आचार्य हाथ में सारी बात आ गयी। बीजक सुवर्णकार कूड हिरण्य बनाता था और ये दोनों नदी पार कराने के लिए रात में वहाँ बैठते थे। आचार्य को इस नई बात से नूतन पथ का परिचय मिला। पहले आचार्य कूटग्राम में ही रह जाना चाहते थे, किन्तु उनकी इच्छा हुई कि इस सुवर्णकार बीजक को ही साथ में क्यों न ले लिया जाय? वह अपराधी है, इस अपराध के आधारं पर उससे जितना लाभ लिया जा सके, लेने का निश्चय किया आचार्य ने। अब आचार्य ने यथाशीघ्र बीजक के पास पहुंचने वाले थे। ऐसा महान् अपराध-कार्य करने वाला सामान्य बुद्धि वाला नहीं हो सकता। उसके यहाँ आचार्य स्वयं भी सुरक्षित रह सकता है। अथवा उसके साथ प्रस्थान करने से पूर्व आवश्यक है कि अपनी मुख मुद्रा फेर ली जाए। यह कार्य सुवर्णकार आसानी से कर सकता है।

'परन्तु बीजक कहाँ रहता है?' आचार्य ने धीवर से पूछा।

'क्यों, वह कम चतुर है? वह लौहकारों के मुहल्ले में रहता है। सबको लगे, कि यह तो लौह कि उपकरण बनाता है!'

'तो चलें अब, बीजक के पास हीरा रख देंगे, फिर उस ब्राह्मण का पता तो मुझे लगाना ही पड़ेगा बीजक के यहाँ जाने का रास्ता

तो होगा ही न ?'

'रास्ता क्यों नहीं होगा?' धीवर ने कहा : 'रास्ता ऐसा अटपटा बताऊँ, कि कोई भी ग्राम-रक्षक वहाँ फटक ही न सके!'

आचार्य ने धीवर के साथ बीजक के पास जाने के लिए चल पड़े। रास्ते भर आचार्य को अपनी ही याद आती रही।

सारे मार्ग में आचार्य एक चिन्ता में रहे, कि यहाँ से सुरक्षित किस ढंग से निकला जाए? मार्ग में भय कम न था। आचार्य ने सुन रखा था कि कोटिग्राम में ऐसे-ऐसे कुशल कारीगर हैं कि जो मनुष्य की आकृति लाख के प्रयोग से ऐसी बदल देते थे कि सूझ-बूझ वाले चक्कर खा जाएँ। सुवर्णकार को साधकर यह कार्य करना था। तभी तो मगध देश से सही सलामत बचकर निकला जा सकता था। दूसरी बात तो यह थी कि बीजक सुवर्णकार कूड हिरण्य बना सकता था, जिसकी आचार्य को चाहना थी। अत: यदि बीजक को विन्ध्यवन की ओर ले जाया गया, तो वह बहुत उपयोगी हो सकेगा।

परन्तु ऐसा करा सकना बड़ा समस्या मूलक था। अब तो आचार्य किसी भी भाव से मगध से भाग निकलना चाहते थे, अन्यथा राक्षस अमात्य के सशक्त पाश आचार्य को कहीं से भी खोजकर पकड़ सकते थे। अब तो आचार्य ने मगध साम्राज्य के विरुद्ध शस्त्र उठा लिया था। नन्द-निकन्दन तक उठे हुए शस्त्र नीचे रखे जाने वाले थे।

इन विचारों में डूबते हुए आचार्य धीवर के साथ आगे बढ़ रहे थे—बीजक के घर की ओर।

२८

सुवर्णकार के घर

धीवर का निर्दिष्ट मार्ग एकान्त था। रास्ते भर कोई भी न मिला। रात्रि की अँधियारी सर्वत्र व्याप्त थी। टेढ़े-मेढ़े मार्ग से, झाड़-झाँखरों, पेड़-पौधों में से निकलकर एक छोटे-से घर के द्वार के आगे जा पहुँचा। उसने जल्दी-जल्दी में कोचरा पक्षी की-सी आवाज की। यह धीवर की सांकेतिक भाषा थी। आचार्य ने तुरन्त ही द्वार-उद्घाटन का शब्द सुना। तुरन्त ही आचार्य और धीवर अन्दर प्रविष्ट हो गए।

उनके प्रविष्ट होते ही धीरे से द्वारों पर अर्गला लग गई।

धीवर और आचार्य के आगे-आगे स्वर्णाकार चल रहा था। उसने अन्दर जाते-जाते जो मुड़कर देखा, तो चौंक गया। उसके कदम पीछे हटे। आचार्य की दृष्टि उसी के ऊपर थी। सुवर्णकार को हुआ कि आज कुछ दाल में काला अवश्य हो गया है। वैसे तो धीवर और छन्दक के साथ में कभी-कदास, लक्षणाध्यक्ष, पण्याध्यक्ष अथवा नौकाध्यक्ष या उनका कोई व्यक्ति बीजक के घर आया करते थे, और इसी ढंग से इसका कूड कार्षापण का व्यवसाय जमा था। परन्तु वे सभी आगन्तुक इससे परिचित थे। यह तो कोई नया ही आदमी था, तो उसे शंका हुई। वह कुछ पीछे रहकर, धीवर के कन्धे पर हाथ रखकर पूछने लगा, धीरे से : 'धीवर, तू अपने साथ किसे लाया है? कौन है यह?'

आचार्य ने आगे चलते-चलते उनकी बात पकड़ने के लिए कान बराबर किए।

'यह तो प्रभो, अमात्य राक्षस का आदमी है!'

'हें!' सुवर्णकार चौंका, उसके पैर धरती से चिपट गए।

'भड़कने ही आवश्यकता नहीं है। ये तो अपने काम से आए हैं प्रभो!'

सुवर्णकार को शंका हुई कि कहीं इस नवागन्तुक ने उसकी बातें तो नहीं सुनी, अतः उसने आगे कुछ न कहा। परन्तु मन में भय तो बैठ ही गया था उसके!

उसने धीवर और आचार्य को तो वहीं छोड़ दिया गलीसे में, और स्वयं जल्दी से दौड़कर घर के पिछवाड़े से चला गया चला गया।

धीवर ने वहीं पर पड़ी चारपाई बिछाई और आचार्य को उस पर बिठा दिया। खाट पर बैठकर आचार्य अपने भावी कार्यक्रम पर विचार करने लगे। वे यथाशीघ्र यहाँ से भाग जाना चाहते थे। किन्तु बिना साधन जोड़े और स्वयं को पूर्णरूपेण बिना छिपाए आगे बढ़ने से, सिवाय भीषण भय के और क्या था?

अब तो आचार्य यही सोच रहे थे कि यह बीजक उन्हें किस प्रकार की सहायता दे सकता है? वे सोचते रहे कि धीवर इससे

बातें अवश्य कहेगा। पचास सहस्त्र कार्षापण का इनाम एक भगोड़े ब्राह्मण के मस्तक के लिए घोषित है, यह बात जब होगी तो बीजक को शंका बिना हुए न रहेगी।

इतने में सुवर्णकार भी पिछले भाग के जो कुछ करना-कराना था उसे करके जल्दी से लौट आया।

उसने आते ही दोनों हाथ जोड़ते हुए कहा : 'अतिथिदेव! अन्दर पधारिये, आपके लिए मैंने द्राक्षासव प्रस्तुत कर रखा है। अंदर शय्या भी तैयार है। रात काफी बीत गई है, आपको बहुत थकान लगती है। बातें प्रातःकाल कर लेंगे!'

'भणे सुवर्णकार!' मुझे थकान तो बहुत लगी है, परन्तु क्या करूँ? मेरा काम बहुत महत्त्वपूर्ण है। मुझे तो अभी के अभी जाना पड़ जाएगा।'

सुवर्णकार भौचक्का रह गया। उसे सन्देह हुआ। इस मेरे बेटे ने अपने पीछे किसी कण्टक-शोधक को छिपा रखा हो तो? अब तो आज ही सौ वर्ष पूरे गये समझो।

परन्तु बीजक बहुत ही चतुर एवं विचक्षण था। उसने अपनी व्याकुलता को प्रकट न होने दिया। इसी में उसे अपनी विजय लग रही थी। वह बोला :

'भन्ते अतिथिदेव! आपके स्थान पर हम चले जाएँगे। आप कार्य तो बताइये।'

आचार्य ने अवसर से लाभ उठाना चाहा। वे बोले :

'आप तो क्या—परन्तु यह धीवर उस काम को कर सकेगा!'

'क्या है देव? कहाँ जाना है?'

'आपने तो सुन ही लिया होगा न, भणो सुवर्णकार! एक ब्राह्मण महाराज महा पद्मनन्द का अपमान करके भागा है। उसे पकड़ने के लिए सैनिक उसके पीछे दौड़ रहे हैं!'

'सैनिक?' सुवर्णकार हक्का-बक्का रह गया। यह तो नयी बात निकल पड़ी।

'हां, सैनिक दौड़ रहे हैं उसके पीछे। किन्तु उस ब्राह्मण को ऐसा लगता है कि जैसे धरती ही उसे लील गई हो। वह पकड़ में नहीं आ पाया है। मैं भिक्षुकी गुप्तचर हूँ, उसके पीछे-पीछे यहाँ तक

भटकता हुआ यहाँ आया हूँ केवल उसी को पकड़ने। इस धीवर को बड़ी मुश्किल से समझा-समझा नदी पार कर पाया हूँ।'

'अरे नदी पार कराते-कराते इन्होंने हमें निहाल कर दिया है। यह देखिये! कहकर धीवर ने अपनी मुट्ठी खोली और सुवर्णकार की आँखें चौंधिया गयीं। उसकी मुट्ठी में अत्यन्त मूल्यवान् हीरा विराज रहा था। उसे बात में आनन्द आया।'

'उस ब्राह्मण के सिर के लिए पचास सहस्र कार्षापण का पारितोषिक है!'

'हें!'

'हाँ किन्तु पारितोषक-वारितोषक तो ठीक, मेरे हाथों पकड़ा जाये वह तो आगामी कल ही मैं राजमहालय का रक्षक हो जाऊं। मेरे भाग्य का सितारा चमक जाए। वह ब्राह्मण बहुत चतुर है। उसे ज्ञात है कि कहीं आगे दौड़ा तो पकड़ा जाऊँगा, अतएव वह आगे नहीं जाएगा। वह, इस कोटिग्राम, इससे आगे हस्तिग्राम और अधिक से अधिक हुआ तो भाड़ग्राम, इतने में ही कहीं पर होगा। धीवर को यहाँ के गुप्तवास ज्ञात हैं। मैंने अपने स्वार्थ के लिए ही यह भारी विपदा उठा ली है। सफलता मिल जाए तो दिन ही फिर जाएँ। इस हीरे की तो बात ही क्या है? अच्छा तो अब हम चलें। धीवर मेरे साथ चलेगा।'

'अजी! ऐसा कहीं होता है? अभी तो आपने द्राक्षासव भी तो नहीं पिया है? मैं अभी देता हूँ। धीवर।'

सुवर्णकार दौड़ता-दौड़ता गया। उसके पीछे धीवी भी गया। आचार्य समझ गए कि धीवर से पूछ-ताछ के लिए साथ में बुलाया गया है।

और आचार्य अपना भावी कार्य-क्रम गढ़ते रहे बैठे-बैठे।

२९

मैं ही विष्णु हूँ!

बीजक ने अन्दर पहुंचते ही धीवर से कहा : 'अरे यह तो अमात्य राक्षस का आदमी है। अपनी बात का पता चल गया इसे तो?

तू इसे यहाँ क्यों लाया है? इसके पीछे और कोई कण्टकशोध हुआ तो?'

'किन्तु यह तो अपने कार्य से आया है। हम इसका कार्य कर देंगे तो अपने को पारितोषक मिलेगा। यहाँ एक दो ऐसे स्थान हैं कि जहाँ पर वह भगोड़ा अन्तनिर्हित होगा। वह मिल गया तो इसे भी बड़ा पद मिलेगा, तब तक तो हमें याद रखेगा!'

सुवर्णकार को बात तो सच लगी। नहीं तो, वह अपने काम की चिन्ता में पड़ा था। बीजक ने पूछा :

'तू कैसे जाना कि यह गुप्तचर है?'

'इसके पास दो-तीन वेश परिवर्तन के लिए पृथक्-पृथक् वेश हैं। देखते-देखते यवनी बन जाये और क्षण भर में भिक्षुक बन जाये।'

'तूने देखे हैं वे वेश?'

'आहो, भला बिना देखे भाले! मैं इतना मूर्ख नहीं कि कोई राह चलते ठग ले! अच्छा इस हीरे को मूल्य तो बताओ!'

सुवर्णकार ने हीरा हाथ में लिया। फिरा-फिरा कर देख, दीपक के पास ले जाकर देखा, अंधेरे में देखा। सच्चा पता तो दिन में लगेगा। किन्तु तू इसे साथ लिये-लिये न फिर। सवा लाख का लगता है!

'हें? सचमुच? तब तो यह कोई बड़ा भारी आदमी है! ऐसा ही लगता है। अच्छा, यदि ऐसा करें तो? तू इसका काम कर आ, और यह भले ही थोड़ी देर विश्राम कर ले। इतने में मैं उसकी बात जान लूँ।'

धीवर और सुवर्णकार लौट आये। बीजक ने असली कपिशा द्राक्ष के, ताजा द्राक्षासव का पात्र आचार्य के सामने रख दिया। आचार्य विचार करते-करते उसे पी गये। सुवर्णकार भी उसे हीरे के आकर्षण का शिकार हो गया लगता था। वे सुवर्णकार को लेकर अभी के अभी चल पड़े यहाँ से—अधिक से अधिक कल—परन्तु यहाँ से आगे चल देना आवश्यक काम था यथाशीघ्र धीवर बोला : 'तुम यहाँ बैठो, मैं सारे के सारे गोपनीय स्थानों को देखकर कहने आये-जाता हूँ।'

'हाँ देव! यही समुचित है।' सुवर्णकार बोला। आचार्य तो यही चाहते थे। उन्होंने तुरन्त ही इस बात को मान लिया 'अच्छा तो ठीक

है। मुझे तो बहुत थकान चढ़ी है। तू जल्दी आना हां।'

'अरे अभी आया!'

धीवर के चले जाने पर आचार्य थोड़ी देर तक लेटे रहे। सुवर्णकार पिछले भाग में था। वह कुछ कार्य कर रहा था, द्वार में आगल-बिल्ली लगा रहा हो, द्वार खुल रहा हो, ताला बन्द कर रहा हो, ऐसी ध्वनि आ रही थी। आचार्य यही सोच रहे थे कि ऐसे कूड़ कार्षापण वाले को कैसे काबू में किया जा सकता है?

अचानक वे उठे। दालान में एक चक्कर काटा, ऊपर आकाश में देखा, धीवर के लौट जाने से प्रथम ही अपना कार्य पूरा कर लेना था, धीवर के बताये हुए हीरे ने सुवर्णकार के हृदय पर प्रभाव किया ही होगा। मेरी बातों में बीजक को क्या सत्य और क्या असत्य लगा है, तो भी वह व्यक्ति कोई महान् अधिकारी है, यह छाप तो हीरे ने बिठा दी होगी। यह प्रभाव तो सुवर्णकार के बाप के व्यवहार से लक्षित हो रहा था।

बीजक थोड़ी-थोड़ी देर में आचार्य के निकट दो-तीन बार आ चुका था। एक बार उनके सुन्दर कम्बल को बिछाने आया था, दूसरी द्राक्षासव की और आवश्यकता को पूछने आया था।

स्यात् है इसके आगमन में अन्य हेतु भी हों। अपनी बात छिपानी थी, यह देखने के लिए ही तो यह नहीं आया? यह भी तो इन्हें समझना था।

चाहे तो भी हो, पर अब तो सुवर्णकार को साधना ही होगा अभी के अभी। कल तक तो विलम्ब हो जाएगा।

आचार्य शनैः शनैः दृढ़शान्त पदों से घर के पृष्ठ-भाग में गये, पृष्ठ-भाग में और पृष्ठ-भाग था। वहाँ पर दीप का लोक विखरा था, सुवर्णकार दीपक के पास बैठकर कुछ कार्य कर रहा था, ऐसा ज्ञात हो रहा था।

आचार्य वहाँ पर स्थिर शांत खड़े रहे। द्वार यों ही बन्द लग रहा था। उन्होंने द्वार को थोड़ा-सा खोला। अन्दर देखा तो सुवर्णकार अनेक हीरों को लेकर बैठा था और हीरों की पारस्परिक तुलना कर रहा था।

आचार्य उसकी यह क्रिया देखते रहे। आचार्य की दृष्टि तुरन्त

ही सुवर्णकार के हाथ में रखे हीरे की ओर गयी। वह तो आचार्य वाला ही हीरक था, जिसकी तुलना वीजक अन्य हीरों के साथ कर रहा था।

अकस्मात् आचार्य के हृदय में बिजली-सी कौंधी और पैर जमीन पर जम गए।

'आहा!' आचार्य के मन में हूक सी उठ गई। जल्द, हीरे के स्थान पर धीवर को अल्प मूल्य का हीरा देने के लिए ही वीजक यह ऊपर नीचे कर रहा था।

आचार्य आँखों के सामने धरती को घूमती देख रहे थे कि वह तुरन्त स्वस्थ हो गया। नन्दराज की समस्त प्रजा को हिरण्य का मोह लगा था। आचार्य इस बात को प्रत्यक्ष कर रहे थे। 'यथा राजा तथा प्रजा' का न्याय वास्तविक था। अतः आचार्य कुछ कुछ विचारते रहे। फिर वे द्वार उघाड़कर अन्दर चले गये।

उन्हें देखते ही सुवर्णकार बैठा ही रह गया, वह भड़क गया लगता था, किन्तु उसने अपनी भड़क का कारण और ही प्रदर्शित किया। आचार्य को समय-यापन में भय दीख रहा था, वे सहसा बोले : 'भणे सुवर्णकार वीजक! मैं तुम्हें एक बात कहने आया हूँ। सुनो, मैं ही विष्णुगुप्त आचार्य हूँ। जो ब्राह्मण भागा हुआ कहा गया, वह मैं ही हूँ, मेरे सिर पर पचास सहस्त्र का पारितोषक है। तुम्हें पारितोषक चाहिए तो तुम अभी के अभी पाटलिपुत्र दौड़े-दौड़े जाओ।'

सुवर्णकार तो आचार्य की बात सुनते ही स्तब्ध हो गया। प्रथम तो वह कुछ बोल ही न सका, जब बोलने का मौका आया तो वह आचार्य के सामने ऐसे देखता रहा कि जैसे उसे आचार्य की बात पर विश्वास न हो।

आचार्य ने आगे कहा : 'भणे सुवर्णकार! मेरी कही बात यथार्थ है, तुमने डौंडी नहीं सुनी होगी। पचास सहस्त्र कार्षापण कैसे मिल सकते हैं? जाओ ग्रामिक को सूचित कर दो। जाओ मैं यहीं पर खड़ा हूँ।'

सुवर्णकार आचार्य के शब्दों को सुनकर विचारों में डूब गया। वह शनैः से बोला : 'नन्दराज से, मैं तुम्हें, ब्राह्मण को पकड़वाऊँगा?

ऐसा नहीं हो सकता। यह राज्य तो शिर-मुण्डक नापित का है। यह भी कोई राज्य है। परन्तु अमात्य राक्षस के सामने मैं तुम्हें संरक्षण प्रदान करने में असमर्थ हूँ। अब तुम यहाँ से चल दो तो बच जाओगे।'

नन्दराज की सारी प्रजा के हृदयों में जो वायु भरा था, उसका साक्षात्कार हो रहा था आचार्य को। 'तो भी भणे सुवर्णकार! तुम मेरी एक बात सुन लो, फिर मैं यहाँ से चल दूँगा।'

'क्या बात है?'

'वह बात मैं यहाँ पर नहीं, वहाँ पिछले खण्ड में कहूँगा!' सुवर्णकार और आचार्य पृष्ठभाग में गए।

आचार्य ने सुवर्णकार से कहा : 'भणे वीजक! यह राज्य नापित का है, कुलहीन का है, कुलहीनों को ही यहाँ पर आदर सत्कार मिलता है। क्या तुम इस देश को छोड़कर मेरे साथ नहीं चल दोगे?'

'मैं तुम्हारे साथ चलूँ? कहाँ पर? और यहाँ पर मेरा सब कुछ नामशेष हो गया तो उसका क्या होगा? कहां जाना है?'

'मैं जहाँ ले चलूँ?'

'इससे मुझे क्या मिलेगा?'

'देखो, यहाँ पर तुम कूड कार्षापण बनाते हो न?'

सुवर्णकार आचार्य के शब्द सुनते ही सहसा स्तब्ध रह गया। उसे लगा कि वह तो स्वयमेव इस भिक्षुक विप्र के चंगुल में फँस गया है। नन्दराज के बारे में जो कुछ उसने कहा है, उसके लिए तो शिरच्छेदन का दण्ड हो सकता है, और वैसे तो वह महान् अपराधी था, ब्राह्मण इस बात को जान गया है। इस उल्टी बात से वीजक का मुख फीका पड़ गया। वह पानी पानी हो गया।

'किसने कहा है तुम से? ऐसी असत्य बात अतिथि बनकर भी कर रहे हो? निकल जाओ अभी के अभी मेरे घर से!' उसने साहस बटोर कर जोर से कहा :

आचार्य ने दृढ़ता से कहा : 'देखो सुवर्णकार! मैंने तो तुम्हें पचास सहस्र कार्षापण प्राप्ति की बात बताई है। तुम अभी भी जाकर ग्राम रक्षक से कह सकते हो। परन्तु एक बात अवश्य है कि जब मेरी बात कहोगे तो तुम्हारी कूड कार्षापण की बात खुलकर रहेगी।

किन्तु देखो जो तुम बात मान लो, स्वयं एक समय तो यहाँ पाटलिपुत्र में ही लक्षणाध्यक्ष बनकर रहोगे। अब तुम्ही सोच समझ लो। तुम ग्राम-रक्षक को सूचित करना चाहो तो जाओ, मैं यहीं बैठा हूँ। तुम न कहना जाकर तुम्हारा भण्डा-फोड़ करूँ! उसके बदले मुझे क्षमा मिल जाएगी! बोलो दोनों में से एक निश्चित कर लो!'

'मुझे दोनों में से एक भी कार्य नहीं करना भन्ते! ब्राह्मण! तुम अपने रास्ते लगो। मुझे अपना कार्य करने दो। मैं निर्धन मनुष्य, अमात्य राक्षस का क्रोध नहीं सह सकूँगा!'

'इसलिए मैं तुमसे तीसरी बात कही है। किन्तु देखो, वह धीवर आ गया तो अपनी बात रह जाएगी। अतः तो कुछ निश्चय करना हो जल्दी कर लो, मगध के लक्षणाध्यक्ष होना चाहते हो?'

'तुम्हारे कहने मात्र से हो जाऊँगा क्या?'

'मेरे कथन का ऐसा भाव नहीं है भणे सुवर्णकार! तुम जैसा आदमी जोखिम उठाता है, सिर पर लटकती तलवार रखता है, तिस पर भी नापितराज का दास बनकर रहता है, इसकी अपेक्षा मैं तुम्हें तक्षशिला ले चलूँ तो! शिला का नाम तो सुना है न?'

'हाँ, हाँ क्यों नहीं? वहाँ के एक भिषग्वर ने हमारे ग्राम को महामारी से बचाया था, अन्यथा नन्दराज तो मूषक कर लगा चुके थे!'

'तब तो तक्षशिला में प्रत्येक वस्तु को देखकर आश्चर्यचकित हो जाओगे वहाँ हम तुम्हारी इस कला से भी लाभन्वित होना पसन्द करेंगे। हम तुम्हीं को लक्षणाध्यक्ष बना देंगे। हमें फिर तो यहीं न आना है। यह नापितराज अब बहुत दिन नहीं रह पायेगा, बोलो तुम्हारी क्या करने की इच्छा है?'

'किन्तु मेरा यह स्थान-साधनसामग्री?'

'अरे! पागल! ऐसी तो एक हजार रचनाएँ हम खड़ी कर देंगे। विन्ध्याटवी में हमें चलना पड़ेगा। वहाँ पर हम अशुद्ध सुवर्ण बनाएँगे, तुम स्वयं देख लेना। देखो भाई! मेरे ऊपर तो पल-पल में भय की छाया घिर रही है। तुम्हारे ऊपर भी भय है। शंका में रहोगे तो हम दोनों को प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। भणे सुवर्णकार! शंका हम दोनों का नाश कर देगी! तुम न कहो तो मैं ही ग्राम-रक्षक के पास जाकर कह दूँ कि मैं ही विष्णुगुप्त हूँ। पचास सहस्र उसे मिल जाएंगे,

किन्तु तब तेरा यह स्थान सुरक्षित नहीं रह सकेगा। तुमने विनाश को निमंत्रित कर ही रखा है। तुम्हें पसन्द हो तो तुम नन्दराज के हाथों में पड़कर नष्ट हो जाओ, तुम चाहो तो मेरे साथ हो लो। मैं तुम्हें सरसब्ज बाग नहीं दिखाता। तक्षशिला में इस समय रण-सज्जा चल रही है, तुम्हारा साथ मिलते ही हम हिरण्य के ढेर लगा देंगे और प्रजा तो हमारे स्वर्ण-भण्डार को देख कर आँखें मींचकर साथ देने लग जायेगी। यह है वास्तविक बात! हमें तुम्हारी आवश्यकता है। मेरे इस ग्रन्थ को देख ले। इसमें विन्ध्याटवी की उस निम्नकोटि की धातु का वर्णन है जो सुवर्ण में मिल जाती है। तुम यहाँ भी तो कूड कार्षापण कहते हो, यहाँ का यही कार्य वहाँ पर करना! तुम्हें तो वहाँ पर भी मजा है! अब विचार में समय मत खाओ, साथ ही यह बात भी सत्य मानना कि तुम्हारा यह कार्य और स्थान कण्टक शोधक से अज्ञात नहीं हो सकता। जितना समय बीतता जा रहा है उतने ही हम संकट में घिरते जा रहे हैं। सुरक्षा तो अब यहाँ से भाग जाने में ही है।'

सुवर्णकार इन बातों को सुनकर भयभीत हो गया। उसे तो दोनों दशाओं में भय दीख रहा था। वह स्वयं भी कण्टक शोधक के हाथों में पड़ जाए तो प्राण तो गए ही। इसके साथ भागे और पकड़ा जाए तो भी प्राण गए। वह किसी निष्कर्ष पर न पहुंच सका। वह मूढ़ की भांति खड़ा का खड़ा रह गया।

चाणक्य उसके निकट आ गए, उसके कन्धे पर हाथ रखकर उन्होंने शान्त, दृढ़ एवं आश्वस्त स्वर में कहा : 'भणे सुवर्णकार! तुम इतना तो समझते हो कि नापित नन्द की अपेक्षा तक्षशिला का ब्राह्मण अधिक संस्कृत है।'

सुवर्णकार ने बिना बोले ही सिर हिलाया : 'इतना तो मैं समझता हूँ।'

'बस, तब तो' आचार्य बोले : 'हमें अतिशीघ्र सज्जा कर लेनी चाहिए। धीवर के आते-आते हम यहाँ से चल पड़ें। उसके साथ और कोई आ टपका तो? मुझे भय लगता है। आओ, चलो भूगर्भ गृह में से अपने कुछ साधन ले लें और देखो सामने, वे घोड़े तुम्हारे हैं?'

'हाँ क्यों?'

'तो तुम श्रेष्ठी हो जाओ और मैं उपस्थाक बन जाऊँ।'

'अरे भन्ते ब्राह्मण......।'

'अरे, पागल! मगध में आने का यह अपराध-दण्ड है। यह तो देना ही चाहिए। तुमने किसी चेहरे बदलने वाले, लाक्षकला के साधक को जानते हो?'

'थोड़ा थोड़ा मैं भी जानता हूँ, क्यों?'

'बहुत खूब? कहाँ सीखे थे?'

'मैं भी एक समय में तक्षशिला में रह आया हूँ।'

'अरे अब तो तुम मेरे शिष्य होते हो, चलो अब अपन भूगर्भ में चलें। तुम्हीं हमारे भविष्य के लक्षणाध्यक्ष हो। चलो।'

आचार्य और सुवर्णकार दोनों भूगर्भ में उतर गए। जब वे उसमें से बाहर आए तो उन्हें कोई भी नहीं पहचान सकता था कि यह आचार्य और वह सुवर्णकार है। आचार्य उपस्थाक था सीधा-सादा, और दूसर सुवर्णकार मौक्तिक मालाओं को पहरे हुए, हीरा-कुण्डल धारण किए हुए श्रेष्ठी बना था। किन्तु आचार्य की आकृति तो सर्वथा बदल गई थी।

इतने में धीवर आ पहुंचा, वह तो इस दृश्य को देखते ही स्तब्ध रह गया। आचार्य ने उससे पूछा : 'भणे नाविक! कहीं लगा उसका पता-वता?'

'न कहीं पता न वता! किन्तु आपने यह सब क्या कर लिया है?'

'बोलो नहीं।' आचार्य ने शनैः शनैः कहा: 'वीजक को पता पड़ा है उसका। हमें उसका पता चल गया है, तुम यहाँ पर सब कुछ देखते रहना, हम भी यथाशीघ्रं पता चलाकर आये।'

धीवर ने वीजक की ओर देखा, वीजक ने भी धीवर की ओर देखकर सिर घुमाते हुए कहा : 'इन्होंने जो कुछ कहा है, उसी के लिए यह सज्जा है। इसने जो कुछ भी कहा है वह ठीक है। भगोड़े ब्राह्मण की खबर लगी है कि वह भण्डग्राम में है कहीं। परन्तु याद रखना, वीजक को जितना भी भाग मिलेगा, उसमें तुम्हें और छन्दक को भी यथा भाग मिलेगा। किन्तु तू किसी से अभी कुछ न कहना। अभी तू यहीं पर रहना, हाँ। यहाँ की देखभाल रखना।'

थोड़ी देर के बाद प्रकाश होते ही तो वे दोनों अश्वारोही हस्तिग्राम के मार्ग पर, धीरे-धीरे आते हुए, दिखलाई पड़ रहे थे।

३०

दो अश्वारोही

आचार्य एवं सुवर्णकार वीजक कोटिग्राम से बहुत तड़के निकल पड़े। वीजक श्रेष्ठी था और आचार्य उपस्थाक थे। वे शनैः शनैः आगे बढ़ रहे थे। मार्ग के जिन-जिन ग्रामों में ये लोग गये, वहाँ-वहाँ पर इनकी बातें पहुंच चुकी थीं कि ब्राह्मण ने नन्दराज का अपमान किया है। और वह भाग छूटा है। उसको पकड़ने वाले को पचास सहस्र कार्षापण का पारितोषक प्रदान किया जाएगा। अधिकांश जनता के मनों में ऐसे ब्राह्मण के लिए कुतूहल जागृत हो गया था। अनेक की आँखों में इस बात को गम्भीर सन्तोष झलक रहा था कि चलो, नन्दराज को एक ऐसा सिर फिरा हुआ मिला तो सही। आचार्य इन बातों का अध्ययन करता रहा।

किन्तु आचार्य को नन्द-राज्य में सर्वत्र सत्ता का भय दीख रहा था । बातें करनेवाले चारों ओर देखते जाते थे। लगता था कि जैसे वे किसी भय सीमा में बैठे हों। तथापि यह बात निर्विवाद थी कि सभी के मनों में महा पद्मनन्द के शासन के प्रति गम्भीर तिरस्कार अवश्य विद्यमान था।

अब हमें कोई नहीं पहचान सकेगा, जब आचार्य के मन में ऐसा विश्वास घर कर गया तो उनकी साँस में साँस आयी। फिर भी ये यात्रा में सावधान थे। जहाँ तक सम्भव होता था ये बहुत जल्दी अथवा निशीथ वेला में ही यात्रा करते थे। दिन में तो किसी नदी तट पर, खेतों में अथवा वृक्ष के नीचे या जलाशय के कूलों पर ही विश्रान्ति सुख का अनुभव करते थे। न तो किसी का विश्वास करते, न ही किसी से कुछ पूछते ही थे। किसी को कुछ कहना भी होता तो शंकाशून्य बात कहते थे।

परन्तु नन्द-राज्य में तो आचार्य कम से कम समय रहना चाहते थे। वे ऐसी दशा में आगे बढ़ना चाहते थे कि जिधर नन्द-राज्य का

न्यूनातिन्यून प्रभाव हो। इन्होंने आगे बढ़ते ही नेपाल की ओर जाने वाले हस्तिग्राम, भण्डग्राम, श्रावस्ती एवं मेल तूप का मार्ग छोड़ दिया। ब्राह्मावर्त का मार्ग भी छोड़ दिया। और आचार्य सुवर्णकार के साथ ही कौशाम्बी के साथ के पथ पर चल पड़े। वत्स देश का पथ पकड़कर वे आगे बढ़े। भर्गदेश की सुंसुमार गिरिश्रृंखलाएँ देखते हुए उनके मन में कुछ का कुछ हो गया। एक समय इसी स्थान पर सहस्त्र स्तम्भी राजप्रासाद खड़ा था। आज उसका चिह्न तक नहीं बचा। फिर वे आगे बढ़े। क्योंकि और दशार्ण पार करके वे अवन्ती नगरी में पहुंच जाना चाहते थे। इस दिशा में नन्दराज की प्रतिच्छाया न्यूनातिन्यून प्रतिबिम्बित हो रही थी। अवन्ती पहुंच कर तो वे प्रायः सुरक्षित हो जाने वाले हैं।

वीजक के घोड़ों का प्रयोग सफलता से हो रहा था। देखने में तो प्रायः ये टट्टू जैसे थे, किन्तु सशक्त, अनथक, एकाकारी गति का परिश्रम सहने में वे अप्रतिम थे। और इनका दिखाव भी ऐसा था कि ये किसी को अपनी ओर न खींच सके।

परन्तु आचार्य के सुंसुमार गिरि के ध्वंसावशेष लाँघते ही और दो अश्वारोही उनके पीछे दीखे। वे सोचते रहे कि ये कोई पथिक होंगे। किन्तु उनकी दृष्टि तो ऐसे लग रही थी कि जैसे वे इन्हीं को देख रही हों। ये ठहरे तो वे भी कहीं पर ठहर गये लगे। आगामी बहुत दिन तड़के ही जैसे दोनों आगे चले तो वे पृष्ठगामी भी इनके पीछे-पीछे आ रहे थे। उनके घोड़े उच्चकुलीन एवं सुन्दर लग रहे थे। वे चाहते तो आगे बढ़ सकते थे। परन्तु वे तो कुछ विचित्र-सा व्यवहार कर रहे थे। आचार्य कहीं आराम वत्थु में ठहरते तो ये भी कहीं आस-पास रुक जाते थे। आचार्य टेढ़ा-मेढ़ा आरण्य मार्ग पकड़कर बढ़ते तो ये भी आरण्यपन्थ से बढ़ने लगे, राज पथ छोड़कर।

आचार्य को विश्वास हो गया कि ये दोनों अश्वारोही हो न हो उन्हीं के पीछे पड़े हैं। ये उन्हें जानते लगते थे। इन्होंने चाल बढ़ायी तो उन्होंने यथाप्रमाण चाल बढ़ा दी।

अब आचार्य को विश्वास हो गया कि ये दोनों या तो अमात्य राक्षस के ही भेजे हुए होंगे, अन्यथा पचास सहस्त्र कार्षापण के लोभ

से फँसाने के लिए निकले हुए, कोई न कोई मागध ही होंगे। इन्होंने कोटिग्राम से ही हमारा पीछा पकड़ा होगा।

आचार्य एक छोटे से नगले में आये, इस ग्राम से बाहर के क्रीडांगण में जनता समूहबद्ध खड़ी-खड़ी तमाशा देख रही थी। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि यहाँ पर कोई घोड़ों की झण्डी लगी थी। किन्तु यहाँ पर आचार्य को सर्वथा नया दृश्य देखने को मिला। दोनों पार्श्वों पर दो द्रुतगतिशील बलवान् घोड़े थे। बीच में एक सशक्त वृषभ खड़ा था। ये तीनों एक ही साथ जुड़े थे। इन तीनों की दौड़ थी। यदि वृषभ जीत गया तो उसकी पूजा होगी, और प्रतिवर्ष विजयादशमी के दिन भी इस गाँव में वृषभराज की समीपता में शास्त्रास्त्रों की पूजा होगी। आचार्य को इस दृश्य में रस था, अत: वे इसे देखने के लिए वहाँ रुक गए। और उन्होंने अपने अश्वों को एकाध सुरक्षित स्थान पर रोक रखा, और स्वयं दर्शकों की भीड़ में मिल गये। इनकी एक ही चेष्टा थी कि किसी भी प्रकार दोनों पृष्ठ आगन्तुकों की दृष्टि से वे बच निकलें।

वे* दौड़ देखने में लग गए।

किन्तु उनकी दृष्टि अपने पीछे आने वाले दोनों अश्वारोहियों के ऊपर भी थी। उन्हें न देखकर आचार्य तो निश्चिन्त हो गए कि अब उनका साथ छूट ही जाएगा। ऐसा सोचकर वे जनता में सायं तक घूमते फिरते रहे, उन पर दोनों का कहीं पता न चला।

आचार्य निश्चिन्त होकर सीधे ग्राम से बाहर आरामवुत्थ में अपने बँधे घोड़े के निकट चल पड़े।

जब वे वहाँ पर पहुँचे तो कुछ कुछ झामट पड़ चुकी थीं। वे दिनभर के परिश्रम से चूर-चूर हो गये थे। इनके दोनों घोड़े वृक्ष से पूर्ववत् बँधे थे। आचार्य यह देखते रहे और वीजक भोजन कार्य में लग गया। आचार्य एक वृक्ष के नीचे लम्बे होकर लेट गये। और पड़े-पड़े उन्हें नींद ने धर दबोचा। वीजक अश्वों के पास ही रहा।

अलस सबेरे वीजक ने आचार्य को जगाया, दोनों सन्नद्ध होकर घोड़ों के निकट आ गये, जैसे ही उन्होंने घोड़ों को सूक्ष्मता से देखा

*तत्कालीन भारत में दो पार्श्वों में अश्व और मध्य में वृषभ रखकर दौड़ कराने की प्रथा प्रचलित थी।

तो आचार्य के मुख से सहसा निकल पड़ा; 'अरे! वीजक! ये घोड़े अपने तो नहीं लगते।'

'ये घोड़े अपने नहीं लगते? अजी! ऐसा कैसे हो सकता है? यह अपना सब पर सामान जैसे का तैसा है। मैं तो यहीं पर सोया था।'

आचार्य ने समान टटोला तो सामान पूरा का पूरा था। किन्तु घोड़े? घोड़े तो किसी और के थे।

आचार्य और वीजक क्षणभर स्तब्ध रह गये। वे सोचते रहे कि यह किसी ने उपहास किया है, या किसी ने उनकी परीक्षा ली है, अथवा सच्ची जानकारी प्राप्त करने की साजिश रची है? यह था क्या?

आचार्य विचारते रहे और वीजक चारों ओर घूम-फिर कर वृक्षों के झुरमुटों में आगे पीछे देख आया। किसी किसी सघन वृक्ष पर दृष्टि फेंककर देखा, परन्तु कोई नहीं दीखा। उस मायावन में अब आचार्य को भय लग रहा था।

वे तुरन्त ही नये अश्वों पर आसीन हो गये। और पूर्ववत् यात्रा पर चल पड़े।

आचार्य के मन में पुनः नवीन घोड़ों का रहस्य जागृत हो गया। ये दोनों घोड़े जलप्रवाह की भाँति बढ़े जा रहे थे। आचार्य को हुआ कि ये घोड़े उन दो पड़ावों के पश्चात् ही अवन्ती से पार पहुंचा देंगे।

यह अश्व परिवर्तन भले ही जिस किसी ने भी किया हो, परन्तु सम्प्रति ये घोड़े आचार्य के लिए बहुत ही लाभदायक हो रहे थे।

अब आचार्य और वीजक ने अत्यन्त शीघ्रता से मार्ग काटना आरम्भ किया। एक दो मंजिलों तक तो कोई भी उनके पीछे न दीखा। वे अवन्ती छोड़कर, अब विन्ध्य प्रदेश में जा पहुंचे।

किन्तु उसी समय वे पूर्वोक्त यात्री भी पीछे से आते हुए दृष्टिगत हुए।

आचार्य के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। अपने टट्टू उन्हीं के पास थे। अतः उन्हें रोककर, जानने के लिए आचार्य ने वहीं पर ठहरना ठीक समझा। वे रुक गए।

किन्तु वे दोनों यात्री भी दूर के दूर ठहर गए। अब आचार्य ने

उन्हें दूर से धमकाया : 'अरे! तुम दोनों कौन हो? हमारे पीछे-पीछे क्यों आ रहे हो?'

'और तुम दोनों कौन हो?' वे दोनों बोले?

'हम दोनों तो श्रेष्ठी हैं!' आचार्य ने प्रत्युत्तर दिया।

'हम भी श्रेष्ठी हैं!' उन्होंने कहा।

'हम तो कच्चे खनिज के खोज में विन्ध्य जा रहे हैं!'

'हम भी तो कच्चे खनिज की ही खोज में हैं।'

'कहाँ पर जाकर खोजोगे?'

'विन्ध्य में!'

'क्या खोजोगे?'

'व्यापार की गुप्त बात कह देने वाले हम कोई बुद्धू श्रेष्ठी नहीं हैं। जो तुम खोजना चाहते हो, हम भी वही खोजने चले हैं।'

'हम तो बहुमूल्य मणियों की खोज में जा रहे हैं। हमारा तो मार्ग भी दुर्गम है।'

'हमें कौन-सी अल्प मणियों की खोज करनी है? हमें भी तो बहुमूल्य मणियों की आकांक्षा है। हमारा मार्ग तो तुम्हारे मार्ग से भी भयंकर है।'

आचार्य को अब व्यर्थ के सम्वाद से किसी को वहम पड़ने की शक्यता दीख रही थी। वैसे तो इनके पास उत्तम प्रकार के अश्व थे, ये कभी भी इन पर आरूढ़ होकर उन दोनों को हाथ ताली देकर आगे भाग सकते थे। तो भी आचार्य के समझ में यह बात न बैठी कि इन्होंने अपने मूल्यवान् अश्व हमारे टट्टुओं से क्यों बदले? स्यात् है कि पानीदार घोड़ों को देखकर लुटारुओं का भय होगा, तभी इन्होंने यह चातुर्य खेला है। आचार्य ने जिज्ञासा निर्वाह के लिए उनसे पूछा : क्यों भाई! अब तो हमारे घोड़े लौटाकर अपने बढ़िया घोड़े लौटा लो!'

'हम मूर्ख श्रेष्ठी नहीं हैं। कि मूल्यवान् घोड़े यों ही पीनक में आकर तुम्हें लुटा दिए होंगे। यहाँ पर तो पदे पदे पर लुटारुओं का भय है। यह तो विन्ध्य प्रदेश है। तुम्हें मूल्यवान् घोड़ों से हाथ भी धोना पड़ सकता है। हम तो इन टट्टुओं को लेकर आगे भागे निकलेंगे!'

'धत्त तेरी की!' आचार्य को विश्वास हुआ ये वस्तुतः श्रेष्ठी हैं। जो मोती थमाकर हीरा उठा लें। अब वे मौन भाव से आगे बढ़े। वे दोनों अश्वारोही भी तुरन्त इनके पीछे चल पड़े।

आचार्य को विन्ध्य प्रदेश देखकर मुक्ति की साँस मिली। उन्हें लगा कि अब वे भय की सीमा से निकल गये हैं। उन्होंने स्वच्छ, सुन्दर सरोवर देखा और रात को वहीं टिक गये। आज प्रथम बार उन्हे भरपेट भोजन मिला और वे शान्ति की साँस ले सके। चारु चन्द्रिका विहँस रही थी, और शैल शिखर श्वेत बने दूध में स्नांत से लग रहे थे। रह-रहकर बीच-बीच में वृक्षों में से खड़खड़ाहट हो रही थी, समीप में ही कल-कल करता हुआ सलिल बह रहा था। आचार्य ने एक सुरक्षित स्थल देखकर, वहीं पर रात बिताने की सोची।

३१

वितस्ता के तट पर

आचार्य और सुवर्णकार दूसरे दिन फिर आगे बढ़े। उन्हें विन्ध्याटवी में जिन स्थानों को देखना था, वे देखे जा चुके थे। यहाँ पर धातु का निकलना सम्भव था, वीजक को आचार्य की बात सच्ची लगी। तक्षशिला से लौटकर इस स्थान पर एक हिरण्य ग्राम बसाने का निर्णय हो गया। आचार्य को पता था कि बिना सुवर्ण के नर; पशु समान है। जब तक इनके पास में धन नहीं है तब तक सैन्य संग्रह कार्य कठिनतम है। आचार्य को आश्चर्य हुआ कि इनके पीछे-पीछे आने वाले तो फिर से कहीं छिप गए थे।

वे शनैः शनैः आगे बढ़ रहे थे। बीच में महान् मठस्थल आया। इसे लाँघकर वे मत्स्य देश में आए, और यहाँ से भी सिन्धु-सौवीर प्रदेश में जा पहुंचे। किन्तु मठस्थल लाँघने में बड़ी कठिनाई हुई। आगे चलकर आचार्य को वायु में भी परिवर्तन लग रहा था। यहाँ स्थान-स्थान पर यवनराज की बातें हो रही थीं। सर्वत्र व्याकुलता जाग रही थी। सौवीर के मूलस्थान पुर आचार्य ने कुछ समय विश्राम किया। देविका नदी के सुरम्य तट पर अधिष्ठित इस नगरी में आचार्य

ने सूर्य का विख्यात मन्दिर देखा। यवनराज की शतसहस्त्र नौकाएं इस नदी से सिन्धु की ओर बढ़ रही थीं, ऐसी किंवदन्ती चल रही थी। नदी के दोनों तटों पर विशाल वाहिनियाँ नौकादल की रक्षा करती हुईं आगे बढ़ रही थीं। इस दृश्य को देखने के लिए जनता की बड़ी भीड़ एकत्र थी, यह दृश्य आचार्य को बड़े आश्चर्य के साथ देखने को मिला।

आचार्य तो चकराये—यवनेश्वर पीछे अपने देश को लौट रहा है, अथवा सौवीर देश को जीतने वाला है। परन्तु वे इस गुत्थी को न सुलझा सके।

अब आचार्य ने वितस्ता के तट पर पहुंचने की सोची। देविका नदी पार कर वे आगे बढ़े।

वितस्ता के तट पर पहुंचे तो वहाँ पर भी वही सैकड़ों की भीड़ खड़ी थी। अनेक तो वहाँ पर रात दिन आस-पास के सैन्धव-शैल के ऊपर बैठकर यवनेश्वर की सेना के दर्शनार्थ प्रतीक्षा कर रहे थे। आचार्य ने दो हजार नौकादल को देखकर समझा कि अब तो यवनेश्वर अपने देश के लिए लौट रहा होगा। क्योंकि जनता में यह बात प्रचलित थी कि यवनेश्वर अपने पाताल नगर को लौट रहा है! यवनेश्वर के नौकादल को देखने के लिए आचार्य भी वहीं रुक गये।

यहाँ पर यवनराज की अनेक बातें आचार्य के कानों में आ रही थीं।

तक्षशिला के आम्भि ने तो स्वयं को बेच दिया। उसने स्वयं को यवनेश्वर का क्षत्रप बना लिया है। आचार्य को अनुमान करते देर न हुई कि समस्त सप्तसिन्धु प्रदेश अंदर-अंदर अपनी-अपनी महत्ता एवं सत्ता सम्बर्धन के फेर में पड़ गया है। प्रत्येक पृथक्-पृथक् सामना कर रहा है और प्रत्येक पराजित हो रहा है।

अभिसार-नरेश को यवनेश्वर की दया चाहिए थी। शशिगुप्त की भी यही कामना थी, वीर पौरव को लगन लगी थी। उसका भतीजा-छोटा पौरव इस दिशा में पीछे रहना न चाहता था। आम्भिराज तो अपनी सत्ता बढ़ाने के लिए सिकन्दर को आवश्यक सहायता दे ही रहा था, चारों ओर के विभक्त गणराज्य अपने-अपने मनों में पृथक् अस्तित्व में ही आनन्द मान रहे थे। और यवनेश्वर की प्रभुता की छाया

में ही अपनी महान् सिद्धि समझ रहे थे। आचार्य ने सर्वत्र इसी वायुमण्डल को देखा। उनके हृदय में पीड़ा उठी।

अनेक बातें सुनकर आचार्य व्यथा से भर गये उनके हृदय में घृणा थी कि यहाँ एक भी ऐसा वीर न निकला, जो यवनेश्वर को लौटाने में समर्थ हुआ होता। वह तो भारत में और आगे बढ़ा होता, यदि उसकी सेना ने और आगे बढ़ने में आनाकानी न की होती। वह अब स्वेच्छया स्वदेश लौट रहा था। इसमें आचार्य को महान् पतन दीखा। एक विदेशी के आक्रमण को जो देश न हटा सके, वह देश कब तक स्थिर रख सकता है अपने आपको? आचार्य ने सोभूति देश के विषय में सुना था, वहाँ की सारी प्रजा वीर थी, वहाँ निर्बल बालकों का पालन-पोषण नहीं किया जाता था। उस देश के कुत्ते भी बाघ के बराबर थे। वे ग्राम-रक्षक भी थे। तो भी वह सौभूति अथवा और कोई अलक्षेन्द्र का विजयी सामना न कर सका था। गणतन्त्र परस्पर लड़ रहे थे, कि मैं महान् हूँ, तू नहीं?

ऐसे देश में सहस्त्रों गणतन्त्र संगठित भी हो जाएँ तो टिक न सकेंगे। ये गणतन्त्र देवराज्य थोड़े ही बन गये थे। ऐसे गणतन्त्रों से देश को महान् क्षति है!

वितस्ता के दोनों तट निविड वनों से संकुलित थे। ऐसे ही स्थल पर आचार्य ने अपना पड़ाव डाला। इन्हें स्पष्ट ज्ञान हो गया था, कि ये अनेक गणराज्य एवं अन्यान्य राज्य, स्वार्थ में ही डूबे हैं।

इनके स्वार्थ से सम्बद्ध कोई ऐसी योजना बनानी चाहिए कि ये सभी लोभी एकत्र हो जाएँ और मगध पर पहुँचा जा सके। मगध साम्राज्य की एक केन्द्रीय सत्ता बिना विदेशियों के बारम्बार के ऐसे आक्रमण नहीं हटाये जा सकेंगे।

अब वे चन्द्रगुप्त से मिलना चाहते थे। परन्तु उसका कोई पता न था कि वह यवन सेना में है या कहीं और! आचार्य को चिन्ता हुई। मगध की ओर जाने का कार्यक्रम तो यवनेश्वर छोड़ ही चुका था।

वितस्ता के सन्निकट ही आचार्य से पर्वतीय सैनिकों की भेंट हुई थी। आम्भि के सैनिक एवं सेनापति भी इन्हें मिले थे। परन्तु किसी से भी चन्द्रगुप्त का विश्वस्त समाचार न मिला था अभी तक। पहले

चन्द्रगुप्त अलक्षेन्द्र की सेना में था, यह बात तो मिली थी, पर अब वह कहाँ है, यह कोई न जानता था।

परन्तु अलक्षेन्द्र के एक निकटवर्ती पर्वतेश्वर से चन्द्रगुप्त की सूचना पाकर तो आचार्य को दिल धड़कने लगा।

कुछ दिन पूर्व ही एक घटना घटी। 'घटना इस प्रकार हुई'— पर्वतेश्वर ने कहा :

''एक दिन प्रातःकाल अलक्षेन्द्र से प्रतिहारी ने निवेदन किया : 'तक्षशिला का एक युवक आपसे मिलना चाहता है'।''

अलक्षेन्द्र बोला : 'उसे आने दो।'

''राजवंशियों-सा ही एक सुन्दर तरुण थोड़ी देर में ही वहाँ पर आ खड़ा हुआ। मैं भी वहीं पर था। आगन्तुक तरुण के मुख पर सम्राट्-शोभिनी आभा बिखरी थी। उसने अनेक पर्वतेश्वरों की भांति अलक्षेन्द्र को भेंट सौगात देकर सम्मानित करने की आवश्यकता न समझी। वह तो ऐसे ही गौरव से आया, जैसे सम्राट् से सम्राट् मिलने आता है।''

''उसने आकर अलक्षेन्द्र से कहा : 'मगध में इस समय वन्य, असंस्कारी, अकुलीन, नापित राजा राज्य कर रहा है। उसे प्रजा नहीं चाहती। मैं उसे राज्यभ्रष्ट करना चाहता हूँ। तुम मेरे साथ चलो, हम मिलकर मगध को मुक्त कर लेंगे। मैं तुम्हें मगध का मार्गदर्शन दूँगा।' वह आगे और बोला : 'भय-जोखिम का दायित्व मेरे सिर पर!'

''अलक्षेन्द्र को बात पसन्द आयी। परन्तु युवक की बात से अनेक सामन्त सरदार व्यग्र हो गए। वे तो अब पीछे लौटना चाहते थे, अपने देश के लिए।''

''वे नहीं चाहते थे कि अलक्षेन्द्र और आगे बढ़े। अलक्षेन्द्र के सात मुख्य संरक्षकों का नायक उस समय वहीं पर था, वह धीरे से अलक्षेन्द्र से बोला : 'यह युवक हमें फँसाने के लिए आया है!'

'फंसाने आया है? अर्थात्? यह कौन-सी असत्य बात कहने आया है?' अलक्षेन्द्र ने पूछा।

'यह असत्य तो नहीं कहता, किन्तु सत्य भी तो नहीं कहता।'

'क्यों? क्या बात है सच्ची?' अलक्षेन्द्र ने पूछा।

'मगध को सम्राट् इतना सशक्त है कि ऐसे मँगतों से वह डरने वाला नहीं है। नन्दराज के पास छः लक्ष पदाति हैं, अस्सी सहस्त्र घोड़े हैं, साठ सहस्त्र रथ हैं, उसकी गजसेना छः सहस्त्र की है। आपकी गजसेना दो सौ की है। हमारी सेना वहाँ पहुंचेगी और सामने उसकी विशाल सेना खड़ी होगी, जिसमें छः सहस्त्र तो हाथी हैं, और वे हाथी भी तो ऐसे-वैसे नहीं, पर्वताकार हैं, वहाँ पर यदि एक पराजय भी मिली तो अपनी क्या दशा होगी? हमारी दुर्दशा कराने के लिए यह यहाँ नहीं आ सकता? बताइये यह बात फंसाने की नहीं है तो और क्या है?'

"अलक्षेन्द्र ने राजकुमार को निकट बुलाकर पूछा : 'तू कौन है? कहाँ से आया है?"

'मैं मगध का हूं। मगध से आ रहा हूँ। मगध मेरा है, मैं मगधेश्वर हूँ! मेरा नाम चन्द्रगुप्त है।' चन्द्रगुप्त ने सगर्व कहा।

'तू हमारा क्षत्रप हो जा! हम तेरे साथ चलने को तैयार हैं.....' अलक्षेन्द्र बोला।

'मैं तो सम्राटों का भी सम्राट् हूँ, मैं भला किसी का क्षत्रप कैसे हो सकता हूँ? मेरे नीचे अनेक क्षत्रप होंगे।' चन्द्रगुप्त सगौरव और साभिमान कह रहा था।

'किन्तु तुझे सहायता तो मुझसे लेनी है, उसका क्या होगा?'

'यह बात तो यथार्थ है, परन्तु आप तो कीर्ति-संचय के लिए अपने देश से निकलें हैं न? कीर्ति आपको प्राप्त होगी, और प्रजा की मुक्ति का आनन्द मुझे मिलेगा, फिर इसमें क्षत्रप और अक्षत्रप की बात कहाँ आती है?'

'तू सम्राट् है?'

'मैं सम्राट तो नहीं हूँ, किन्तु सम्राट् बनने के लिए उत्पन्न हुआ हूँ। मेरे आचार्य विष्णुगुप्त ने मुझसे यह कहा है कि अनेक सम्राट् होते हैं, अनेक सम्राट् बनते हैं, परन्तु सम्राट् होकर उत्पन्न होने वाले तो विरले होते हैं। मैं तो सम्राट् बनने के लिए जन्मा हूँ, यह बात मुझे ज्ञात है। भारतवर्ष मेरा है, मैं भारतवर्ष का हूँ। भविष्य में कभी फिर आये तो मैं भारत ही ओर से स्नेहपूर्वक आपका स्वागत-सत्कार कर सकूँगा। इसीलिए मैं कह रहा हूं सहायता के लिए। मुझे सहायता

मिले या न मिले, यह प्रश्न महत्त्व का नहीं है। आपको भारत में आतिथ्य-सत्कार मिले, मेरे कहने का यही आशय है, आप सहायता करना चाहते हों, मैं चलने के लिए प्रस्तुत हूँ। आपके सैन्य का निर्देशन मैं करूंगा। मैं मार्ग दर्शन करूँगा। विजयश्री अपनी है, और निश्चित है।'

इस गर्विष्ठ किशोर की वाणी अलक्षेन्द्र के वक्षस्थल को चीरती हुई निकल गई। वह तो स्वदेश लौट जाने का विचार कर रहा था। तब इसने मान लिया था कि अब तो भारत के सीमान्त के क्षत्रप उसी के हैं, परन्तु उसने देखा कि अभी तक तो ऐसे गर्विष्ठ कुमार भी यहाँ पर विद्यमान हैं। यह देखकर यवनेश्वर क्रोध में भर गया। उसे अपने विषय में शंका हो उठी। उसने कहा : "छोकरे! अभी तेरे मुख पर रेख तो पैदा ही नहीं हुई, तू क्या सम्राट् होगा? जा, जा जल्दी घर पहुंच, तेरी माँ प्रतीक्षा कर रही होगी!"

'मैं तो जाऊँगा ही अलक्षेन्द्र। परन्तु आगे भारत की एक इंच भूमि पर तुम्हारा शासन नहीं रहेगा।'

'मेरा शासन नहीं रहेगा? कौन है तू कहने वाला? कौन छीन लेगा मेरा शासन?'

'और कौन छीनेगा सिवाय मेरे! मैं भारत के भाग्य का विधाता हूँ। मैं तुम्हारा शासन छीन लूँगा। चन्द्रगुप्त के शब्दों की प्रतिध्वनि तेजस्विनी एवं साभिमानिनी दोनों थी।'

"अलक्षेन्द्र इन साभिमान तेजस्वी शब्दों को प्रत्युत्तर दिया : 'पकड़ो पकड़ो, इस छोकरे को पकड़ लो। इसे शृंखलाओं से बाँध दो। इसे अपने साथ ले चलो।"

"और इन शब्दों के कानों में पड़ते ही चन्द्रगुप्त हिरण की सी चौकड़ी मारकर भाग खड़ा हुआ।"

"उसके पीछे सैनिक गये-हैं। इस समय क्या स्थिति है, वह पकड़ा गया है या नहीं, इस बात का मुझे ज्ञान नहीं है। पर चन्द्रगुप्त भागा है और सैनिक उसका पीछा कर हैं।"

पर्वतेश्वर की इस बात को सुनते ही आचार्य की छाती में घाव हो गया। वह स्वयं बड़ी कठिनाई के पाशों से बचे थे कि यहाँ चन्द्रगुप्त की वही बन्धनकारी बात सुनी।

'वह किस ओर भाग है?' आचार्य ने पर्वतेश्वर से पूछा।

'वह भागा भी होगा तो उत्तर की तरफ ही। क्योंकि इधर दक्षिण में तो अलक्षेन्द्र की सेना जाने के लिए प्रस्थान कर रही है।'

आचार्य के अविलम्ब उधर से उत्तर की ओर प्रयाण किया। चन्द्रगुप्त इस वितस्ता के उपरि-भाग में जहाँ कहीं भी वनों में आश्रय प्राप्त कर सकेगा, वे उसी ओर चल पड़े। उनके घोड़े तीव्रगामी थे, अतः वे शीघ्रता से आगे बढ़ गये।

३२

आचार्य को आश्चर्य दीखता है!

वीजक सुवर्णकार के ये नवीन अनुभव थे। किन्तु उसने अपने हृदय से धैर्य को खूटने न दिया। उसे यह अनुभव तो हुआ कि आचार्य किसी न किसी महान् कार्य के लिए जा रहे हैं। इस ओर मगध के राजा को छिन्नभिन्न करने के प्रयास उसे स्पष्टया दीख रहे थे। अब तो वह आचार्य का उपास्थक था। और आचार्य तक्षशिला विश्वविद्यालय के महान् गुरु थे। इन्होंने समस्त छद्मवेष छोड़ दिया था। वीजक अब आचार्य की समस्त आज्ञाओं का पालन करते हुए आगे बढ़ रहा था।

आचार्य को वितस्ता के वनों में चन्द्रगुप्त के होने की सम्भावना लग रही थी। जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते गए, वैसे-वैसे कान्ताकारों की गहनता और भीषणता बढ़ती रही।

आचार्य को सहसा उन दोनों अश्वारोहियों की याद आई। जो कभी इनसे अलग हो चुके थे। अब आचार्य को उन दोनों के श्रेष्ठी होने में कोई शंका न रही। वे भी निश्चितरूपेण किसी बहुमूल्य धातु के अन्वेषता के लिए की विन्ध्याटवी में आए होंगे।

अब आचार्य को चन्द्रगुप्त की खोज की लगन थी। यद्यपि यवनेश्वर अपने देश को लौट रहा था, तो भी पर्वतेश्वरों में एक दूसरे के प्रति द्वेष पैदा कराके सदा इन्हें लड़ते रहने की योजना बनाकर लौट रहा था। यवन के क्षत्रप बनने पर भी वे छोटे बड़े पद के लिए द्वेष कर रहे थे। पद का महत्त्व तो केवल अलक्षेन्द्र की कृपा पर निर्भर था।

यह परिस्थिति अत्यन्त अनुकूल थी, आचार्य अपनी योजना के लिए तड़प रहे थे। परन्तु योजना का आधारभूत चन्द्रगुप्त का ही कहीं पता न था।

वे आगे बढ़ रहे थे कि एक वृक्ष के नीचे उन्हें एक वृद्ध बैठा हुआ दीखा। उस वृद्ध ने बताया कि इस ओर से एक तरुण आगे भागे जा रहा था। उसके पीछे दो अश्वारोही पड़े थे। वे वेशभूषा से तो यवन ही ज्ञात हो रहे थे। परन्तु वह युवक बहुत ही चपल था, अश्वारोहियों को छकाने के लिए वह इसी वृक्ष पर चढ़ा और वे आगे बढ़ गए। फिर क्या हुआ है, इसका मुझे ज्ञान नहीं है।

आचार्य को कुछ तो आशा बँधी क्यों कि चन्द्रगुप्त इसी पथ के आगे बढ़ रहा था, यह बात तो असंदिग्ध थी।

वे आगे बढ़ते गए। वनान्त आया, इससे आगे श्यामल हरे भरे मैदान, खेत, वनोपवन, बहुत दूर तक फैले थे। आचार्य ने त्वरा से उस मार्ग को काटा।

परन्तु थोड़ा और बढ़कर एक वृक्ष के समीप इन्हें जो दृश्य दीखा, उससे तो ये स्तम्भ से जम गए। ये सोच भी न सके कि ये आगे बढ़ें या वहीं रुक जाएँ। सामने एक विशाल सघन, शीतलच्छाय वटवृक्ष खड़ा था, उसके पास एक निर्झर बह रहा था। ये वृक्षों की ओट से उस दृश्य को देखते रहे, पर उन्हें उस पर विश्वास न आया हो, ऐसे बार-बार उस दृश्य को देखते रहे।

उस वृक्ष से थोड़ी दूर आगे दो अश्वारोही छोटे-छोटे वृक्षों की आड़ लिए खड़े थे। वे उसी दृश्य को निहारते लग रहे थे।

इस वृक्ष ही छाया में एक पुरुष लम्बतान होकर पड़ा था। इससे अधिक आश्चर्य की बात तो यह थी कि उस पड़े हुए व्यक्ति के पास ही एक मृगपति बैठा था!

प्रत्यक्षतः यही लग रहा था कि यह व्यक्ति यहाँ सो रहा होगा, और फिर वनराज आ गया होगा! वनराज की ही कृपा से वह व्यक्ति भी विश्राम करने लगा हो!

अथवा वह व्यक्ति मर गया हो! और सिंह बैठकर आराम कर रहा हो!

यह क्या बात है? यह समझ में न आया। सिंह की ओर आगे

बढ़ने में भय था। इसीलिए वे दोनों अश्वारोही आगे न बढ़े। और बिना आगे बढ़े कोई चारा भी न था।

आचार्य ने उन दोनों अश्वारोहियों के गुप्त स्थान की ओर देखा। ऐसा आभास लग रहा था कि वे सिंह यवन सैनिकों को अकस्मात् मार देना चाहते हैं! परन्तु दोनों सैनिकों को मारने से एक बात तो निश्चित रूप से हो जाएगी कि यदि सुप्त व्यक्ति चन्द्रगुप्त हुआ तो बन्धन मुक्त हो जाएगा।

आचार्य ने अभी तक निश्चय भी न किया था कि वे क्या करें, इतने में तो उन्होंने पूर्वोक्त दोनों अश्वारोहियों को सुप्त-व्यक्ति की ओर जाते हुए देखा। उनके टट्टू जैसे घोड़ों को जब आचार्य ने देखा तो वे हैरान हो गये कि अरे वे तो वही अश्वारोही हैं।

आचार्य को जब विश्वास हो गया कि दोनों ठेठ मगध से ही उनके पीछे आ रहे हैं। लगता है कि ये दोनों चन्द्रगुप्त को मारने आये हैं। अमात्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का सुराग मिल गया होगा। तभी इन्हें राक्षस अमात्य ने भेजा है। चन्द्रगुप्त को मार करके अब अमात्य स्वयं को निष्कण्टक बना लेना चाहता है। इन दोनों ने हमारे पीछे-पीछे रह कर चन्द्रगुप्त का स्थान जान लिया है। आचार्य के रोम-रोम में क्रोध भर गया, अमात्य राक्षस के भेजे हुए इन क्रूर, भयंकर वधिकों को ही प्रथम मार देना चाहिए।

यह सोचकर वे आगे। उन्होंने वीजक तो हाँक मारी : 'वे दोनों उस सोए हुए व्यक्ति को मारने जा रहे हैं। हम धीरे-धीरे चलकर प्रथम इन्हीं को ही न मार डालें!'

वे तुरन्त आगे बढ़े गये।

प्रथम उन्होंने एक दो पौधों का सहारा लिया। कुछ क्षण वहाँ खड़े रहे, जब दोनों सैनिकों को और आगे बढ़ते देखा तो ये भी आगे बढ़े और एक वृक्ष की ओट में खड़े हो गये।

अब उन दोनों सैनिकों की नीयत स्पष्ट दीख रही थी। वे उस सोते हुए व्यक्ति को ही मारने जा रहे थे, आचार्य को प्रतीत हो रहा था कि यह थककर चूर-चूर हुआ चन्द्रगुप्त ही है, सो रहा है। यह बड़ी कठिनाई से इन सैनिकों से बचा होगा, और यहाँ वृक्ष की छाया में सो गया है। वे आगे बढ़ रहे थे, उनके ऊपर सिंह की दृष्टि पड़ी।

प्रथम तो सिंह उन्हें देखता रहा, फिर जैसे ही उसने उन्हें आगे बढ़ता देखा तो वह खड़ा हो गया। उसकी लम्बी पूछ सुप्त व्यक्ति को छूती हुई सिर पर खड़ी हो गई, सिंह ने थोड़ा-सा सुप्त व्यक्ति देखा, और जैसे कुछ भी न हुआ हो, ऐसे वह वहाँ से छलाँग मारता हुआ सुप्त व्यक्ति को पूछ से घेरता हुआ पिछले निर्झर की ओर दौड़ गया!

श्रृंगारदेवी आचार्य के हाथ की खुली तलवार एवं उनकी क्रिया के भेद जानते ही खिल-खिलाकर जोर से हंस पड़ी 'आचार्यदेव! तुम्हारे घोड़े तो अच्छे हैं न?'

आचार्य यह सोच कर ही स्तब्ध रह गये कि एक पल में क्या का क्या हो गया होता वे इसी सोच में पड़े थे।

३३
आचार्य ने हवा बाँधी

'चन्द्रगुप्त! तू यहाँ कहाँ से आया है?' आचार्य ने कहकर शान्ति भंग किया। 'यहाँ पर तो तेरे पास में एक वनराज बैठा था!'

'वनराज? क्या कहा आपने? वनराज? नहीं हो सकता देव!'

'इनसे पूछ लो! आचार्य श्रृंगारदेवी की ओर देखते रहे। वे मन ही मन में उसकी प्रशंसा कर रहे थे। अब उनकी समझ में बात आयी कि सुंसुमार गिरि उनके पीछे-पीछे जो दो अश्वारोही आ रहे थे उनमें एक तो श्रृंगारदेवी थी और दूसरी अन्य कोई स्त्री। वह इसकी सखी होगी। आचार्य को इसके साहस पर आश्चर्य हो आया। और श्रृंगार के लिए उनके मन में मान जागृत हो गया। वे सोचने लगे कि यह स्त्री तो राज्य के राज्य चला सकती है। यहाँ तक उसका आना कुछ साधारण-सी घटना नहीं है। आचार्य ने प्रेममयी गिरा में, फिर कर पूछा :

'श्रृंगारदेवी! तुम यहाँ पर कैसे आ गयीं? पुष्पगुप्त कहां है?'

'यह सब तो लम्बी बात है भन्ते आचार्य! हम तो घूमते-फिरते आ पहुंचे हैं। यहाँ आये तो आप को देख लिया। किन्तु भन्ते आचार्य! क्या आप के घोड़े ठीक न थे? अथवा और कुछ हो गया था? हम तो सोच रहे थे कि आप कभी तक्षशिला पहुँच गए होंगे!'

'हाँ....' आचार्य को याद आया। तब तो पहले उन घोड़ों को बदलने वाली भी शृंगारदेवी ही है। बड़ी विचित्र लड़की है! वे शृंगार को देखते रहे। अभी तक चन्द्रगुप्त को इन दोनों की बातों का तारतम्य समझ में न आ रहा था। वह उन दोनों की ओर देखता रहा। किन्तु आचार्य को तुरन्त याद आया कि सर्वप्रथम यवनेश्वर के भय का प्रतिकार होना चाहिए। समय बीत रहा है। आचार्य ने तुरन्त ही चन्द्रगुप्त से पूछा :

'चंद्रगुप्त! अब तो हम लोग यवनेश्वर के भय से मुक्त हैं न? यहाँ से भाग चलना होगा, अथवा यहाँ रहें तो कोई भय तो नहीं है न?' 'अभी तो यवनेश्वर मालव-क्षुद्रकों के गण-राज्यों में युद्ध कर रहा है। अत एव सिन्धु की ओर जाने वाले यवन सैनिक यहाँ पर भी किसी क्षण दीख सकते हैं। और यहाँ के पर्वतेश्वर? ये कौन से उसके क्षत्रप नहीं हैं? इसलिए अभी हम उसके भय से मुक्त नहीं हैं। हमें अब आगे चलना चाहिए!'

'अच्छा तो प्रथम हमें यहाँ से निकलना चाहिए। और बातें फिर देखी जायेंगी। वह वनराज तो अभी तक दीख रहा है। उसने भी तुम्हारा अभिषेक कर दिया है। उसने तुम्हें पूँछ से छुआ और फिर मस्ती से आगे भाग गया। मैं तो समझा था कि ये यवनेश्वर के सैनिक हैं। वे तुम्हारी ओर बढ़ रहे थे, परन्तु यह तो शृंगारदेवी निकलीं। अभी कितनी बड़ी दुर्घटना हो गयी होती!'

'भन्ते आचार्य! आप इसे जानते-पहचानते-से लगते हैं। क्यों, कौन है यह? कहाँ का निवासी है?'

'तुम कहाँ के निवासी हो राजकुमार?' शृंगारदेवी ने उसके सामने हँसते हुए प्रश्न किया। आचार्य प्रेमपूर्ण वात्सल्य से भरे थे और मौन होकर उसे देख रहे थे।

'मैं? मैं तो तक्षशिला का निवासी हूँ!'

'तब तो मैं भी तक्षशिला की—तक्षशिला के लिए आयी हूँ अतः तक्षशिला की ही हूँ! नन्दराज की हवा ने घबरा दिया!'

'किन्तु कहाँ से आ रही हो?'

'मगध याद आ रहा है, क्यों कुमार? और पाटलिपुत्र? और एक कोई शृंगारदेवी, जो तुम्हारे पड़ोस में रहती थी, वह याद आती है?

तुम उसे बहुत चिढ़ाया करते थे। और वह भी तुम्हें चिढ़ाया करती थी। याद है न?'

'हाँ.....आ.....' चन्द्रगुप्त को अब अपने शैशव की सखी का सहसा स्मरण हो आया। यह वही है, यह बात उसकी कल्पना में भी न आ सकी थी। उसे सारी घटनाएं याद आ गयीं। वह बोला : 'हाँ हाँ, अब याद आ गई, हम दोनों साथ-साथ खेलते थे।'

'तो वही हूँ मैं जो इस समय तुम्हारे सामने खड़ी हूँ। तुमने एक बार मेरे हाथ पर तलवार का घाव कर दिया था दाँव लेते-लेते, याद है न? यह है, वह घाव।'

'हाँ हाँ, मुझे बराबर ध्यान आ गया।....और तुमने भी तुरन्त ही घाव कर दिया था, चिढ़कर के! याद है न?'

श्रृंगारदेवी हँस पड़ी और बोली : 'देखिये आचार्य देव! आपके शिष्य को मेरा घाव तो याद है, किन्तु मैं याद नहीं हूँ।'

आचार्य ने प्रेम से उसके सामने देखा। परन्तु वे सजग थे, उन्होंने तुरन्त कहा :

'अरे भाई! अभी हमारे ऊपर भय की तलवार बराबर लटक रही है। हाँ! हमें अविलम्ब इस स्थान को छोड़कर चलना होगा। वह वनराज भी लौट रहा है! चलो अपन त्वरा से आगे बढ़ चलें। आगे की बातें वहीं होंगी......तक्षशिला में।'

आचार्य के शब्दों ने सबको सामयिक परिस्थिति का ज्ञान करा दिया। वे सब आगे बढ़ने के लिए तैय्यार हो गए। किन्तु मुसीबत एक थी, कि घोड़े थे चार और व्यक्ति थे पाँच! वीजक को पीछे छोड़ने की नौबत आ रही थी।

आचार्य ने विचारा कि वीजक इस ओर की भूमि का भेदिया नहीं है। उसे साथ में रखने से भी मुसीबत थी, उसकी गति धीमी थी। अभी भय की छाया से ये लोग मुक्त न हुए थे। आगे चलकर घोड़ा खरीद लिया जाएगा, यह सोचकर वे आगे चल पड़े।

इनका प्रथम पड़ाव एक छोटे-से गाँव में हुआ। ग्राम-रक्षक आचार्य का चिरपरिचित निकला, उसने एक सुन्दर-सा घोड़ा आचार्य को दे दिया और वे सब वितस्तता के तटवर्ती होकर तक्षशिला की ओर बढ़ते गए।

मार्ग पर सर्वत्र यवनेश्वर की बातें हो रही थीं। उसने पर्वतेश्वरों को अपना क्षत्रप बनाया था। अभी तो क्षत्रप यावनी सेना को प्रस्थानमान देने गये थे। सिन्धु देश की ओर से अभी तक वे लोग लौटे न थे।

यवनेश्वर ने विपाशा नदी के तटों पर बारह कीर्ति-स्तम्भ खड़े किए थे, यह बात भी प्रचलित हो रही थी। पचास हाथ उन्नत स्तम्भों को देखकर सारी प्रजा आश्चर्यचकित हो रही थी। परन्तु आचार्य को लगता था कि अब तो यवनेश्वर निश्चितरूपेण यहाँ से चल देगा। इसी कारण उसने ऐसी हवाई फैलाई है कि जिससे यह सप्तसिन्धु प्रदेश उसी के अधिकार में रहे। क्षत्रपों को उसने अपना महान् स्तम्भ बना रखा है। इसलिए आचार्य ने सीधे तक्षशिला तक न जाकर आस-पास के भूभागों में ही रहने का निर्णय किया। क्योंकि आम्भि के भावी कार्यक्रम की रूपरेखा अभी तक अस्पष्ट थी। और साथ में जोखम भी बड़ी थी। दो स्त्रियाँ थीं। इस समय सुवर्णकार वीजक बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ। उसने जान-बूझकर अपने साथ मूल्यवान मणि-माणिक्य लिये थे। जिनका महत्त्वपूर्ण उपयोग उस समय में हो रहा था।

आचार्य अब तक्षशिला के सान्निध्य में पहुंच चुके थे। यहां पहुंचकर इन्हें हुआ कि अब तो सब के सब भयमुक्त हो चुके हैं। एक वनभाग में इन्होंने अपना बसेरा किया। अब ये सोचने लगे कि भावी कार्यक्रम क्या होना चाहिए? इन्हें आम्भि पर विश्वास न था, पौरव वीर था, और उसका भतीजा भी वीर था, परन्तु अब तो आम्भि और पौरव सम्बन्धी बन गये थे। भले ही आम्भि का रुझान यवनेश्वर के पक्ष में था, और यवनेश्वर ने ही पौरव और आम्भि में सुसम्बन्ध स्थापित करवाया था। अलक्षेन्द्र का क्षत्रप फिलिपोस भी यहीं निवास कर रहा था। यह तो क्षत्रपों को पारस्परिक संघर्षों से उबारता था।

ऐसी दशा में सब किसी को एकता के सूत्र में पिरोना बहुत कठिन था। परन्तु यहाँ आकर आचार्य को एक निश्चिन्तता तो हो ही गई थी कि वे अब निर्भय बन गए थे। वे मगध के समाचारों से स्वयम् को अवगत कराना चाह रहे थे।

अब उन्हें श्रृंगारदेवी ने मुस्कराते हुए कहा : 'कैसे चुराये थे—

हाथों से, और कैसे भन्ते आचार्य!'

इसका नाम यथागुण था। इसकी वाणी में, बातों में, आँखों में, प्रेम विनोद का एक महासागर हिलोरें लेता रहता था, आचार्य को इसका अनुभव हो रहा था। किन्तु इस विनोद में छिछराव एवं क्षुद्र भावना का अभाव था। लगता था कि इसमें विपत्ति-वारिधि को प्रेम-विनोद पावक से वाष्प बनाने की शक्ति सन्निहित थी।

ऐसी स्त्री यदि रणभूमि में भी एक बार अवतीर्ण हो जाए तो वह क्षण-भर के लिए वहाँ पर भी हँसी-मजाक के फौव्वारे बिखेर दे।

'मैं वहाँ से भागा। फिर पाटलिपुत्र में क्या-क्या हुआ? अभी तक मेरी खोज तो रही होगी न? तुम वहाँ से कैसे बचकर आ गयीं? शकटार मन्त्रीश्वर का क्या हुआ?'

'भन्ते आचार्य! जिस धीवर ने आपको डोंगी से पार उतारा था, उसी ने हमें भी उतारा। आपको शस्त्रागार में छोड़कर मैं ऊपर गयी, परन्तु किसी को विश्वास न आया और वे सभी शस्त्रागार में आ गए थे।'

'यह तो मुझे भी भू-गृह में पता चल गया था। इसीलिए तो मुझे तुम्हारी सुरक्षा इसी में लगी कि मैं यहाँ से चला जाऊँ, और मैंने उसी भूगर्भ में से पथ खोज लिया।'

'सब के चले जाने पर मैंने शास्त्रागार में आपको भूगर्भ में खोजा तो आपका पता न लगा।'

मेरी इस सहेली लतिका से मैंने बातें कीं तो हमारा भी मन हो आया कि हम भी आपके साहस में भाग लें। इस प्रकार हम भी आपके पीछे-पीछे निकलीं। ठेठ सुसुमारगिरि पर जाकर आपका पता चल पाया।

'परन्तु शकटार मन्त्रीश्वर का क्या हुआ?'

'भन्ते आचार्य! शकटार मंत्रीश्वर के साथ कौन-कौन गया था?'

'नन्दराज और एक रूपाढ्या तरुणी!'

'ठीक ठीक, परन्तु ज्ञात है आपको कि वे दोनों कौन थे?'

आचार्य की बुद्धि में कुछ नयी सी बात आयी। वे राक्षस की शक्ति देखकर घड़ी भर काँप उठे।

'कौन थे वे शृङ्गार?'

'मोम के दो मानव! हूबहू नन्दराज! हूबहू रमणी! राक्षस अमात्य ने किसी सुदक्षकला शिल्पी से वे सुसज्जित कराये थे। इस प्रकार नन्दराज बच गया।'

'ओ.....हो!' आचार्य तो क्षण-भर के लिए मौन हो गये जैसे उसके वक्षस्थल में कोई बाण आर-पार हो गया हो! अमात्य राक्षस की शक्ति उन्हें ज्ञात थी। परन्तु ऐसी शक्ति का प्रदर्शन तो केवल अति मानव का ही कार्य हो सकता है, उसके प्रहरी क्षण-क्षण और स्थल स्थल के समाचारों से विज्ञ होते होंगे। तक्षशिला तक विस्तीर्ण मगध साम्राज्य उसके सामने पड़ा हुआ सा लगता है। आचार्य को इस शक्ति ने क्षण-भर के लिए विकम्पित कर दिया।

'चन्द्रगुप्त!' आचार्य ने चन्द्रगुप्त के सामने देखकर कहा, 'इस शृङ्गारदेवी की बात समझ गये हो तुम? ऐसे मगध साम्राज्य के सामने हमने युद्ध छेड़ा है!'

'क्या बात थी आचार्य देव?'

'शकटार मंत्रीश्वर ने अपने पास कोटानुकोटि कांचन की बात चलाई थी। इसी कांचन लोभ में आकर नन्दराज सुनन्दादेवी, उनका और मेरा भी वर्चस्व मानता था। मन्त्रीश्वर ने एक ही बात कही बार-बार कि वह कोटानुकोटि कांचन तो नन्दराज की हिरण्य-गुहा में है। और जब कभी नन्दराज कांचन के लोभ से हिरण्य-गुहा में प्रविष्ट हो, तभी उसकी हत्या करने की योजना थी। परन्तु चतुर अमात्य राक्षस ने नन्दराज के स्थान में उसकी मोम की प्रतिमा बनाकर भेजी नौका में—परन्तु शकटार मंत्रीश्वर—उनका क्या बना श्रृंगारदेवी! उनकी दशा का ज्ञान तो केवल हिरण्य गुहा को ही है।'

'ओ.....हो.....पुष्पगुप्त का क्या हाल है? अब तो राक्षस की दृष्टि में वह आ गया होगा पूरा पूरा!'

'है तो सही। किन्तु अधिक सम्भावना यही है कि राक्षस अमात्य अन्तर्घर्षण निवृत्ति के लिए सुनन्दादेवी को तक्षशिला आ जाने देगा, और साथ में भैय्या भी! भाई के अन्यत्र भागने से उचित तो यही है कि वे महारानी के साथ ही रहकर सुरक्षित हों।'

पाटलिपुत्र के इन समाचारों ने आचार्य को विचारों में डुबा दिया। मगध के साथ युद्ध करना कोई हँसी खेल न था, आचार्य का हाथ

अपनी मुक्त शिखा पर गया। वे बोले : 'चन्द्रगुप्त! अब हम मगध को उन्मुक्त आह्वान प्रदान कर चुके हैं। मैंने भरी सभा में नन्द के समूल निकन्दन की घोषणा की है। और यह मेरी मुक्त शिखा तभी बँधेगी। या तो इस शिखा को तुम बँधवाओ, अथवा श्रृंगारदेवी। अन्यथा यह शिखा नन्दनिकन्दन से पूर्व तो नहीं बँध सकेगी।'

आचार्य ने दीर्घ शिखा अपने कन्धे पर बिखेर दी। और वे बोले: 'अच्छा, यह तो जब बँधेगी, तब की तब रही, किन्तु यवनेश्वर के यहां से प्रस्थान करते ही आम्भिनरेश से मिल लेना चाहिए।'

'आम्भि नरेश से मिलना चाहिए?'

'नहीं तो और कैसे? तक्षशिला विद्याधाम को पुनः मुखरित करना हो तो सर्वप्रथम चेष्टा आम्भिनरेश ही करेगा! यह सप्तसिन्धु का सम्राट् है।'

'ऐसे होते हैं सम्राट्? जिसने याचक बनकर युद्ध किया, जिसने श्वान बनकर पूछ हिलाकर यवनेश्वर से भूमि का एक टुकड़ा माँगा। ऐसे होते हैं सम्राट्?'

'चन्द्रगुप्त! राक्षस अमात्य ने मोम के पुतले खड़े कर दिखाये हैं। यह बात श्रृंगारदेवी ने अभी अभी कही है। क्यों श्रृंगार! वही मोम का पुतला था नन्दराज!'

'हाँ भन्ते आचार्य! इस कार्य में तो अमात्य राक्षस ने गजब की शक्ति दिखाई। किसी को भी कुछ पता न चला। भाई को, इस बात को सुनकर मुख में अंगुली डालनी पड़ी। भला, आज तक बिना पुतलों के किसी का उद्धार हुआ है? यवनेश्वर ने भी तो ये पुतले खड़े किए हैं!'

'वे बारह हैं न?'

'अरे वाह! यह भी खूब कही! क्या कहूँ तुम्हें? वे बारह स्तम्भ नहीं ये क्षत्रप जो खड़े किए हैं वे, श्रृंगारदेवी बोली। और बोलती-बोलती हँस पड़ीं!'

'ये यहाँ नूतन प्रकार के मोम के पुतले हैं! जैसे नन्दराज ने खड़े किए हैं, ऐसे पुतले हमें भी खड़े करने पड़ेंगे! बिना पुतलों के कुछ हो सकता है?'

'वाह री बेटी!.....' आचार्य ने उसके मस्तक पर हाथ रखा।'

तू तो चन्द्रगुप्त से भी प्रथम मेरी बात समझ गई। अब से मैं तुझे अपनी शिष्या ही मानूँगा। यह शिष्य और तू शिष्या, तुम दोनों के ऊपर मुझ बूढ़े का आधार है! जय और विजय दोनों!'

चन्द्रगुप्त भी बात अब समझ गया था। आचार्य की इच्छा थी आम्भिराज को प्रेरित करने की, किन्तु आम्भि और फिलिप ये दोनों एक ही थे।

'एक बात है देव! आम्भिराज और फिलिप ये दोनों एक हैं।'

'समस्त संसार ही एक है चन्द्रगुप्त! किसी से कोई पृथक् नहीं है, परन्तु कब किस का पृथक्करण होता है, इसे जान लेना ही तो राजनीति है। पृथक्ता कैसे होती है इसका ज्ञान होना ही अर्थनीति है, और किस को पृथक् नहीं होना चाहिए, इसका ज्ञान होना ही धर्मनीति है यदि तीनों ज्ञानों से भरपूर हो जाएँ, तो सारा संसार हमारी मुट्ठी में आ जाए!'

आज श्रृंगारदेवी को प्रथम बार आचार्य के ज्ञान का नूतन परिचय प्राप्त हुआ था। आचार्य की बात सुनते ही उसका अन्तस्तल नीरस हो उठा, इसकी समझ में तुरन्त आ गया कि पाटलिपुत्र और तक्षशिला की दूरी का परिचय उसकी बुद्धि में आ गया। उसका रोम-रोम आनन्द से नाच उठा कि उसे ऐसे महान् आचार्य की शिष्या बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वह प्रशंसा भरे नयनों से आचार्य की ओर देखती रही।

'अभी हमें ठहरना होगा चन्द्रगुप्त!' आचार्य ने कहा : 'परन्तु शशिगुप्त है, पौरव है, और यह आम्भिराज है। वह सौभूति का क्या है उसका नाम..... ?'

'उशनस्'

'हाँ......यही हैं, ये सब अपने मित्र हैं और हम उनके मित्र हैं। इन सभी को तक्षशिला विद्याधाम से प्रेम है। ये सभी यहाँ आ जाएँगे, इनमें किसी एक को तक्षशिला विद्या-धाम का रक्षक बनाएँगे। वह भी अन्दर ही अन्दर और किसी को रक्षक पद पर प्रतिष्ठित करेगा। और ऐसा करने पर जब इनमें मतभेद बढ़ेगा तो हम इन्हें सहायता देकर मतभेद में वृद्धि करेंगे। किन्तु देखते रहना कि क्या फल निकलता है? मेरा आधार तो तुम्हीं दोनों पर है। मैं बूढ़ा क्या कर

सकता हूँ? मैं तो कहता भर हूँ कि नन्दराज का नाश करूँगा, परन्तु यर्थार्थ नाश करने वाला तो तुम जैसा कोई सिंह होगा। अच्छा अब हमें उठ बैठना चाहिए, रात बहुत बीत गई है।'

३४

प्रेम-पाश

किसी ने प्रेम को पागल कहा है, तो किसी ने समस्त पागलपनों को ही प्रेम माना है! यह चाहे जो कुछ भी हो, परन्तु प्रेम के झूले में बैठकर मानव ने भूमि पर ही स्वर्ग के दर्शन किए हैं। और इसी झूले पर पैग बढ़ाकर मानव ने मानव को मुग्ध बनाया है। आचार्य के सामीप्य से श्रृंगारदेवी और चन्द्रगुप्त खिसके तो सही, परन्तु इन्हें भी स्वयं भान न था कि ये प्रेमी हैं, या प्रमत्त! इन्हें केवल इतनी अनुभूति हो रही थी कि ये पूर्वापेक्षा अब और ही कुछ हो गए हैं। पूर्व ये विश्व को देखते थे, परन्तु अब तो इन्हें केवल सौन्दर्य दीखता है। इन्हें अपने शैशव में क्या दीखता था, इसकी स्मृति आज इनमें न थी। किन्तु एक सर्वथा नूतन सर्जन, जिसमें सर्वत्र सौन्दर्य ही सौन्दर्य दीखता था—इसका अनुभव इनके मनों में अवश्य ही हो रहा था। वे सोच रहे थे कि इसका स्पष्टीकरण शब्दों से होना चाहिए और प्रकाशन समस्त पदार्थों से। वे दोनों अपने निवास-स्थान की ओर जा रहे थे। परन्तु इस समय श्रृंगारदेवी को निज निश्छल नेह की अनेक बातें याद आ रही थीं। वे बातें हृदय की सीमा लाँघकर बाहर फूटना चाहती थीं। उसे यह भी स्मरण आया कि वे दोनों राजा-रानी के खेल खेला करते थे। यह सब वह चन्द्रगुप्त से कह देना चाहती थी। उसका मन व्याकुल हो रहा था। वह चलती-चलती रुक गई। वह बोली :

'चन्द्रगुप्त! शैशव में खेले गये राजा-रानी के खेलों को लोग तरुणाई में भूल जाते होंगे?'

'क्योंकि वे विस्मरण के ही योग्य होते हैं।'

'वे विस्मरण के योग्य होते हैं?.....' श्रृंगारदेवी के मन में एक आघात पड़ा : 'अर्थात्?.....वे झूठे खेल होते हैं?'

'खेल का अर्थ होता है, धूल के समान मिथ्या बात!'

'तो तुम्हारे कथन का यही आशय है राजकुमार, कि हम लोग मिथ्या खेल खेलते थे, क्यों?'

'मैं तो खेलों को मिथ्या ही मानता हूँ, तुम यथार्थ मानती हो तो यथार्थ ही सही।' चन्द्रगुप्त ने गम्भीर होकर कहा। शृंगारदेवी की व्याग्रता देखकर उसके मन में ज्वार उठ रहा था।

'मैं तो उन्हें यथार्थ ही मानती थी!'

'अच्छी बात है। तुम्हें यथार्थ मानकर जो आनन्द तब मिलता था, अब भी मिल सकता है। यह बात साधारण नहीं है। परन्तु जैसे अनेक लोग खेल नहीं सकते, वैसे ही अनेक खेलों को त्याग भी नहीं सकते!'

'वे दोनों ही जड़ हैं।' शृंगारदेवी के मुख से निकल गया : 'न खेलने वाले और खेलों को न छोड़ने वाले।'

'जड़ भी हों, और समय पर ध्येय वाले भी हों, और अत्यधिक बुद्धिशाली भी हों?'

'अपनी बुद्धि की महत्ता देख ली है न तुमने! यह भी पता पड़ा है कि तुम्हारी बुद्धि अद्‌भुत है!'

'तुम्हें अब ज्ञात हो चुका है, मुझे तो कभी का पता हो गया था!' चन्द्रगुप्त विशेष गम्भीर हो गया। लगता था कि जैसे वह कुछ भी न समझता हो।

शृंगारदेवी ने उसकी ओर हाथ बढ़ाकर कहा : 'इच्छा होती है, तुम्हें खेल खिलाना सिखला दूँ!'

'शृंगारदेवी! यह विद्यास्थली तक्षशिला है, क्रीड़ास्थली पाटलिपुत्र नहीं है।' चन्द्रगुप्त ने अत्यधिक गम्भीर होकर कहा।

शृंगारदेवी व्यथित हो गई। उसे हुआ कि उसने चन्द्रगुप्त के मन को पीड़ा पहुंचाई है, वह धीरे से बोली : 'राजकुमार! तुम प्रेम को समझते हो?'

'हाँ....हाँ.....तुमसे अधिक शृंगारदेवी!'

'तो तुमने यह क्यों कहा कि खेल मिथ्या थे?'

'क्योंकि वे अयथार्थ ही थे।'

'इसका यही आशय है कि हम दोनों ने राजा-रानी के झूठे खेल खेले थे?'

'सर्वथा झूठे!'

'तुम्हारे मन में ऐसी क्या बात है राजपुत्र?'

'जो बात तुम्हारे मन में है।' चन्द्रगुप्त ने कहा और वह हँस पड़ा।

'हाय रे!....तुम कितने निर्मम हो! तुम मौर्यकुमार हो? मुझे तो लग रहा था कि मैं व्यर्थ ही पाटलिपुत्र से यहाँ तक आयी, निष्ठुर कहीं के! मुझे कितना व्यग्र बना दिया था अभी? मुझे व्याकुल बनाकर तुम्हें क्या मिल गया?'

'बिना व्यग्रता के कोई वस्तु वस्तु नहीं होती देवी! हम निष्फल खेल खेला करते थे तब, यथार्थ खेल खेलने का समय तो अब आया है। तुम रानी का खेल खेलती थीं, पर रानी नहीं हो। मैं राजा का खेल खेलता था पर मैं राजा नहीं था!'

'हाँ.....ऐसी बात है?'

'मुझे तो लग रहा है कि तब तो तुम्हारी बुद्धि मात्र आचार्य के सान्निध्य में ही विकसित होती है।'

'इसमें कारण है मौर्यकुमार! जब तक हम बुद्धि के सान्निध्य में खड़े न रहें, तब तक बुद्धि का विकास नहीं होता।'

'देखना हो किसी को बुद्धि का प्रागल्भ्य, तो तुममें देख ले! जरा-से नन्द के कन्द से बच निकलने में दिन में तारे नजर आ गए।'

'किन्तु अभी तक तुमसे जो नन्द जीता न जा सका, मैं उसे जीतकर आ गई हूँ। इतना कम है?' शृंगार ने आवाज में विनोद भरते हुए कहा।

परन्तु इसी समय मार्ग से उठती हुई पादुका-ध्वनि से दोनों भड़क उठे। आचार्य स्वयमेव इस ओर आ रहे थे। वे अब निकट आ चुके थे। उनका मुख गम्भीरता से भरा था। वे आते ही बोले : 'चन्द्रगुप्त! तुझसे एक बात कहना भूल ही गया था कि तेरी अँगूठी तेरी माँ के पास पहुंचा दी है। इस शृंगारदेवी ने ही पहुंचाई है।'

'हाँ जी! मैंने पहुंचा दी है। और माताजी ने सन्देश भी भिजवाया है, वह तो मैं भूल ही गयी थी।'

'क्या सन्देश भिजवाया है?' आचार्य ने पूछा।

'माता जी ले कहलाया है कि यह मुद्रिका तो ठीक है, पर मुझे तो राजमुद्रिका देखनी है, राज-पताका देखनी है, जिस पर मयूर नृत्य करता हो।'

'तो ऐसी बात है चन्द्रगुप्त! परंतु मैं तुमसे एक बात कहने आया था। कल तुम्हें तैयार होकर जाना होगा।'

'कहाँ?'

'तुम्हें और वीजक दोनों को जाना होगा। तुम अभिसारराज से मिल आओ। पौरव के पुत्र राजकुमार मलयकेतु से भी मिल आओ। इन्हें सप्तसिन्धु प्रदेश की मुक्ति की कामना हो तो, हमें इससे लाभ उठाना चाहिए। और इनमें विजयेषणा न भी हो तो इनमें उसे उत्पन्न करानी चाहिए। और वीजक तो सिन्धु नदी के किनारे-किनारे चला जाएगा। पातालनगर से यवन-सैनिकों के विदा होने की सूचना हमें तुरंत मिल जानी चाहिए। हम यहाँ पर एक भयंकर विद्रोह जागृत किए बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकेंगे? सर्वप्रथम हमें क्षत्रप *फिलिप को ही मारना चाहेंगे।'

'क्षत्रप फिलिप को?'

'हाँ क्यों? तुम्हें नवीनता लग रही है?'

चन्द्रगुप्त आचार्य के सामने देखता रहा, वह बोला : 'आचार्य देव! फिलिप एकाकी नहीं है। वह आम्भिराज के साथ है, एक को ठिकाने लगाते समय दूसरा व्यवधानरूप बन जाएगा। यही क्यों? शशिगुप्त और अभिसार इत्यादि सभी के रोष की चिन्ता छोड़ देनी होगी। पौरव को यदि सर्वाधिक कोई बात गड़ी है तो आम्भि के साथ का सम्पर्क सम्बन्ध बढ़ाने पर भी गौरव के मन में पैदा हुआ आम्भि-तिरस्कार अभी तक नष्ट नहीं हुआ है। अतएव हमारे लिए सबसे लाभदायक तो यही है कि हम पौरव से सम्पर्क साधें। वह चाहे जैसा भी हो, पर वह वीर-बांका। इसी से हमारे देश का सम्मान बढ़ा है। इसने यवनों से शत्रुओं के रूप में ही युद्ध वीरों के समान बर्ताव किया है। अब वही पौरव यवन से मित्र के रूप में भी सही-सही बर्ताव करने वाला है। मिलन के योग्य तो यही है। आम्भि का क्या विश्वास? मेरे नयनों के सामने अभी भी वृद्ध आम्भि नरेश की मृत्यु वेला घूम रही है! ऐसे वीर पिता की कायर सन्तान? इससे तो सावधान रहने की आवश्यकता है!'

'देखो चन्द्रगुप्त! हमें तो एक के बाद दूसरे से मिलना ही

*इतिहास के अनुसार तो क्षत्रप फिलिप का वध किया गया है।

पड़ेगा। इसके पश्चात् की योजना तो फिर बनाई जा सकेगी। परन्तु एक बार इन सबको संगठित तो करना ही पड़ेगा। एतदर्थ सबसे अच्छी बात तो यही है इसके संस्कृति-धाम की प्रसिद्धि। हम तो अब तक्षशिला विद्या-धाम का एक महोत्सव करना चाहते हैं, इसलिए प्रथम तो तुम इन सबको ऐसा ही निमन्त्रण दे आओ। यह हवा तो मुझे नहीं दीखती है कि मात्र फिलिप को मारने से हम यहाँ स्थिर हो सकेंगे!'

आचार्य के शब्द सुनकर चन्द्रगुप्त कुछ समय तक मूक बना रहा। आचार्य के कथनाभिप्राय को जानकर वह अस्वस्थ हो उठा। क्या आचार्य इन सभी की हत्या करना चाहते हैं? अरे रे! फिर तो वह स्वयं भी एक भीषणतम कार्य में सम्मिलित हो रहा है। वह व्याकुल बन गया। वह सोचने लगा अरे यह तो हद हो गयी।

इतने में आचार्य बोले : 'राजकुमार! देखो वह कार्य हमें ही करना है, जिसका सर्जन हमने किया है। और जो कार्य करना ही है वह पूर्ण दृढ़ता से करना चाहिए। इसके बीच में विधि की विडम्बनाएँ आएँगी। परन्तु आने दो उन्हें भी। विधाता के खेल भी आएँगे बीच में वे भी आएँ, परन्तु भविष्य-निर्माण में इतनी दृढ़ता होनी चाहिए कि जितनी दृढ़ता और निश्चिन्तता विद्युतपात एवं उसमें निहित ध्वनि में होती है। इतनी बात होने पर ही सफलता आती है। अन्यथा आते-आते प्रत्यावर्तित हो जाती है। इन लोगों में से कोई भी हमारे स्वप्नों के साथी बनना चाहेंगे, वे हमारे हैं, जो साथ में नहीं आते वे हमारे नहीं हैं.....'

आचार्य ने आकाश की ओर अंगुली उठाकर कहा : 'वे कहां के अतिथि हैं, धरती के नहीं!'

'किन्तु! किन्तु.....देव! देव! अपनी गणना यवनों में हो जाएगी, हम भी यवन हो जाएंगे। हम सबको समझाएँ-बुझाएँगे, ऐसा कहिये ना!'

'केवल हम उन्हें समझाएँगे ही नहीं, किन्तु उनसे विनय भी करेंगे। उन्हें सारी योजना समझाऊंगा चन्द्रगुप्त! उन्हें उनके स्थान, पद का ध्यान दिलाऊंगा। आर्यत्व भावना से उन्हें स्वयं इनमें करने के लिए उन्हें सर्वतो भावेन प्रयास करूंगा। परन्तु यह सब निष्फल चला

जाए तो? तब तो राजकुमार! हमारे पास ही एक मार्ग रह जाएगा। महान् कृष्ण की महागौरवमयी गीता का आर्य सुजनता का दीन बने तो उससे युद्ध महायुग धर्म!' यही है हमारी राजनीति की दृढ़ धुरी, राजनीति में से इस कील को छोड़कर चलने वाले को मैं आत्मघाती मानता हूँ। भयंकर मानता हूँ, उसे प्रजाद्रोही समझता हूँ। वह कहां की राजनीति है कि प्रजा को भेड़-बकरियों की भाँति निर्दयतापूर्वक कटवाया जाए! युद्ध में कम से कम सैनिकों का होम करने वाला जिस प्रकार युद्ध वीर कहलाता है, उसी प्रकार राजनीति संग्राम में अधिकाधिक सावधान रहकर दूसरों के विश्वासों पर प्रजा को न सौंपने वाला व्यक्ति ही राजनीतिक माना जाता है। आततायी का, राजनीति में विश्वास नहीं होता। यह दृढ़ कीलक है, जो अचल और अमर है!'

आचार्य के प्रत्येक शब्द से शृंगारदेवी के रोम-रोम में प्रसन्नता छा गई, वे ही आचार्य थे, जिन के जीवन में विद्या, संस्कार शूरता एवं सुजनता का अपूर्व सम्मिश्रण प्रतिभासित हो रहा था। वह आचार्य के सामने देखती रही। आचार्य-सा एक भी व्यक्ति सम्पूर्ण मगध में कोई न था।

अकस्मात् आचार्य में गाम्भीर्य उतर आया। उनके शब्दों में भी मेघों सा गाम्भीर्य समाविष्ट हो आया। 'चन्द्रगुप्त! मैं तुम दोनों से एक बात और कहना चाहता हूँ। हम में हृदय है, हृदय का अपना धर्म है। हृदय प्रेमानिल से भरा होता है। मैं इस प्रेमानिल को सर्वश्रेष्ठ अनिल मानता हूँ। परन्तु इस विद्याधाम की अपनी स्वयं की विशिष्टता है, तेजस्विता है। यहाँ पर किसी भी बालक्रीड़ा को स्थान नहीं है। यहाँ का स्थान तो उन्हीं के लिए है, जिनमें प्रेम के लिए युग-युग तक प्रतीक्षा करने की शक्ति हो। तुमने सुना ही होगा कि सौमति प्रदेश में दुर्बल बालकों का पालन नहीं किया जाता। इस प्रदेश में किशोर प्रेम का पादप नहीं पनप सकता। तुम्हारे सिर पर जो महान् दायित्व है उसके लिए भले ही तुम दोनों मिलकर एकात्म बन जाओ, दो परम तेजस्वी धुरन्धर बनकर चमको। यह अवस्था ही इस धाम के गौरव के अनुरूप है।'

आचार्य ने अपनी उस मुक्त शिखा को हाथ में लेकर पुनः कहा :

'किन्तु देखो....!' वे वात्सल्य भरे स्मित से उसकी ओर देखते रहे : 'इस बूढ़े की यह शिखा अभी तक नहीं बँधी है। यह बात मत भूल जाना। यह शिखा तभी बँधेगी, जब तुम दोनों के हाथ परस्पर बँधेंगे। तब मगध मुक्त हो जाएगा। देश का वायुमण्डल परिवर्तित हो जाएगा। जब नन्दवंश का एक भी बालक जीवित नहीं होगा, जब नन्द निकन्दन सिद्ध हो जाएगा। तुम दोनों तो महान् युद्ध वीर हो। तुम्हारे युद्धभूमि में अपने धर्म हैं। चन्द्रगुप्त! कल ही आम्भिराज से अलह सबेरे मिलने के लिए चलना होगा। क्षत्रप आ चुके हैं, किन्तु अभी तक सम्भवत: फिलिप सिन्धु देश से लौटकर नहीं आया होगा। तब तक तुम सर्वत्र घूम-फिर कर चारों ओर तक्षशिला संस्कार के धाम के उत्सव का सबको निमन्त्रण दे आओ। सब के आह्वान के लिए मैंने विशिष्ट सन्देश प्रस्तुत किया है जिसे सबको पहुंचा दो। और श्रृंगारदेवी! तुम्हारे सिर पर भी उत्तरदायित्व आनेवाला है। यहाँ स्थानीय उत्सव की समस्त व्यवस्था तुम्हीं को करनी पड़ेगी। वीजक कल सिन्धु सौवीर जाने वाला है। उसके लौटने तक अपना संस्कारोत्सव भी आ जाएगा। यवनेश्वर के पाताल नगर छोड़कर जाने पर ही हमारी अन्य योजंना बनेगी। अब तुम दोनों जाओ, मैंने तो तुम्हें केवल यहाँ के वातावरण की बात कही है।'

दोनों ने आचार्य को नमन किया।

नभस्थली में विचरण करते हुए निशापति ने यह दृश्य देखा और अनंग को तिरस्कृत करने वाले दोनों युवकों की प्रणय की विरल कथा कहने के लिए रजनीश अपनी पत्नी रोहिणी के सन्निकट पहुंचने के लिए दौड़ा।

उसने अपनी पत्नी रोहिणी के कानों में जाकर कहा : 'आज तो तक्षशिला में मुझे देखकर प्रेम की कलियाँ संकुचित होकर रह गयीं, ऐसी घटना देखी है मैंने।'

रोहिणी ने विहँसते वदन कहा : 'वह तो तक्षशिला की भूमि है जहाँ पर प्रेम हिमाचल के समान उत्तुंग है और दुर्लघनीय है। सस्ते स्नेह की सस्ती स्नेहिल वीथिकाएँ इस विद्याधाम में कैसे रह सकती हैं।'

३५

चन्द्रगुप्त अग्रगामी बना

चन्द्रगुप्त पर्वतेश्वरों को मिलने गया था, वीजक सिन्धु सौवीर की यात्रा पर था, और यहाँ आचार्य ने तक्षशिला में विद्याधाम में उत्सव सज्जा आरम्भ कर दी। यवनेश्वर के आक्रमण वृत्तान्त सुनकर जो तक्षशिला विद्याधाम से चले गए थे, वे अब पुनः लौटने लगे थे। थोड़े समय के पश्चात् तो विद्याधाम कल्लोलमय ही हो जाने वाला था, आचार्य जिस कार्य को करने जा रहे थे उससे पूर्व इस कार्य का, संस्कार धाम का पुनर्जीवन आवश्यक था। इसी निमित्त से समस्त पर्वतेश्वर एकत्र हो सकते थे। क्योंकि अभी तक यवन सैनिक इस भू-भाग में उपस्थित थे। क्षत्रप-यवनेश्वर के नियुक्त क्षत्रप भी अभी तक यहीं थे। ये सर्वत्र देखभाल कर रहे थे। संस्कार धाम में सारे पर्वतेश्वर इसी निमित्त आ सकते थे। और ऐसे प्रसंग पर ही आचार्य सब के साथ वार्तालाप करना चाहते थे। पर्वतेश्वरों के मनों में अभी यवनेश्वर अलक्षेन्द्र के प्रति महान् आदर भाव भरा था।

श्रृंगारदेवी और लतिका दोनों ही व्यवस्था-कार्य में संलग्न हो गयीं। वृक्ष, लता-वेलियाँ श्रृंगारित हो उठीं। यज्ञवेदिकाएँ बनने लगीं, मण्डप बँधने लगे थे। सर्वत्र यह समाचार व्याप्त हो गया था कि आचार्य विष्णुगुप्त तक्षशिला में महान् संस्कारोत्सव मनाने जा रहे हैं। फलतः चारों ओर से साधन सामग्रियों को वर्षा होने लगी। आचार्य संस्कार धाम को जागृत करके यवनेश्वर की सर्जित वायु को उड़ा रहे थे।

आचार्य को त्वरा थी, किन्तु अभी तक चन्द्रगुप्त लौटा न था। और न ही वीजक ही आया था वापस। आचार्य की योजना थी यवनेश्वर के भारतीय समुद्रतट से प्रस्थान करते ही इस प्रदेश में अवशिष्ट यवनेश्वर के सम्पूर्ण अवशेषों की परिसमाप्ति हो जाए। और वे इसी दृष्टि बिन्दु से सावधानी से आगे बढ़ रहे थे।

आचार्य को, केवल खड़े किये गये वे महान् कीर्तिस्तम्भ ही सुरक्षा के योग्य लग रहे थे। इस स्थल से ही पौरव के पराक्रम से बुझकर यवनेश्वर को पीछे लौट जाने की आवश्यकता की अनुभूति

हुई थी। आचार्य की यह कामना थी कि किसी भी प्रकार से इस गौरव गाथा के प्रतीक रूप में ऐसा उत्सव प्रतिवर्ष मनाया जाता रहे।

आचार्य को लग रहा था कि समय तो बहुत बीत गया है किन्तु अभी तक कोई नहीं आया है। एक दिन आचार्य को समाचार मिला कि यवनेश्वर पाताल नगर छोड़कर चल पड़ा है। वह पश्चिमी समुद्र के अन्तर्गत एक छोटे से द्वीप में कुछ समय तक रहकर, अपने नौकादल के साथ आगे बढ़ रहा है। आचार्य तो इसी समाचार की प्रतीक्षा कर रहे थे।

इसके कुछ समय बाद वीजक भी आ पहुंचा। इसने आते ही जो समाचार दिए, इनसे आचार्य के हृदय को बड़ा सदमा पहुंचा। स्थान-स्थान पर ठेठ पाताल नगर तक एक ही बात, एक ही हवा, एक ही बुद्धि थी—संघर्ष-युद्ध। शूरता से लड़ना, किन्तु पीछे कदम न हटाना, पराजय संवरण की अपेक्षा मर मिट जाना, तो भी विजयश्री यवनेश्वर को ही प्राप्त होती गयी। आन्तरिक कलह के कारण कोई भी एक न हो पाया था। और संस्कारवश, देश-प्रेमवश किसी से बिना लड़े भी न रहा गया था।

आचार्य देव तो प्रबल केन्द्रीय शासन के अभाववश देश की इस दशा को देखकर, मन ही मन में कुछ विचार कर रहे थे, इनके अन्तस्तल पर सबल केन्द्रीय शासन सत्ता के जलधर मँडराने लगे थे।

सिन्धु सौवीर के ब्राह्मण प्रदेश की घटनाएँ सुनकर तो आचार्य का रोम-रोम खड़ा हो गया। इसमें उन्हें देश के पतन की पराकाष्ठा दीख रही थी।

थोड़ा समय बीता था कि चन्द्रगुप्त भी आ पहुंचा। अब उत्सव की सज्जाएँ पूर्णरूपेण होने लगीं। इस उत्सव में समस्त पर्वतेश्वर भाग लेने वाले थे। आचार्य ने इनमें नूतन स्वप्नों का संसार बसाने की अनुकूल स्थिति से लाभ उठाने की योजना घड़ी थी अति शीघ्रतावश। ये पर्वतेश्वर स्वप्नों को समझेंगे या नहीं इस विषय में आचार्य को शंका बनी थी। तो भी स्थान-स्थान के पर्वतेश्वर आए, आम्भिनरेश आया, अभिसारराज आया, शशिगुप्त आया, अलक्षेन्द्र के प्रतिबिम्ब के समान इसने अधिकतर भू-भाग को हस्तगत कर लिया था। एक समय तो अलक्षेन्द्र के विरुद्ध उठे हुए स्थानीय संघर्ष को इसने यवनेश्वर की

सैनिक सहायता से विध्वस्त कर दिया था। तब से यह महान् बन गया था। अभिसार नरेश भी पौरव की मित्रता को त्यागकर, यवनेश्वर की कृपा से महत्त्वाकाँक्षा को मूर्तिमन्त बना चुका था। उसका गर्व उसके मन में आनन्द की धारा से भर रहा था और आम्भि अपने मन में मग्न था। वह सबको स्वाधीन करने के स्वप्न देख रहा था, उसे सप्त-सिन्धु प्रदेश के स्वामी बनने की धुन सवार थी। वह इस बात की प्रतीक्षा में था कि फिलिप को इस प्रदेश से कैसे विदा किया जाये? पौरव, लघु पौरव, पौरव का राजकुमार मलयकेतु, सौमूति का उशनस्, सभी आए थे, ये सभी स्वयं को तक्षशिला का संरक्षक भी मानते थे और शिष्य भी। आचार्य ने अनुभव किया कि वैसे तो ये सब साथ आये हैं, परन्तु इनके मन एक नहीं हैं। प्रत्येक अपनी अपनी महत्ता में दबे पड़े थे। आचार्य को इसमें भी अपना मार्ग सूझा। इन्होंने मगध राज की चर्चा आरम्भ करके फिलिप के विषय में उसकी भावना प्रकट करने का निर्णय किया। इन्हें विश्वास था कि इनमें से एक भी पर्वतेश्वर इस जोखिम में पड़ना नहीं चाहेगा।

ऐसे समय में स्वतः ही चन्द्रगुप्त को आगे बढ़ने का अवसर मिल रहा था। इसे अग्रणीपद एक बार प्रतिष्ठित किया जा सका तो, भविष्य में भी यह पद इसे प्राप्त होता ही रहेगा।

महान् मण्डप में पर्वतेश्वर आये। चन्द्रगुप्त ने उनका सत्कार किया, वे सभी मण्डप में सिंहराज के समान सीना ताने बैठे थे। आचार्य ने उन्हें तक्षशिला की बातें सुनाने के लिए बुलाया था। इस बात का सब को ज्ञान था। सब के सब बैठे-बैठे आचार्य की प्रतीक्षा कर रहे थे।

थोड़ी देर में आचार्य आये। उनकी मुखमुद्रा, तेजस्विता, प्रदर्शन एवं वेशभूषा सबसे भिन्न थी। इनकी सुदीर्घ शिखा उनके कंधों पर पड़ी थी लहराती हुई। इस शिखा ने इतिहास का सर्जन किया था। इस उन्मुक्त शिखा को देखकर पर्वतेश्वर परस्पर वार्तालाप करने लगे। आचार्य को मगध छोड़कर भागना पड़ा था, इस बात का ध्यान सबको आ गया कि आचार्य की यह मुक्त शिखा तभी बँधेगी जब नन्द निकन्दन हो जाएगा। इस बात को इन्होंने तरंगी कल्पना कहा था और हँसी में उड़ा दिया था। परन्तु अब सब के सब मगध राज्य से डरने

लगे थे। जैसे ही अलक्षेन्द्र वापिस लौटा वैसे ही इन्हें मगध भय लगने लगा था। उस पर भी यह बात सुनने में आ रही थी कि मगध की सेनाएँ तक्षशिला की ओर अग्रसर होने जा रही हैं। सब के सब पर्वतेश्वर उत्सुक थे कि अब आचार्य मगध के विषय में क्या कहते हैं?

आचार्य के पधारते ही सबने उन्हें सादर नमन किया, पुनः आचार्य अपने आसन पर आसीन हो गए। इनके दक्षिण पार्श्व में थोड़ा-सा पीछे हटकर चन्द्रगुप्त ने अपना आसन लिया। समस्त पर्वतेश्वर चन्द्रगुप्त की ओर सशंक दृष्टि से देख रहे थे, अभी तक चन्द्रगुप्त अलक्षेन्द्र का अपराधी लग रहा था।

वीजक भी वहाँ बैठा था। श्रृंगारदेवी एवं लतिका भी पृष्ठ भाग में बैठी थीं। सब के मन में इन दोनों स्त्रियों के विषय में परिचय प्राप्त करने की उत्सुकता जागृत हो गई। आचार्य थोड़ी देर शान्त रहे, फिर उन्होंने सभी पर्वतेश्वरों के ऊपर एक दृष्टिपात किया और यह भी देख लिया कि वहाँ पर पर्वतेश्वरों के सिवाय और कोई नहीं है। पुनः उन्होंने दृढ़, मन्द, शान्त, निर्मल एवं स्पष्ट स्वर में कहना आरम्भ किया, सब शान्तिपूर्वक आचार्य की बात सुनने में तल्लीन थे, आचार्य की बात तो सर्वथा नवीन थी।

'तक्षशिला विद्यालय का वातावरण कुछ समय तक विक्षुब्ध रहा।' आचार्य ने कहा: 'अब इसमें नूतन प्राण आने लगे हैं, यवनेश्वर यहाँ आया, और समस्त पर्वतेश्वरों की परीक्षा हो गई। देखते-देखते यवनेश्वर विजयी बन गया, उसने अपनी कीर्ति ध्वजा फहरा दी, और अब जा चुका है, किन्तु जिसके नाम से वह भयभीत होकर लौटा है, ऐसा सुनने में आया है कि उस मगध सम्राट् महा पद्मनन्द की दृष्टि अब यहाँ गड़ी है।' आचार्य कुछ क्षण मौन रहे फिर बोले :

'तक्षशिला विद्याधाम से जिन्हें प्रेम हो, उनकी आज यह नवीन कसौटी आ रही है, सब संगठित हों तो वह अवरुद्ध हो सकता है, उसे आह्वान दिया जा सकता है, परन्तु यह तभी सम्भव है जब सब संगठित हों, अन्यथा एक एक करके तो सभी विनष्ट हो जाएंगे, यवनेश्वर के साथ भी यही हुआ था। मैं मगध जाकर आया हूँ, पाटलिपुत्र में रह आया हूँ, वस्तुतः तक्षशिला के संस्कारधाम का संरक्षण

तो मगध साम्राज्य को ही करना है, यवन इतना यवन न था जितना यवन यह है। मगध में नापित राज्य है, वहाँ बर्बरकों का आधिपत्य है, वहाँ पर असंस्कृतों की सत्ता है, वहाँ विद्वान् ब्राह्मणों का मूल्य तीन कार्षापण है। विद्या की तो कोई कीमत ही नहीं है, हिरण्य-सुवर्ण ने विद्या को मार भगाया है। सुवर्ण के सम्मुख सरस्वती बिक रही है। प्रजा उससे संत्रस्त हो गई है, परन्तु विवश प्रजा बलवान् महा पद्मनन्द के सामने कुछ भी नहीं कर सकती, महा पद्मनन्द को इसी समय रोका जा सकता है, फिर नहीं, उसे नहीं रोक पाओगे तो तक्षशिला को भी नहीं बचा सकोगे, नहीं तो यहाँ पर भी बर्बरकों की सत्ता स्थापित हो जाएगी, हिरण्य का वर्चस्व चमकने लगेगा, मगध का राज्य होगा। ब्राह्मण, विद्याधाम, संस्कार एवं आर्यत्व का विनाश हो जाएगा, आप पर्वतेश्वर एक सूत्र में बँध जाएँ, इसी हेतु से मैंने यह चर्चा चलाई थी। अब आप इसका प्रत्युत्तर दीजिए, जिस से आपकी शान-शोभा में वृद्धि हो। कहिये अब आपकी बारी है।'

पर्वतेश्वर एकत्र होते हैं कि नहीं इसी की परीक्षा के लिए आचार्य ने मगध की चर्चा की थी। फिलिप के विषय में आचार्य ने एक भी बात नहीं छेड़ी।

'यह कार्य तो आम्भिराज का है, वे हमारा नेतृत्व करें तो हम इनका अनुसरण करने के लिए प्रस्तुत हैं।' शशिगुप्त ने कहा और वह आम्भिराज की ओर देखने लगा।

अभिसार-राज ने कहा : 'ठीक है, इस समय तो आम्भिराज ही हमारा पथ-प्रदर्शन करने की क्षमता रखते हैं।'

आम्भिराज बोला : 'आप सभी जानते हैं कि हमारा नेतृत्व कौन कर सकता है? फिर भी आप मुझे अगुवा क्यों बनाते हैं, मैं इसका कारण जानता हूँ!'

'क्यों बनाना चाहते हैं?'

'मुझे विनष्ट करने के लिए, अभी तक तक्षशिला विद्याधाम शेष है, यह बात आप लोगों ने बहुत ठीक पसन्द की!'

'आम्भिराज! आप हमारा पथ-प्रदर्शन करने की क्षमता रखते हैं। यह आपकी इच्छा है कि आप ऐसा करें या न करें।' पौरव ने कहा।

'पौरवराज! सभी पर्वतेश्वरों में आपकी गुण-गाथा गायी जा रही

है। अलक्षेन्द्र ने भी आपकी महत्ता मानी है। इस बात ने हमारे मनों में कोई द्वेष और घृणा नहीं है। किन्तु ऐसे में आप ही अग्रसर हों तो बहुत अच्छा हो। आप मगध के अति निकट भी है। आपको सहकार देने के लिए सभी प्रस्तुत हैं। आपकी गजसेना महान् है, विपाशातट पर ही यवनेश्वर के कीर्तिस्तम्भ खड़े हैं, अलक्षेन्द्र वहां से लौट गया है तो वहीं से आगे बढ़िये!'

यह सुनकर पौरव कुछ न बोला। परन्तु उसका पुत्र मलयकेतु प्रत्युत्तर देने के लिए बहुत उत्सुक हो रहा था। पौरव उसे मौन बनाए था। थोड़े क्षण कोई कुछ न बोला, सर्वत्र स्तब्धता छायी रही।

आचार्य पर्वतेश्वरों की बात समझ गए, प्रत्यक्ष में वे एक दूसरे को महान् कहते थे, पर मन में स्वयं को महान् मानते थे।

सब एक दूसरे को बना रहे थे। जो भी अग्रगामिता करे, जब तक उसका काम तमाम न हो जाए, तब ये सब मौन रहकर प्रेक्षण करते रहना चाहते थे। जो दृष्टिकोण इन्होंने यवनेश्वर के सामने अपनाया था, आज भी वही दृष्टिकोण था, आचार्य को एक सुदृढ़ निर्णय चाहिए था। परन्तु ये सभी तो सम्प्रति निर्जीव पुतले मात्र थे! आचार्य ने तुरन्त ही निश्चय किया कि इन सबको एक तन्त्र शासन में रहना चाहिए।

परन्तु इसी बीच में पौरव-पुत्र मलयकेतु उठ खड़ा हो गया। यह भी अपने पिता के समान ही विशाल वक्ष, सशक्त और ऊँचा योद्धा था। आचार्य को इसमें दृढ़ता दीखी। मलयकेतु ने स्थिर स्वर में कहना आरम्भ किया : 'आम्भिराज! हमने यवन को सत्कार प्रदान किया, इससे हम क्षुद्र बन गए हैं। क्या अभी और कसर रह गई है जो मगध के नापित की चरण सेवा करने की ठानी है। मैं तो आप से स्पष्ट कह देना चाहता हूँ!'

'हाँ हाँ, कहो कहो, तुम्हीं कह सकते हो।' आम्भिनरेश ने कहा। अभिसार, सौमूति और शशिगुप्त ने भी सिर हिलाकर आम्भि नरेश की स्वीकृति में स्वर मिलाया : 'कहो, कहो, मलयकेतु कहो!'

'मलय केतु !' पौरवेश्वर ने ऊँचे स्वर में कहा : 'जो कहीं भी नहीं खुलते वे जान भी क्या सकते हैं? तुम मौन रहो आचार्यदेव तो सब जानते हैं, इन्हीं को बोलने दो!'

'अच्छी बात है, आचार्यदेव बोलें तो इससे श्रेष्ठ और क्या है?'

आचार्य को इन सब में क्षुद्रता दीखी, परन्तु मलयकेतु में महत्ता अधिष्ठित थी, उन्हें यह शुभ अवसर मिला एक को दूसरे के सामने खड़ा करने का। वे बोले—'पौरवराज पूर्व भू-प्रदेश में अग्रणी हैं, और हमें जाना भी तो पूर्व में ही है।'

'बस, बस,' अभिसार नरेश बोलता हुआ सुनाई पड़ा। वह आम्भिराज के सामने देख रहा था।

'ठीक है, आचार्यदेव ने यथोचित कहा है। हमारा पथप्रदर्शन कर सकते हैं पौरवराज!'

'इसी में शोभा है!' शशिगुप्त बोला। 'आचार्य की वाणी यथार्थ है। पौरवराज पथप्रदर्शन करें। निश्चय कर लीजिए, हमें कब तक प्रस्थान कर देना होगा?'

'किन्तु प्रस्थान करने से पूर्व ही हमें एक बात का निर्णय कर लेना होगा।' आचार्य ने शीघ्रता में कहा : 'यहाँ पर अभी तक यवनेश्वर का अपना क्षत्रप है। आम्भिराज उसे मिला लें। यह कैसे सम्भव है कि वह हमारे पृष्ठ भाग में रहें और हम आगे बढ़ें? हमें तो उसे लेकर आगे बढ़ने में ही लाभ है। इसलिए आम्भिराज यह बात भलीभाँति समझ लें। प्रथम यह बात होगी, पीछे और बात।'

'किन्तु यह मेरा कार्य नहीं है।' आम्भिराज ने त्वरा में कहा। 'यह कार्य तो अभिसारराज का है।'

'यह कार्य मेरा भी नहीं है, शशिगुप्त का है। ये उसके साथ बहुत समय तक युद्धक्षेत्र के शिविर में रहे हैं। अभिसारराज ने कहा।'

'वस्तुतः देखा जाए तो यह कार्य पौरवराज का ही है। इनके सिवाय कोई क्षत्रप को नहीं समझा सकेंगे।'

आचार्य बोले : 'अच्छा तो देखो, इस परिस्थिति में यह कार्य आप में एक का भी नहीं है। आप लोग प्रतीक्षा करते रहें, यही उपयुक्त है। अत एव सम्प्रति तो वह कार्य मेरा है और इस चन्द्रगुप्त का है।'

इसे सुनकर किसी ने कुछ भी न कहा। चन्द्रगुप्त यवनराज अलक्षेन्द्र के शिविर में रहा है, वह फिलिप को अधिकाधिक जानता था। परन्तु वह यवनराज का अपराधी माना जाता रहा है। आम्भिनरेश ने सशंक दृष्टि से चन्द्रगुप्त की ओर देखा। इसके साथ ही सभी उसी

को घूर रहे थे। सबके मन में एक बात आ रही थी कि अभी अभी यह अग्रसर होना चाहे तो बड़ी अच्छी बात हो। अलक्षेन्द्र अभी बहुत दूर न पहुंचा था। उसके यवन क्षत्रप यहाँ अभी तक विद्यमान थे। इसीलिए चन्द्रगुप्त का खड़ा रहना सबको अभीष्ट लग रहा था। परन्तु इस कार्य में वे लोग स्वयं अग्रणी बनना चाहते थे। यह बात आचार्य ने देखी, पुनः उन्होंने चन्द्रगुप्त की ओर सार्थक दृष्टिपात किया कि चन्द्रगुप्त खड़ा हो गया।

३६

चन्द्रगुप्त अग्रणी बनता है

यद्यपि यवनेश्वर चला गया था, परन्तु ये पर्वतेश्वर उसकी छायामात्र से भयभीत हो रहे थे, अभी तक फिलिप यहीं पर था। गान्धार देश में अलक्षेन्द्र का श्वसुर डटा था। सिन्धु सौवीर में क्षत्रिय मीशन था। यवन सेना थी, अलक्षेन्द्र ने यवनों के नगर भी बसाये थे, यवनेश्वर बहुत दूर न गया था। अतः किसी भी पर्वतेश्वर में खुल्लमखुल्ला आगे आने का साहस न था। चन्द्रगुप्त को सभी सशंक दृष्टि से निहार रहे थे। ऐसे अवसर पर इसके सहयोगी को मूर्ख बन जाना पड़ेगा। अतः फिलिप की बात आते ही सब चौकन्ने हो गये।

चन्द्रगुप्त ने अपनी बात कहना आरम्भ किया।

'पर्वतेश्वरो! यवनराज विदा हो चुका है परन्तु उसकी सत्ता अभी तक यहाँ वर्तमान है। उसके प्रतिनिधि यहाँ पर अधिष्ठित हैं, उन्हीं से पूछकर आप पानी पी सकते हैं। ठीक है न?'

'यवनराज से हमारी मैत्री है, हम उससे वचनभंग नहीं कर सकते।' पौरव ने कहा।

'आम्भिनरेश आपका क्या अभिप्राय है?'

'मेरा भी अभिप्राय यही है?'

'मैं यही कहना चाहता हूँ कि मैत्री हुई तो हुई!' अभिसार बोला।

'आपको पता है कि यवनराज ने सिन्धु सौवीर में क्या-क्या किया है?'

'नहीं तो। क्या-क्या किया है?'

'तुम सुनकर कोप कर जाओगे। तुम में से कोई भी फिलिप से सामना न करना चाहे तो मैं एकाकी ही उसका सामना करूँगा। परन्तु एक काम तो आप करेंगे न? अथवा आप से यह भी न होगा? यवनराज का शासन अब सप्तसिन्धु में नहीं रहना चाहिए। यह है हमारा निवेदन। आचार्य देव यही कहते हैं। अलक्षेन्द्र ने जो कुछ किया है, वही कल तक्षशिला में करेगा, ब्रह्मावर्त में करेगा, इससे उसे यहां से हटाना नहीं चाहिए? हम सबसे अधिक शूरवीर तो वह नग्न योगीन्द्र निकला। आम्भिराज! क्या है उसका नाम? आपकी नगरी में निवासी उस योगीन्द्र ने पश्चिमी सागर के द्वीप के निकट एक चमत्कार बताया। पता है उसने क्या चमत्कार बताया?'

चन्द्रगुप्त की प्रकट बातें सुनकर सब भड़क गए। ऐसी ही व्यवस्था हो तो इनमें एक भी पर्वतेश्वर अग्रणी बनने के लिए प्रस्तुत न था। चन्द्रगुप्त चाहे एकाकी कुछ भी करे। किन्तु चन्द्रगुप्त ने तो अपनी बात अत्यन्त दृढ़ता से प्रस्तुत की थी, इसी ढंग से ये पर्वतेश्वर आगे-पीछे हो सकते थे। ये लोग आगे पीछे हों तो तुरन्त ही मगध की बात प्रस्तुत करके स्वयं अग्रणी बन जाओ, इस राजनीति की रूपरेखा आचार्य ने ही रखी थी। चन्द्रगुप्त इसी प्रकार बोल रहा था।

'नहीं।'

आम्भिराज ने निर्बल सा प्रत्युत्तर दिया।

'अच्छा तो सुनिये। जब यवनराज अलक्षेन्द्र ब्राह्मण प्रदेश में पहुंचा तो वहाँ पर एक व्यक्ति ऐसा न था कि जो पथ से पीछे हटना चाहता हो। हार मानता हो, आचार्यदेव के समान ही ब्राह्मण थे वहाँ पर। ब्राह्मणों ने आदेश दिया कि सर्वस्व होम दो। देश भले ही पराधीन हो जाए, किन्तु देह पराधीन न हो। होम दो स्वयं को। और सबके सब खप गए, नामशेष रह गए। अतः सहस्र की संख्या में इन ब्राह्मणों को.....सुनो और समझो पर्वतेश्वरो! आप जिनके रक्षक होने का दावा प्रस्तुत करते हो, जिनका एक ही दोष था, देशप्रेम, उन ब्राह्मणों को* यवनराज ने वृक्षों पर लटकवाया और जिनके शवों को? कौवे, चील और गीधों ने चोंचें मार-मार कर कुरेद-कुरेद कर खाया। उनके

*V. Smith

अस्थिपंजरों को यह देखकर....आया है। यह रहा देखकर आया हुआ वीजक!......यह वहाँ पर था। यह आपको सब सुनाएगा।'

वीजक तुरन्त उठा। उसने दोनों हाथ जोड़कर कहा : 'मैंने अपनी आँखों से वह दृश्य देखा है पर्वतेश्वरो!'

'सचमुच? ऐसा नहीं हो सकता!'

'हो तो नहीं सकता, और होना भी नहीं चाहिए। किन्तु हुआ है। इसका आप कर ही क्या सकते हैं?'

चन्द्रगुप्त बोला : 'अब आप क्या कहना चाहते हैं? मेरा उत्तर तो स्पष्ट है। आप में से कोई न आना चाहे तो न आए। इस समय आप लोग न आएँ तो इसी में लाभ है। मैं एकाकी आगे बढ़ूँगा। परन्तु एक बात तो आप लोग करें कि मैं जिसे निकालना चाहूँ निकाल दूँ, और आप कुछ न बोलें। आप लोगों से तो वह नग्न योगीन्द्र कहीं अच्छा था। जिसे यवन कल्याण कहते हैं। क्यों आम्भिराज! आपने कितना तनतोड़ श्रम करके उन्हें प्राप्त किया था, यवनराज की ज्ञान-पिपासा शान्त करने के लिए? और पुनः उन्हें आपने यवनराज के साथ भेज दिया। उन्हीं की यह बात है। जब उन्हें पता चला तो वे पश्चिम समुद्र के एक द्वीप में ही कूद पड़े, आगे चलने को प्रस्तुत न हुए, और वे वहीं जल समाधि, नहीं अग्नि-समाधि ले ली। प्रायश्चित्त किया। किस बात का प्रायश्चित्त किया। ऐसे यवनों को सहयोग देने का। उनके अपने योगीन्द्रों ने कहा था अलक्षेन्द्र से कि ज्ञान-किसी के शस्त्रों से दो टूक नहीं होता, किसी की सत्ता के समक्ष झुकता नहीं है। हाँ धूल में हमारे चरणों में बैठने की आकाँक्षा हो तो वह योग मिल सकता है। परन्तु यह योगीन्द्र स्वयं ही यवनराज की ज्ञान-पिपासा शान्ति के लिए उसके पास गया था। जिसका इसे प्रायश्चित्त करना पड़ा। पूर्वोक्त प्रकार से। जैसे कुछ भी न हुआ हो, ऐसे सबके देखते-देखते उन्होंने देह को धूल में मिला दिया। यवन देखते रह गये पर वे रोक न सके। आप लोग भले की मित्रता निभावें, शान्त और तटस्थ रहकर, करने वाले कुछ भी करें, इतना तो आप कर ही सकते हैं। इसमें आपको कोई भय विभीषिका भी नहीं है।'

पर्वतेश्वर विचारों में डूब गये। यह तो आचार्य इन्हें विद्रोह के लिए प्रेरित कर रहे थे। ये विद्रोह करना चाहते थे। इनमें से प्रत्येक

यही चाहता था कि उसका भाग किस प्रकार बढ़े और सुरक्षित रहे। परन्तु यह तो व्यर्थ का विद्रोह था। उनमें से प्रत्येक का सिर निषेधात्मक रूप में हिल पड़ा।

'फ़िलिप अधिक जागृत है। उसके पास यावनी पदाति सेना है। अश्वसेना है!'

'आप लोगों से अधिक मैं जानता हूँ। पर्वतेश्वरो! मैं अलक्षेन्द्र के शिविर में रहा हूँ। इसके शिविर में भी पदाति अश्वसेना को तिरस्कृत करती है और अश्वसेना पदाति को, कारण यह है कि दोनों पृथक्-पृथक् विभाग के हैं। इन्हें परस्पर भिड़ाना है। उसमें आपके नाम की गन्ध नहीं होगी।'

'ऐसा हो तो भले ही भड़का दें,' आम्भिराज ने कहा। अलक्षेन्द्र के पाताल नगर छोड़कर जाने से ही इसमें साहस का संचार हुआ। फिलिप को आह्वान देकर, उसका परिणाम सहने के लिए यह प्रस्तुत था। उसे विजयश्री मिलती तो भूभाग इसे मिलता। अतः आम्भिराज इतना कहकर पौरव की ओर देखने लगा।

'किन्तु आम्भिराज! भड़काव आपके यहाँ से होगा प्रथम उत्तर आपको ही देना होगा!' शशिगुप्त बोला।

इसमें उत्तर ही क्या देना है। आम्भि ने कहा : 'हमें क्या पता है कि ये अन्दर-अन्दर लड़ रहे हैं? हम तो अपने राजमहालयों में निश्चिन्त होकर नींद लेंगे।'

'मँहगा पड़ेगा,' 'आम्भिराज!' अभिसार ने कहा : 'आगे अलक्षेन्द्र है!'

'तो आप अपने यहाँ से भड़का दें।'

'मैं क्यों सुलगाऊं अपने यहां से? मुझे अलक्षेन्द्र से क्या नहीं मिला! किन्तु आप के यहां से सुलगे तो मैं यह व्यक्त कर सकता हूँ कि मुझे किसी बात का ज्ञान नहीं है परन्तु विजय मिले, और कुछ मिले, उसमें सबका समान भाग रहेगा!'

'हमें स्वीकार है।' आम्भिराज ने कहा। आचार्य विचार करते रहे कि ये तो अन्दर-अन्दर पारस्परिक द्वेष से भरे पड़े हैं। आचार्य ने घूमते-फिरते कहा :

'पर्वतेश्वरो! यह सर्वोत्तम है कि अभी आप लोग इसमें सम्मिलित

न हों सम्प्रति तो अग्रणी चन्द्रगुप्त हो जाएगा! इसी का नाम आयेगा, आप लोगों का नहीं।'

'और यहाँ की बात हमें आगे बढ़ानी है, यह बात आप अभी न उठाएँ। अभी तो हमें मगध की ओर प्रस्थान करना है। यह बात तो इस समय ही रही, आगे आप लोग पुनः निश्चय कर लेना, अपने अग्रणी के लिए।'

'तब की बात तब देखी जाएगी। पौरव ने कहा : 'यह ठीक है।' आम्भिनरेश बोला। उसे भय था कि कहीं पौरव अग्रणी न हो जाए।

'तो सम्प्रति अग्रणी चन्द्रगुप्त रहा।' आचार्य ने कहा : 'आप लोग इसकी विजय कामना करें। और इसके साथ-साथ मगध साम्राज्य के विरुद्ध युद्ध की रणध्वजा भी यहां लहरा दो। ऐसा मुहूर्त और नहीं मिलेगा फिर! यवन क्षत्रप को समझाने की बात कर ली जाएगी कभी।'

वायु मण्डल चन्द्रगुप्त के नाम की घोषणा से प्रतिध्वनित हो उठा।

३७

रण-ध्वजा फहरी

आज तो पर्वतेश्वर चन्द्रगुप्त को अग्रणी रूप में स्वीकार कर लेंगे, बाद में वे फिर भी इसी को अपना अग्रणी मान लेंगे। वे फिलिप की बात से प्रथम तो पर्वतेश्वर भड़के, परन्तु आचार्य की मगधारोहण की बात ने इसे शान्त कर दिया।

तत्काल तो ये पर्वतेश्वर भड़के थे! अन्त में इन्होंने चन्द्रगुप्त को अग्रणी रूप में स्वीकृति प्रदान कर दी। अग्रणी रूप में चन्द्रगुप्त की सफलता पर आचार्य को तनिक भी सन्देह न था अब। उन्होंने यह भी देख लिया था कि ये पर्वतेश्वर अभी तक अन्तर्द्वेष से मरे पड़े हैं। ये एक नहीं हो सकते। ये किसी को अग्रणी के रूप में मान भी लेंगे तो, तो भी इनके मनों में व्यर्थ कामना तो बनी ही रहेगी। इतनी बात हो जाये तो फिर इन पर्वतेश्वरों के विषय में सोच लिया जाएगा कि इन्हें ठिकाने पर कैसे लगाना चाहिए! अभी तो इन लोगों ने चन्द्रगुप्त को अग्रणी रूप में मान ही लिया है, इतना क्या कम है?

यह बात आचार्य की सूक्ष्म दृष्टि का ज्वलन्त उदाहरण थी।

आचार्य मैदान में उतरे। एक महान् कीर्तिस्तम्भ खड़ा किया गया। इसी पर रणकेतु फरक रहा था। आचार्य, चन्द्रगुप्त, शृंगारदेवी एवं पर्वतेश्वर सबके सब यहाँ रणकेतु के निकट एकत्र हो गए और मगध के विरोध में ही यह ध्वजा फहरा रही थी। किन्तु इसकी लहरों में से यवननाशिनी ध्वनि निकल रही थी।

आचार्य के हृदय में इन पारस्परिक द्वेषी पर्वतेश्वरों को संगठित कराने की प्रेरणा को सबलता प्रदान करने वाली भी यही पताका थी।

वायु में ध्वजा लहरा रही थी। उस ध्वजा के चीनांशुक के ऊपर स्वर्णिल, रूपिल, मनोहर मयूर नाच रहा था। चन्द्रगुप्त मौर्य की पुरातन वंश-परम्परा का यह प्रतीक था। आज आचार्य की कृपा से यह सजीव बन रहा था।

इनके मन से तो आज समस्त देश-भर में सरस्वती विद्या की उपासना मुक्ति पा रही थी, इसके समुपासक पुनः निज विनष्ट गौरव को प्राप्त करें, इसी के लिए यह सब किया जा रहा था। महा पद्मनन्द के साम्राज्य में, हिरण्य के अतिरिक्त, रजत के अतिरिक्त, शासन के अतिरिक्त, अन्य सभी देश-संस्कारी बातें तुच्छ, दुर्बल और गौण मानी ज़ाती थीं, इनका कहीं कोई मूल्य न था। ये विद्याधाम, नन्दराज के लिए एक कौड़ी मूल्य के भी न थे। और विद्वान् तो उसकी अपनी प्रशंसा कराने के साधन थे। सारे मगध साम्राज्य में विद्या प्रतिबद्ध हो गई थी।

आज प्रथम-प्रथम आचार्य ने तक्षशिला संस्कृति-धाम में से विद्यावधू की मुक्ति की घोषणा की—जिस बेचारी को महा पद्मनन्द ने निज चेरी बना लिया था।

मयूर-ध्वजा कृषि-विकास के लिए संज्ञा निर्देशन थी। शिल्प, नृत्य, कला, संगीत—इन सभी का विकास इसी से होता था। और यह देश के वातावरण को विषाक्त करने वालों को वध्यता ही शिक्षा दे रही थी। आचार्य की आँखें इस फहराती ध्वजा पर टिकी थीं।

आचार्य ने पुनः चन्द्रगुप्त ही महान् विजय की महती घोषणा की।

पर्वतेश्वरों ने इस महती घोषणा को सुनकर प्रतिध्वनित किया : 'चन्द्रगुप्त ही जय हो!'

ठीक इसी समय आचार्य ने एक शीघ्रगामी अश्वारोही अपने सामने के आँगन में देखा। सब के मनों में अधीरता व्याप गई। सब सोचने लगे कौन है यह? क्या बात है? वे सभी लम्बी गर्दन किए, जिज्ञासा-भरी दृष्टि से आगन्तुक को देखते रहे। लगता था कि यह किसी आवश्यक कार्य से आ रहा था। अश्वारोही एकाकी था और शीघ्र आ रहा था।

सबके मन में यही प्रश्न उठ रहा था कि कौन होगा यह?

थोड़े ही क्षणों में ही अश्वारोही निकट आ पहुंचा। उसने शिरस्त्राण औढ़ा था, उसने निज-अश्व को भी अभेद्य बना रखा था—सुरक्षित कवच से। उसके दक्षिण पार्श्व में चमकती दुधारी करवाल लटक रही थी। यवन सैनिकों की ऐसी करवाल ही विशिष्ट निशानी थी। धनुष, भाला, पादत्राण, वक्षस्त्राण इत्यादि सभी आवश्यक यवन-सैनिक सज्जा से यह सुसज्जित था।

समस्त पर्वतेश्वरों के मन व्याकुलता से भर गए। यवनराज का समाचार लेकर कोई आया है? या कौन है? यह जानने की आतुरता सब में बसी थी।

अश्वारोही आया और वहीं रुक गया। वह रुकते ही घोड़े से कूद पड़ा। उसने अपने हथियार सम्भाले और पुनः आगे बढ़ा।

सबको आश्चर्य में डुबाते हुए उसने आचार्य को नमस्कार किया और वहीं खड़ा हो गया।

सारे पर्वतेश्वर मण्डलाकार खड़े हो गए। सबकी मुखाकृति आश्चर्यमयी बन गयी कि ऐसा कौन-सा यवन-योद्धा है, जो आचार्य को इतने भक्तिभाव से नमन कर रहा है? उसे देखने के लिए सबमें आतुरता झलक रही थी।

उसके शिरस्त्राण उतारते ही आचार्य चमत्कृत हो उठे। वे बोले:

'अरे! यह तो पुष्प उपसेनापति! मगध के! तुम यहाँ कहाँ से आ गए? और ठीक इसी समय?'

पर्वतेश्वरों के मनों में उत्सुकता जागृत हो रही थी कि अन्ततः यह है कौन? मगधराज का उपसेनापति हो तो, क्या मगध आक्रमण का समचार लेकर आया है? परन्तु यह तो आते ही आचार्य के चरणों में नतमस्तक हो गया है, अतः यह गुत्थी किसी से न सुलझी।

मगधराज के ससैन्य आगमन का समाचार जानने की इच्छा प्रत्येक आँख में उमड़ रही थी कि पुष्पगुप्त के नमन के पश्चात् आचार्य से निवेदन किया : 'भन्ते आचार्य! आपके पाटलिपुत्र से प्रस्थान करने के पश्चात् मगध-धरा इतनी उष्ण हो गई थी कि मुझे भी वहाँ से भाग आना पड़ा!'

'अच्छा तो तुम्हें भी वहाँ से भागकर ही आना पड़ा है न?'

'हाँ भन्ते आचार्यदेव! यही बात है। अब तो कोई भी व्यक्ति अमात्य राक्षस की निज-मुद्रा के बिना पाटलिपुत्र से बाहर नहीं आ सकता। उसके प्रणधिगण कण-कण के परिचय से विज्ञ हो गए हैं! मैं बड़ी कठिनता से यवन-सैनिक के वेष में वहाँ से निकल सका हूँ। राक्षस अमात्य ने उन मूर्ख राजकुमारों को अपना शिष्य बना लिया है। अत एव महाराज्ञी भी एकाकिनी हो गई हैं, उनके तक्षशिला के स्वप्न को राक्षस अमात्य ने छिन्न-भिन्न कर दिया है। ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि स्यात् मैं महादेवी के साथ वहाँ से निकल भी न पाता। फलतः मैं इसी ओर चल पड़ा। आप यहाँ मगध पर आक्रमण के लिए प्रस्तुत हो रहे हैं, यह बड़े आनन्द का समाचार है।' आपके ऊपर मगध ने आक्रमण करने का निश्चय किया है। अतः आप प्रथम आक्रमण करेंगे तो आपकी विजय निश्चित है—यों ही पड़े रहेंगे तो युद्ध हार जाएंगे। मैं यही कहने आया हूँ। उसकी नौ सहस्र बल वाली सेना सन्नद्ध हो रही है!

इस बात को सुनते ही समस्त पर्वतेश्वर चकित रह गए। आचार्य ने इस परिस्थिति से तुरन्त लाभ उठाते हुए कहा :

'पर्वतेश्वरो! मगध साम्राज्य के उपसेनापति पुष्पगुप्त अपने मित्र हैं। इनकी बात तो सुन ली है आपने? मगध सम्राट् इस ओर आगे बढ़ेगा। उसकी सेना सामान्य नहीं है। उसमें नौ हजार तो गज ही गज हैं!'

'हैं!' पर्वतेश्वरों के मुख से यह शब्द एक साथ निकल पड़ा : 'नौ सहस्र गजराज!......फिर अन्य सेना कितनी बड़ी होगी?'

'छः लाख पदाति सैन्य!' पुष्पगुप्त ने कहा : 'साथ में अस्सी सहस्र अश्व हैं!'

यह सुनकर पर्वतेश्वर एक दूसरे के सामने देखने लगे। इतनी बड़ी सेना की कल्पना तो इनके मस्तिष्क में भी न थी, भला पर्वतीय प्रदेश के लोग, जिन्हें पर्वतों से विभक्त प्रदेशों के एकत्र होने पर भी आपत्ति थी, इनके विचारों में चालीस-पचास सहस्त्र सेना तो अत्यधिक थी। ये आश्चर्य में डूब गए। और इतने सक्षम महाराज्य के साथ मल्लयुद्ध करने वाले आचार्य के लिए उनके हृदयों में सम्मान भर गया। चन्द्रगुप्त में भी इन्हें महत्ता के दर्शन होने लगे। आचार्य ने इनके नयनों की भाषा बाँची और वे आगे बढ़कर बोले—

'पर्वतेश्वरो! ये मगध के उप-सेनापति पुष्पगुप्त मगधराज्य के कण-कण को जानते हैं। ये अब अपने साथ हो गए हैं। इनका इसी क्षण में आगमन कोई सामान्य बात नहीं है। हमारे चन्द्रगुप्त का अग्रणी बनते ही मानो सेनापति पद के लिए ये भी आ गये हैं! यह देवी यहाँ पर खड़ी हैं....आचार्य ने श्रृंगारदेवी की ओर दृष्टि की।'

'अहो! आचार्य देव!' पुष्पगुप्त सेनापति बोल उठा : 'श्रृंगार तो यहाँ पर है, इसको ढूँढने के लिए तो राक्षस आकाश-पाताल एक कर रहा है पाटलिपुत्र में! श्रृंगार तो यहाँ आगई है। तू कैसे आई है, श्रृंगार, यहाँ तक?'

'धरातल पर चलकर आई हूँ, बड़े भैया! यह बात बड़ी लम्बी है।'

'यह देवी.....' आचार्य ने आगे कहा : 'इन उप-सेनापति पुष्पगुप्त की बहन है। इसीलिए अपनी विजय निश्चित है। पुनः एक बार हम सब को इस रण-ध्वजा को लहराने वाले की विजय घोषणा करनी चाहिए। बोलो : मगधराज चन्द्रगुप्त की जय!' आचार्य ने महान् भावी-निर्माण की ध्वनि-प्रतिध्वनित की।

'विजय! मगधराज की विजय!' सबने प्रतिशब्द गुंजरित किया।

आचार्य ने चन्द्रगुप्त के भविष्य-निर्माण की समस्त सज्जाएँ प्रस्तुत कीं, चन्द्रगुप्त आगे आकर बोला :

'पर्वतराजो! ऐसे नहीं-वास्तविक विजय तो इस ध्वनि से होगी बोलिए : महामात्य चाणक्य की विजय हो!'

'महामात्य चाणक्य की विजय हो!'

'जिस स्थल पर आज रण-ध्वजा फहराई है, उसी स्थल पर आज

मगध के उप-सेनापति पुष्पगुप्त पधार रहे हैं, यह अत्यन्त शुभ शकुन है।' चन्द्रगुप्त ने कहा।

'आइये, हम लोग सब के सब इस रण-ध्वजा की छाया में जल-सिंचन करें और प्रतीक्षा करें कि मगध से आचार्य की प्रतिज्ञा के अनुसार, जब तक नन्द-निकन्दन न होगा तब तक ये तीक्ष्णतर करवालें म्यान में न जाएंगी, और अपना रण-ध्वजोत्तोलन सफल न माना जाएगा। अब कहिए :'

'महामात्य चाणक्य की जय!'

'महामात्य चाणक्य की जय!'

'पर्वतेश्वर मलयकेतु की जय!' आचार्य ने कहा। इस विजय ध्वनि की प्रति-ध्वनि मन्द थी। पुनः सबने एक साथ उद्घोष उठाया : 'चन्द्रगुप्त मौर्य की विजय हो!'

किन्तु सबको एकता सूत्र में ग्रथित करने का महान् कार्य तो अभी शेष ही था। मगध की शक्तिशालिनी सेना के नाम से ही ये सबके सब पर्वतेश्वर भड़क उठे थे।

आचार्य ने सोचा कि इनके यहाँ से प्रस्थान करने से पूर्व ही इन्हें एकसूत्र में पिरोना चाहिए।

आचार्य ने एक पल भी न बिगाड़ते हुए कहा :

'पर्वतराजो, आपने जैसे यह रणध्वजा फहराई है, मगध को आह्वान दिया है, अपना सेनापति स्थापित किया है, अपना अग्रणी निर्वाचित कर लिया है, ऐसे ही अन्य कार्य भी इसी प्रकार एकताबद्ध होकर करने हैं। उनके लिए मंत्रणा भी हमें अभी कर लेनी चाहिए। और तब कहीं प्रस्थान करें।'

पवतेश्वर, आचार्य, चन्द्रगुप्त एवं शृंगारदेवी आदि सभी मण्डप की ओर चल पड़े।

यहाँ आकर सबके सब एक विशिष्ट शान्ति में बैठ गए।

आचार्य गम्भीर हो गए। वे विचारों में डूबे थे, वे शान्त मन्द स्वर में बोले : 'पर्वतेश्वरो! जो आप सबने चन्द्रगुप्त के सहायतार्थ निश्चय किया हो तो इससे पूर्व एक बात तो आप लोगों को और भी समझ लेनी उचित है कि यह युद्ध निरे मगध के लिए नहीं है। आपको तो स्वयं की रक्षा कि लिए भी तो अबेर-सबेर संग्राम करना ही होता।

आपने सेनापति पुष्पगुप्त की बात तो सुन ली है न? कैसे मगध ने सप्तसिन्धु प्रदेश पर आक्रमण की योजना बनाई है? अतः आपको यही समझना श्रेयस्कर होगा कि आप स्वयं की रक्षा के लिए संगठित हुए हैं।'

हम सब एकत्र होगये हैं, तो हमारी एकता किसी एक सर्वलाभदायक कारण से आबद्ध होनी चाहिए। तभी हमारी एकता निभ सकेगी। संसार में अर्थ-सत्ता सामान्य नहीं है। यदि मगधाक्रमण से हमें अर्थ-लाभ हो सका तो हम में उत्साह की न्यूनता नहीं रहेगी। एतदर्थ मेरी बातें सुनिए। मैं मगध में रहा करता था। पाटलिपुत्र में महा पद्मनन्द ने एक हिरण्य गुहा का निर्माण किया है। इस गुहा में उसने अपना सुवर्णकोष सुरक्षित रखा है, जानते हो वह कोष कितना है?'

पर्वतेश्वर सुवर्णकोष की बात सुनकर स्तम्भित हो उठे। इन्होंने महा पद्मनन्द के सुवर्ण-कोष के विषय में तो सुना ही था। और आचार्य की बात सुनकर तो इन्हें और भी चाव हुआ। वे एक साथ बोल पड़े : 'कितना है?' हमने तो सुना है कि बहुत सारा है!

'यह पुष्पगुप्त सेनापति आपको बताएँगे!'

'पर्वतेश्वरो!' सेनापति ने कहना आरम्भ किया : 'महा पद्मनन्द ने तो हिरण्यगुहा में सुवर्ण-इष्टिकाएँ ही चिनवा दी हैं! परन्तु उनकी वास्तविक संख्या-परिमाण का किसी को कोई ज्ञान नहीं है। परन्तु कोटानुकोटि सुवर्ण है, यह तो निश्चित है। यह भी मजे ही बात है कि सिवाय महा पद्मनन्द के उस गुहा को अन्य किसी ने नहीं देखा। गुहा के दोनों पार्श्वों में सुवर्ण-इष्टिकाएँ ही भरी पड़ी हैं, चिनी पड़ी हैं।'

इस बात को सुनते ही पर्वतेश्वर दिङ्मूढ़ हो गए। उन सबकी आँखों में चमक उठी। उनके नयनों में सुवर्ण शैल तैरन लगे। आचार्य को इनकी आँखों में एक दुर्धर्ष अदम्य तृष्णा के दर्शन हो रहे थे। आचार्य को इन पर्वतीय आँखों में समतल प्रजा के अतुल वैभव की ईर्ष्या प्रतिबिम्बित लग रही थी, ऐसे तो ये नृपति तो थे नाममात्र के ही। ये तो एक रूप से तस्कर लुटेरे थे। ये अपहरण पर ही विश्वास रखते थे। विनाश और सर्जन दोनों की इन लोगों में अपूर्व क्षमता थी,

परन्तु परम्परागत तो इनमें विनाश शक्ति ही रम रही थी। जब कभी सर्जन की वेला आती, तो ये परस्पर ही कट मरते थे। सम्प्रति तो आचार्य इनमें उत्तेजना भरने जा रहे थे, वे बोले :

'हम उस अतुलित सुवर्ण को हस्तगत करने जा रहे हैं। किन्तु इसके मध्य में नन्द की सबल असंख्य सेना अन्तराय होकर खड़ी है। आप एकत्र होकर चलिए सुवर्ण प्राप्त करने के लिए। सौभाग्य से मगध के कण-कण से सुपरिचित सेनापति पुष्पगुप्त भी हैं आपके साथ। राजमहालयों की सुविज्ञ ये देवी भी अपने साथ हैं। कुछ बातें मैं भी जानता हूँ। अपने अन्य साथी भी हैं वहीं मगध में। आप लोग अपनी-अपनी सेनाएँ सज्जित कीजिए। एकत्र कर के शुभ वेला में यहाँ से आगे प्रस्थान करें।'

पर्वतेश्वर एक दूसरे का मुंह देखते रहे। प्रत्येक कोई भी यह नहीं चाहता था कि वह अपनी सेना सर्वप्रथम आगे बढ़ाए, संगठित होने की बात उठते ही सब एक-दूसरे पर अविश्वास करने लगे।

'पौरवराज पहल करें!' आम्भि ने कहा।

'आम्भिराज! पहल तो आपको करनी चाहिए!' पौरव ने कहा।

आचार्य को लगा कि ये लोग पुनः परस्पर भिड़कर छिन्न-भिन्न हो जाएँगे। अतः वे शीघ्रता में बोल पड़े। 'पर्वतेश्वरो! आप लोगों को स्वयं की सुरक्षा के लिए अभी पहल करने की आवश्यकता नहीं है। बस पर्याप्त होगा कि जैसे मैं कहूँ, वैसे ही अपने निर्वाचित सैनिकों को यहाँ पर भेज दीजिए। हम विजयी बनते जाएँ तो आप भी अपने-अपने सैनिकों को भेजते जाएँ। इसी प्रकार हम आगे बढ़ते रहेंगे। मगध का साम्राज्य महान् है, हमें तो पृथक्-पृथक् होकर ही प्रगति करनी होगी। उसके आक्रमण की प्रतीक्षा करने जाएँगे तो, एक साथ ही अपने ऊपर आक्रमण कर बैठेगा। प्रथम तो मगध की एक दिशा में पहल करनी होगी। अच्छा बताइये कौन आगे आ रहा है पहल करने के लिए?'

तेजस्वी मलयकेतु बोला: 'अच्छा तो मैं पहल करता हूँ, मैं अपनी सेना लेकर आता हूँ!'

'मैं भी......' अभिसार बोला।

'और मैं भी.......' शशिगुप्त ने कहा।

'और मैं भी—मेरे सिर पर संकट है, तो भी आम्भिनरेश ने रह रहकर कहा। अब तो सब के सब स्पर्धा में पड़ गये कि कोई भी सेना प्रेषण में पीछे न रह जाए।

आचार्य मन ही मन में विचार करते रहे कि जितना समय इन पर्वतेश्वरों की सेनाओं के संगठन में नष्ट होता रहेगा, इतने में तो मगध को शक्तिशालिनी-सेनाएँ पञ्च सिन्धु प्रदेश पर आक्रमण भी कर बैठेंगी। अतएव आचार्य तो अविलम्ब ही यथा प्राप्त साधन-सामग्री से आगे बढ़ने की आकांक्षा तो मूर्तिमन्त करना चाहते थे।

वे बोले : 'बस, अब हम एक निश्चित शुभ मुहूर्त में आगे बढ़ने का निश्चय करते हैं। आपको सन्देश मिलेगा। आप प्रतीक्षा करें, पूर्ण प्रस्तुत रहें। जो भी सम्मिलित होंगे, उन्हीं को साथ लेकर हमें आगे बढ़ जाना है। विजय तो निश्चित है।'

कुछ समय के पश्चात् सभी पर्वतेश्वर वहाँ से प्रस्थान करने लगे। और आचार्य भी अपनी पर्णकुटी में जा विराजे।

समस्त योजना को सांगोपांग पूर्ण करने के लिए, इस स्वप्न शिल्पी को अपने सबल, सक्षम मन के सिवाय और कोई संगी-साथी मिलने वाला न था। अतः आचार्य एकान्त में उसी मित्र से वार्ताविमर्श करने में तल्लीन हो गए।

आचार्य की दृष्टि से बाहर कुछ भी न था। इन पर्वतेश्वरों से जयघोष तो बुलवाया था, तक्षशिला के संस्कृति धाम के वायु मण्डल में स्व..न्त्रता समर की घोषणा ने इन्द्रधनुष-सा रंग प्रकट किया था, मगध के विरोध में रण ध्वजा तो फहरा चुकी थी, परन्तु वास्तविक कार्य तो अभी शेष ही था। स्वप्नद्रष्टा ने स्वप्न तो देखा था, किन्तु शिल्पियों को कार्य संलग्न करना अभी शेष था।